कालिदास के ग्रन्थों पर आधारित

तत्कालीन भारतीय संस्कृति

डॉ गायत्री वर्मा

एम ए (हिन्दी) एम ए (संस्कृत) पी एच-डी

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

वाराणसी-1

RASHTRAPATI BHAVAN,
NEW DELHI-4.
राष्ट्रपति भवन,
नई दिल्ली-4।
अप्रैल १४, १९६२
[illegible]

प्रिय श्रीमती गायत्री देवी

आप अपने शोध प्रबन्ध की प्रति मेरे पास छोड़ गई थीं। पुस्तक तो इतनी बड़ी है कि चाहने पर भी इसे पूरा पढ़ पाना मेरे लिये बड़ा कठिन होगा। इसीलिये इधर उधर कुछ पन्नों को उलट पुलट कर देख गया। इसे देखने से यह तो स्पष्ट है कि आपने इसके लिखने में बड़ी ही परिश्रम किया है और एक नवीन दृष्टिकोण से कालीदास के ग्रन्थों का अध्ययन किया है। इस अध्ययन के फल स्वरूप उस युग की भारतीय संस्कृति का स्वरूप इस युग के सामने आ सका। हमारी प्राचीन संस्कृति महान् थी और कालिदास जैसे महान साहित्यकार ने उसे अपने साहित्य में पिरोया ही नहीं अपनी लेखनी की कला और कौशल से उसे भव्य रूप देकर चिरस्थायी भी बना दिया। आपने उसी साहित्य के आधार पर भारतीय संस्कृति का चित्र अंकित करके हिन्दी साहित्य की बड़ी सेवा की है। आपका यह प्रयत्न प्रशंसनीय है।

पोथियां अलग डाक से भेजी जा रही हैं।

आपका
राजेन्द्र प्रसाद

डॉ० (श्रीमती) गायत्री देवी वर्मा,
ऑनरेरी मजिस्ट्रेट पो० बॉक्स नं० ११,
छिन्दवाड़ा (मध्यप्रदेश)

लेखिका डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को ग्रन्थ अर्पित करते हुए ।

जिनकी अनुकम्पा से आज

देव भाषा विशेष गरिमामयी है

उस राष्ट्र के कर्णधार

श्री राजेन्द्र प्रसाद जी

के

कर-कमलों में सादर समर्पित

—गायत्री वर्मा

भूमिका

इस ग्रन्थ ने सांस्कृतिक अध्ययन-साहित्य में नवीन परम्परा की सृष्टि की है। इस पुस्तक में संस्कृति को ही केन्द्र बनाकर सम्पूर्ण वस्तुओं पर प्रकाश डाला गया है। संस्कृति तथा शिक्षा संस्कृति तथा कला संस्कृति तथा सभ्यता एवं संस्कृति का क्षेत्र आदि सभी विषयों का सर्वांगीण विवेचन करने के बाद ही तत्कालीन भारत का सांस्कृतिक अध्ययन पूर्ण हुआ है।

वर्णव्यवस्था आश्रम और संस्कार प्राचीन संस्कृति के आधारभूत स्तम्भ थे। परन्तु उस विशिष्ट समय तक आते-आते इनमें क्या-क्या परिवर्तन आ गये थे और उनका तत्कालीन सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा था यह दृष्टिकोण अभी तक परम्परा के द्वारा लिये गये विषयों की सीमा एवं परिधि के बाहर था।

विवाह का उद्देश्य और विवाह के प्रकार कह कर ही अब तक के विद्वान् अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते थे। कुछ एक-दो साहसी तथा सूक्ष्म अध्ययन करने के शौकीन मनीषियों ने परम्परा के अतिरिक्त वरवधू का चुनाव उनके गुण आदि कुछ उपविषय जोड़े। परन्तु अभी भी विवाह में प्रेम का स्थान प्रेम और सौन्दर्य प्रेम और आध्यात्मिकता प्रेम के अंग—शारीरिक अभिव्यक्तीकरण प्रेम-पत्र आदि की महत्ता पर किसी का ध्यान नहीं गया था। कौतुक-गृह और काम-क्रीड़ा तो घोर निर्लज्जता का विषय समझ कर साहित्य के अन्तर्गत लेने के लिए कभी किसी ने साहस ही नहीं किया था। यदि साहित्य में एक-दो शब्द कह कर किसी ने निर्लज्जता की चादर ओढ़ी भी तो सांस्कृतिक अध्ययन में इसको बिलकुल बाहर ही रक्खा गया।

इसी प्रकार दाम्पत्य-जीवन तथा उसके आदर्श एवं व्यावहारिक रूप पर किसी ने दृष्टिपात नहीं किया था। नारी-जीवन की सांगोपांग विवेचना भी अभी इस परम्परा में नहीं आयी थी। यह नवीन दृष्टिकोण इसकी अपनी विशेषता है।

जीवन की आवश्यकताओं में सबसे प्रथम खान-पान है, तत्पश्चात् सौन्दर्य वृद्धि। नाना प्रकार के केश-विन्यास केश-प्रसाधन अलंकार आदि पर भी मोती-चन्द्रजी ने अपनी लेखनी उठायी। श्री भगवत्शरण जी ने भी नाना प्रकार की वेश-भूषाएँ अभिव्यक्त कीं। परन्तु सौन्दर्य-प्रतिष्ठा स्त्री-सौन्दर्य पुरुष-सौन्दर्य सौन्दर्य की परिभाषा तत्व तथा प्रयोजन इस प्रबन्ध की प्रमुख नवीनता है। पहले मनीषियों के लिये गये विषयों में भी और सूक्ष्मता लाने का प्रयत्न इसकी दूसरी विशेषता है। पुष्पाभरण को अभी तक स्थान नहीं मिला था। प्रत्येक अंग पर कौन-कौन से पुष्प प्रयुक्त किये जाते थे और किस प्रकार, यह इसकी तीसरी विशेषता है।

सामाजिक जीवन रीति-रिवाज तथा आचार-व्यवहार सांस्कृतिक अध्ययन का मूल है। सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के पाँच भाग हैं। पारिवारिक जीवन, राजकीय जीवन, स्वास्थ्य—रोग तथा चिकित्सा, उत्सव और विनोद, आर्थिक जीवन ये पाँच शृंखलाएँ कैसे एक-दूसरे से जुड़कर सामाजिक जीवन को पूर्ण कर देती हैं—यह इसका सौन्दर्य है। स्वास्थ्य से उत्सव तथा विनोद का घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्वस्थ शरीर उत्सवप्रिय होता है और विनोद उसके स्वास्थ्य को बनाये रखता है। प्रकृति के आधार पर मनाये जाने वाले उत्सव तथा जीवन के उत्सव दोनों से ही मानव का आन्तरिक सम्बन्ध है। प्रकृति के सौन्दर्य से मानव की आत्मा झूम उठती है और जीवन की घटनाओं का सौरभ उसके शरीर को हर्ष से विभोर कर देता है। उत्सव और विनोद क्रीड़ा का इतना सूक्ष्म और सरस वर्णन अभी तक साहित्य में उपेक्षित ही रहा था। संस्कृति तथा सामाजिक व्यवस्था का विशेष परिचायक नैतिकता है। नैतिकता का आदर्श एवं व्यावहारिक रूप जीवन में उच्छृंखलता नैतिकता के अंग हैं। सब मिलकर ही जीवन को सर्वांगीण बनाते हैं।

मानव की कलाप्रियता स्वाभाविक है। प्रत्येक वस्तु को सौन्दर्य देने की चेष्टा नैसर्गिक है। कलाओं का दूसरा नाम ही साहित्य है। कला से ही संस्कृति का क्षेत्र उर्वर होता है। अतः इस अंग पर विशेष आलोचनात्मक दृष्टि डाली गयी है। काव्य का मुख्य अंग नाट्यकला है। संगीत और नाट्यकला में बारीक-से-बारीक वस्तु को भी अति सावधानी से निकाल कर नेत्रों के सम्मुख लाने का प्रयत्न इसकी नवीन दिशा है।

यहाँ विषय तथा वस्तु में नवीनता है, तो कहीं प्रणाली में मौलिकता। संस्कृति में सबसे बड़ा हाथ शिक्षा का है। इसमें शिक्षा-सम्बन्धी सभी विषयों का विभाजन और उसकी विशद विवेचना लेखनविधि के सौन्दर्य एवं कुशलता का परिचायक है। आधुनिक शिक्षा तथा पाठ्यक्रम, शिक्षक, विद्यार्थी और शिक्षण-पद्धति इन तीन के अन्तर्गत समझी जाती है। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए तत्कालीन शिक्षा पर प्रकाश डाला गया है।

इसी प्रकार दर्शन तथा धर्म जीवन के तत्पश्चात् समाज तथा संस्कृति के अंग बन जाते हैं।

अतः संस्कृति इस प्रबन्ध का मूल उद्देश्य है। इस दृष्टिकोण का निर्वाह करते हुए एक ओर यह साहित्य का कोष भरती है, दूसरी ओर इतिहास की रेखा छूती है। एक ओर सांस्कृतिक इतिहास की जलधारा बहती है, दूसरी ओर समाज-शास्त्र का विस्तृत मदान दृष्टिगत होता है।

यह धारा नवीन है, अतः प्रयास भी मौलिक है।

जबलपुर

—गोविन्ददास

दो शब्द

जीवन की उमंग में मेरा एक ध्येय था—भगवती भारती की आराधना। उसमें मैंने अपना तन-मन-धन सभी उत्सर्ग कर दिया था। माँ भारती कभी रूठती कभी अनुकूल होती और मैं बढ़ती-उतराती उनकी ओर ही बढ़ती जाती। कभी थक कर हताश होती और थककर बैठ जाती तो मेरे स्नेही पिता आश्वासन देकर आगे बढ़ाते। फलतः मेरी साधना सफल हुई और यह ग्रन्थ पूरा हुआ।

इसका श्रेय मुझे नहीं। मेरे सभी सहायकों ने यथासमय मुझे बल दिया अन्यथा नारी की अपनी विवशताएँ और सीमाएँ हैं जिनके बन्धन और शृंखला में जकड़ी आगे बढ़ना चाहती हुई भी वह कहाँ समर्थ हो पाती है।

प्रस्तुत पुस्तक लिखने का कार्य संस्कृत अंग्रेजी एवं हिन्दी के आचार्य प्रवर स्वर्गीय श्री भोलानाथ जी शर्मा के निरीक्षण में सम्पन्न हुआ है। उनके सामयिक निर्देशों ने ही मार्ग-प्रदर्शन किया और वस्तुतः यह सब उन्हीं की सहायता एवं आशीर्वाद का फल है। इन तथ्यों के संकलन में श्री वासुदेव शरण अग्रवाल की मैं चिर ऋणी रहूँगी जिन्होंने अपने अमूल्य समय में से मुझे भी कुछ अंश दिया और सहायतार्थ अपनी निजी पुस्तकों को भी देने में कभी संकोच नहीं किया। मेरठ कालेज के श्री धर्मेन्द्र शास्त्री को विस्मृत करना तो असम्भव है। अलीगढ़ विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के रीडर श्री रामसुरेश त्रिपाठी जी ने समय-असमय जब कभी मुझे कठिनाई हुई, अपना समस्त आवश्यक कार्य एक ओर कर, मेरी सदा पुस्तकों तथा वादविवाद द्वारा जितनी सहायता की उसके लिए मैं इतनी कृतज्ञ हूँ कि धन्यवाद के दो शब्द सहस्र बार भी कहूँ तब भी उऋण नहीं हो पाऊँगी। वस्तुतः कवि की सौन्दर्य प्रतिष्ठा का सुझाव उनका ही दिया हुआ है। उनकी सहायता सौजन्यता एवं विद्वत्ता सराहनीय है।

अन्त में मैं अपने उन निकटस्थ व्यक्तियों को धन्यवाद देती हूँ जिनके बिना यह कार्य प्रारम्भ ही न होता। पंडित रामशरण त्रिपाठी जी ने मुझे देववाणी की शिक्षा दी और मुझे इस योग्य बनाया कि मैं कवि कालिदास के सौन्दर्य को समझ सकूँ। स्वर्गीय श्री चन्द्रशेखर पाण्डेय (प्रोफेसर सनातन धर्म कालेज कानपुर) ने जब मैं एम ए की छात्रा थी तब इस विषय पर अध्ययन करने की प्रेरणा दी थी। उदार पिता श्री कृष्ण कन्हैया लाल जी ने अपनी न मालूम कितनी आवश्यकताओं को एक ओर रख न मालूम किन-किन आवश्यकताओं का उत्सर्ग कर, मेरी पढ़ने की उमंग को पूरा किया। मेरे साथ-साथ और मेरे बिना भी जिन्होंने विश्वविद्यालयों

के चक्कर काटे, पुस्तकालयों में जा-जा कर पुस्तकों में से मेरे लिए नोट्स तैयार किये। मेरी स्नेहिनी माँ ने मुझे भार तथा उत्तरदायित्व से मुक्त रख मुझे अध्ययन के लिए समय दिया। भाई और बहिनों ने सामग्री जुटाने में मदद की और मेरे पति श्री भारत प्रसाद जी ने विवाह के पश्चात् मुझे एक वर्ष तक अध्ययन करने तथा इस ग्रन्थ की समाप्ति के लिए अनुमति दी। मैं इन सबकी ही अति अनुगृहीत हूँ तथा सदा रहूँगी।

इस ग्रन्थ के विषय में कुछ कहने का मेरा साहस नहीं। श्री सेठ गोविन्द दास जी ने जो कहा उसको भी सत्य मानने में मुझे अति संकोच होता है। उनके मूल्यांकन से मैं कभी-कभी भरमा उठती हूँ कि कहीं यह अतिरेक तो नहीं। उनको मैं धन्यवाद देने का साहस नहीं करती—मुझमें इतनी योग्यता नहीं। केवल प्रणाम भर करना चाहती हूँ, यही वे स्वीकार कर लें।

राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद सब के लिए पूज्य रहे। आचार्य, गुरु, मार्गदर्शक, सलाहकार, पिता उनके समस्त रूपों से संसार परिचित है। उनकी महानता से प्रभावित होकर ही उनको अपना ग्रन्थ समर्पण करने की आकांक्षा हुई। उनके निकट दर्शन भी इसी बहाने हुए। वह क्षण मेरे जीवन का अविस्मरणीय अंग बन गया।

आधुनिक काल में प्रतिदिन भारतीय संस्कृति और सामाजिक इतिहास का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। परन्तु इस विषय पर जो पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं वे प्रायः सामान्य से ढंग पर लिखी जा रही हैं। प्रायः अधिक विश्वसनीय भी नहीं हैं। भारतीय संस्कृति का सच्चा स्वरूप हमारे सम्मुख तब तक स्पष्ट नहीं होगा जब तक संस्कृत-साहित्य के प्रत्येक युग और प्रत्येक महान् लेखक की रचनाओं का विस्तृत एवं ब्योरेवार सामाजिक तथा सांस्कृतिक अध्ययन न हो जाय। प्रस्तुत प्रयत्न भी इसी दिशा में किया हुआ उद्योग है।

कवि कालिदास पर अब तक श्री मिराशी, अरविन्द, मामा, एस० एस० भावे, रामस्वामी शास्त्री, चन्द्रबली पांडे आदि अनेक विद्वानों का साहित्य प्रकाशित हो चुका है। परन्तु सबकी अपनी-अपनी मान्यताएँ हैं और अपना-अपना दृष्टिकोण। आलोचनात्मक दृष्टि से श्री भगवत्शरण उपाध्याय का 'इंडिया इन कालिदास' ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ है। अवश्य ही उसमें अपूर्व प्रतिभा एवं विद्वत्ता है। इन सभी ग्रन्थों के अध्ययन तथा मनन के पश्चात् प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना हुई है। प्रयत्न यही रहा कि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, नवीन-से-नवीन तथा मौलिक-से-मौलिक तथ्यों को प्रकाश में लाया जाय।

अधिकांश में पूर्ण उद्धरण ही पादटिप्पणियों में दिए गए हैं, परन्तु जहाँ-जहाँ पादटिप्पणी के बहुत लम्बा होने का भय है वहाँ श्लोक नम्बर ही लिख दिए गए

विषय-सूची

मानवीय जीवन के विभिन्न उत्सव—पुत्रजन्मोत्सव विवाहोत्सव राज्याभिषेक का उत्सव राजा के बाहर से आने के बाद का उत्सव गृहप्रवेश-उत्सव पानभूमि-रचना।

धार्मिक उत्सव—पुष्कुत तिथि विशेष पर संगम पर स्नान तीर्थयात्रा आदि।

विनोद—जलक्रीड़ा मदिरापान मृगया द्यूतक्रीड़ा लोकनृत्य एवं संगीत चित्रकला कथा-आख्यायिका क्रीड़ापक्षी क्रीड़ार्थैल और उद्यान विहार, कन्याओं की क्रीड़ाएँ—कन्दुक क्रीड़ा पुत्तलिका मणियों को बालू में छिपाने का खेल सिकता पर्वत केलि। युवती स्त्रियों की क्रीड़ाएँ—चाकमञ्जिका सहकार भञ्जिका आदि। वृक्षों का विवाह।

(५) *आर्थिक जीवन*—व्यावसायिक कम व्यापार मार्ग आयात-निर्यात की वस्तुएँ, मुद्राएँ तौल और पैमाने धन का एकत्रीकरण।

सामाजिक रीति रिवाज आचार तथा व्यवहार—प्रणाम करने की विधि आशीर्वाद देने की प्रणाली अतिथि-पूजा अतिथि-स्वागत की विधि अन्य रीतिरिवाज।

नैतिकता—*नैतिकता का आदर्श व्यावहारिक स्वरूप*—जीवन में उच्छृङ्खलता और खोखलापन आदि।

ललितकला की परिभाषा ललितकला का विभाजन।

(१) काव्यकला नाट्यकला—महत्त्व नाटक की उपकथा और समाज के साथ सम्बन्ध नाट्य कला का विकास—सैद्धान्तिक पक्ष नाट्यकला के तत्त्व अंग तथा पारिभाषिक शब्द—रंग प्रेक्षागृह, नेपथ्य तिरस्करिणी रंगमंचीय परिधान रंगमंच की तैयारी भूमिका अभिनय संगीत हास्य रिहर्सल।

(२) संगीत कला—संगीत की उत्पत्ति व्याकरण के साथ सम्बन्ध नाट्यशास्त्र के साथ घनिष्ठता संगीत का विभाजन।

(क) गीत—गीत के प्रकार परिभाषा और महत्ता संगीत और गीत में अन्तर, संगीत के पारिभाषिक शब्द—नाद स्वर, ग्राम मूर्च्छना, तान लय ताल उपमान वनपरिचय आयती और मात्रा

पाणम्यास त्रिपंचिका धावाय सत्त रामकेशिक सारंग कश्चित आदि।

(ब) वाद्य संगीत—वाद्य यन्त्र के प्रकार तन्त्रीगत वाद्य—वीणा के प्रकार—परिवादिनी वल्लकी एवोल्पियन हाप। वीणा बजाने की विधि सुषिर अर्थात् रन्ध्रयुक्त वाद्य—वेणु शंख तूर्य एवोल्पियन फ्लूट अवनद्ध वाद्य—मुरज पुष्कर, मृदंग दुन्दुभि पटह, मर्दल आदि। पुष्कर के सम्बन्ध में विभिन्न मत। घनवाद्य—घण्टा।

(स) नृत्यकला—नृत्य के तीन भेद—नृत्त नृत्य और नाट्य। नृत्य और नृत्त में भेद। नृत्य के प्रकार—चामर नृत्य छलिकादि नृत्य और अभिनय। संगीत का उद्देश्य महत्ता और प्रचार।

(३) चित्रकला—महत्ता कला में इसका स्थान चित्रकला के उपकरण—तूलिका वर्तिका धातुराग वर्ण आदि। चित्र के प्रकार—सामूहिक चित्र व्यक्तिगत चित्र वस्तु चित्र। अनुकृति तथा स्मरण शक्ति से चित्र खींचना सफलता चित्रकला का उद्देश्य।

(४) मूर्तिकला—उत्कीर्ण मूर्तियाँ मृण्मय मूर्तियाँ—देवमूर्तियों की विशेषताएँ—प्रभामण्डल शंख पद्म कपालाभरणा काली कौस्तुभ रचित लक्ष्मी प्रसाधिका कामदेव यक्ष आदि की मूर्तियाँ शिव और बुद्ध की समानता बोधिसत्वादि के चित्र केश-विन्यास की विभिन्न प्रणालियाँ।

(५) वास्तुकला अथवा स्थापत्यकला—नगर राजपथ राजप्रासाद प्रासाद के प्रकार—विमान प्रतिच्छन्द मणिहर्म्य सैंध प्रतिच्छंद देवच्छन्द समुद्रगृह, सौध और हर्म्य गृह की रूपरेखा तोरण अलिन्द अट्ट और तल्प वातायन आँगन बालनिर्माण स्नानागार, अक्षवाटा सोपान वासयष्टि और स्तम्भ।

अन्य इमारतें—विवाहमण्डप चतुष्क धारागृह चतुःशाला बलशाला प्रतिमागृह। उपवन और उद्यान दीर्घिका वापी और कूप क्रीड़ा शैल जलनिर्झर देवालय और स्तूप गुफाएँ, स्तम्भ।

११ शिक्षा ३७९-४१७

शिक्षा केन्द्र—आश्रम राजाओं के प्रासाद विहार। शिक्षा का उद्देश्य और आदर्श आदर्श शिक्षक गुरु का उत्तरदायित्व शिक्षक का समाज में स्थान शिक्षक वर्ग—गुरु का ज्ञान स्वभाव वेतन।

संकेत-सूची

ऋग्	=	ऋग्वेद
तै ब्रा	=	तैत्तिरीय ब्राह्मण
रघु	=	रघुवंश
अभि	=	अभिज्ञानशाकुन्तल
कुमार	=	कुमारसम्भव
तै सं	=	तैत्तिरीय संहिता
आ ध सू	=	आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आश्व	=	आश्वलायन गृह्यसूत्र
माल	=	मालविकाग्निमित्र
विक्रम	=	विक्रमोर्वशीय
पूर्वमेघ	=	मेघदूत प्रथम भाग
उत्तरमेघ	=	मेघदूत द्वितीय भाग
ऋतु	=	ऋतुसंहार
पृ	=	पृष्ठ
Fig.	=	Figure
p.	=	Page
vol	=	volume
ed.	=	edition
pt.	=	Part

नोट—समस्त शब्दों में पहले सर्ग अथवा अंक का नम्बर है; तत्पश्चात् श्लोक का नम्बर। जैसे—रघु ५।१४ का अर्थ रघुवंश के पाँचवें सर्ग का चौदहवाँ श्लोक होगा।

प्रथम अध्याय

संस्कृति

सम् उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से भूषण अर्थ में 'सुट्' का आगम करके 'क्तिन्' प्रत्यय करने से संस्कृति शब्द बनता है। इसका अर्थ होता है, भूषणभूत सम्यक् कृति। अतः कारणात् भूषणभूत सम्यक् कृति या चेष्टा ही संस्कृति कही जा सकती है। संस्कृति का क्षेत्र भी अतः भूषणभूत सम्यक् कृतियों का सम्पूर्ण रूप ही है।

पशु, पक्षी, कीट पतंगादि भोग योनियों में जीव की चेष्टाएँ स्वाभाविक होने के कारण उनमें सम्यक्-असम्यक् का भेद नहीं किया जा सकता। परन्तु मनुष्य योनि में जीव कर्म करने में स्वतन्त्र माना गया है। अतः मनुष्य सम्यक्-असम्यक् दोनों प्रकार की चेष्टाएँ करने में समर्थ है। अतः मनुष्य की भूषणभूत सम्यक् कृति या चेष्टा ही संस्कृति है।

भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ वे ही हैं जिनके द्वारा मनुष्य अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उन्नति करता हुआ सुख शान्ति को प्राप्त करे। दूसरे शब्दों में आधिभौतिक आधिदैविक एवं आध्यात्मिक उन्नति की सहायक व अनुकूल चेष्टाएँ भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ हैं। अथवा मनुष्य की वैयक्तिक सामाजिक आर्थिक राजनैतिक धार्मिक—समस्त क्षेत्रों में लौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदय की चेष्टा ही संस्कृति है।

प्राकृतिक विकास के अनुसार संस्कार की हुई पद्धति 'संस्कृति' है। संस्कृति मानव की जीवन शक्ति प्रगतिशील साधनाओं की विमल विभूति राष्ट्रीय आदर्श की गौरवमयी मर्यादा व स्वतन्त्रता की वास्तविक प्रतिष्ठा है। श्री राजगोपालाचारी का कथन है कि किसी भी जाति अथवा राष्ट्र के शिष्ट पुरुषों में विचार वाणी एवं क्रिया का जो रूप व्याप्त रहता है, उसी का नाम संस्कृति है।

श्री सम्पूर्णानन्द के मतानुसार संस्कृति समष्टिगत समाज अनुभवों से उत्पन्न मूर्त पदार्थ है। एक ही जलवायु में पले एक ही राजनैतिक सामाजिक और आर्थिक सुख-दुःख को भोगते हुए लोगों के चित्तों का झुकाव प्रायः एक ही-सा होगा। एक-सी अनुभूतियों से आचार-विचार भी एक होंगे। अतः संस्कृति वह दृष्टिकोण है जिससे कोई समुदाय-विशेष जीवन की समस्याओं पर दृष्टि निक्षेप करता है। जो आज की अनुभूति है वह कल संस्कार के रूप में अवशिष्ट रह

जायेगी। अक्खी पत्थर की तरह संस्कृति एक निश्चल प्रवाह नहीं है। यह एक बहती हुई धारा है जिसमें सदा कुछ-न-कुछ नवीन अंश जुड़ता रहता है और कुछ विलुप्त भी होता रहता है, साथ ही कुछ किसी और रूप में भी परिवर्तित होता रहता है।

निरन्तर प्रगतिशील मानव-जीवन प्रकृति और मानव-समाज के भिन्न-भिन्न *वर्तमान प्रभावों व संस्कारों से संस्कृत व प्रभावित होता रहता है* उन सबके सामूहिक पदार्थ को ही संस्कृति कहा जाता है। मानव का प्रत्येक विचार प्रत्येक कृति संस्कृति नहीं है पर जिन कार्यों से किसी देश विशेष के समस्त समाज पर कोई अमिट छाप पड़े वही स्थायी प्रभाव ही संस्कृति है। संस्कृति वह आधारशिला है जिसके माध्यम से जाति समाज व देश का विशाल भव्य प्रासाद निर्मित होता है।

संस्कृति के लिए पाश्चात्य साहित्य में 'कल्चर' शब्द का प्रयोग होता है। भारतीय वाङ्मय और पाश्चात्य साहित्य में 'संस्कृति' व 'कल्चर' शब्द की परिभाषा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। मूल भाव वही है, अन्तर है केवल कहने के ढंग में। श्री टी एस इलियट का कहना है कि कल्चर क्रिया एवं व्यापारों की समष्टि मात्र नहीं अपितु जीवन व्यतीत करने का विशेष प्रकार है[१]। यह स्वभावतः स्वतः उत्पन्न कोई पदार्थ नहीं अपितु उपार्जित तत्त्व है। अतः प्रत्येक देश प्रत्येक काल व प्रत्येक व्यक्ति तक की संस्कृति में भेद हो जाता है। अनेक व्यक्तियों से सम्मिलित आचार-विचार का विनिमय संस्कृति को सदा परिवर्तित करता रहता है।

'कल्चर' शब्द की विशद व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि—'कल्चर' शब्द से मेरा आशय एक स्थान में रहनेवाले विशेष व्यक्तियों के समुदाय के रहने के ढंग से है। उनके सामाजिक आचार-विचार, स्वभाव आदत रीति-रिवाज कला सबमें संस्कृति के दर्शन होते हैं। यद्यपि हम सुविधा के लिए इन सब गुणों व व्यापारों के समूह को 'कल्चर' कह देते हैं, पर वास्तविक रूप में यह 'कल्चर' नहीं बल्कि कल्चर के अंश हैं। जिस प्रकार शारीरिक अंगों का समूह मानव नहीं अपितु मानव इन सबके अतिरिक्त भी कुछ और है उसी प्रकार 'कल्चर' भी रीति रिवाज रहन-सहन कला धार्मिक विश्वास आदि बातों में सीमित नहीं हो सकती[२]।

---

१ Cultu e is not merely the sum of several activities but a way of life —Notes towards the Definition of Culture by T S. Eliot.

२ By culture I mean first of all the way of life of a particular people living together in ne place The culture is made visible in their arts, in their social system, in their habits and customs

श्री ई० बी० टायलर भी इसी मत के पक्षपाती हैं। उनके मतानुसार 'कल्चर' उस समष्टि को कहते हैं जिसमें ज्ञान विश्वास कला नैतिकता न्याय रीति रिवाज तथा प्रत्येक उपार्जित गुण है, जो मनुष्य समाज के एक सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है[1]।

एमर्सन किसी दूसरे को व्यथित न करने वाले आचार व्यवहार को संस्कृति कहते हैं। श्री मैथ्यू आर्नल्ड का मत है कि संस्कृति पूर्णता की ओर अग्रसर होने का मार्ग है। इसका माध्यम उन सब बातों का ज्ञान है जिनका हमारे साथ अधिक सम्बन्ध है। 'कल्चर' का उद्देश्य प्रकाश व कोमलता मधुरता की उत्पत्ति है। केवल इंजीनियर शिल्पकारों का निर्माण करने मात्र से कार्य समाप्त नहीं हो जाता। उनके मतानुसार 'कल्चर' मनुष्य को निराश एवं क्रोधी होने का अधिकार ही नहीं है[2]।

वास्तव में 'कल्चर' अथवा संस्कृति का बड़ा व्यापक अर्थ है। अतः किसी परिभाषा द्वारा इसको बाँधा नहीं जा सकता। यह सब कुछ है और इसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ है।

संस्कृति व धर्म—बहुत से विद्वानों में यह भ्रान्त मत फैला हुआ है कि धर्म और संस्कृति एक ही वस्तु के दो नाम हैं। संस्कृति में धर्म आ अवश्य जाता है, पर संस्कृति ही धर्म नहीं है। निस्संदेह धर्म का संस्कृति में

---

in their religion, but these things added together do not constitute the culture though we often speak for convenience as if they did. These things are simply the parts into which a culture can be anatomised as a human body can. But just as a man is something more than an assemblage of the various constituent parts of his body so a culture is more than assemblage of its arts, customs and religious beliefs.

Page 120 T.S. Eliot-Notes towards the Definition of Culture.

१ "Culture is that complex whole which includes knowledge belief art morals law customs and any other capabilities, and habits acquired by man as a member of Society.
—Taken from the book-Culture & Society—by Merrill & Eldredge

२ Culture and Society by G S Ghurye Ph. D Prof. and head of the deptt. of Sociology University of Bombay; Page 62.

जायेगी। लकड़ी पत्थर की तरह संस्कृति एक निश्चल पदार्थ नहीं है। यह एक बहती हुई धारा है, जिसमें सदा कुछ-न-कुछ नवीन अंश जुड़ता रहता है और कुछ विकृत भी होता रहता है, साथ ही कुछ किसी और रूप में भी परिवर्तित होता रहता है।

निरन्तर प्रगतिशील मानव-जीवन प्रकृति और मानव-समाज के भिन्न-भिन्न असंख्य प्रभावों व संस्कारों से संस्कृत व प्रभावित होता रहता है उन सबके सामूहिक प्रभाव को ही संस्कृति कहा जाता है। मानव का प्रत्येक विचार, प्रत्येक कृति संस्कृति नहीं है पर जिन कार्यों से किसी देश विशेष के समस्त समाज पर कोई अमिट छाप पड़े वही स्थायी प्रभाव ही संस्कृति है। संस्कृति वह आधारशिला है जिसके आश्रय से जाति समाज व देश का विशाल भव्य प्रासाद निर्मित होता है।

संस्कृति के लिए पाश्चात्य साहित्य में 'कल्चर' शब्द का प्रयोग होता है। भारतीय वाङ्मय और पाश्चात्य साहित्य में 'संस्कृति' व 'कल्चर' शब्द की परिभाषा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। मूल भाव वही है, अन्तर है केवल कहने के ढंग में। श्री टी एस इलियट का कहना है कि कल्चर क्रिया एवं व्यापारों की समष्टि मात्र नहीं अपितु जीवन व्यतीत करने का विशेष प्रकार है[१]। यह स्व भावगत स्वतः उत्पन्न कोई पदार्थ नहीं अपितु उपार्जित तथ्य है। अतः प्रत्येक देश प्रत्येक काल व प्रत्येक व्यक्ति तक की संस्कृति में भेद हो जाता है। अनेक व्यक्तियों से सम्मिलित आचार-विचार का विनिमय संस्कृति को सदा परिवर्तित करता रहता है।

'कल्चर' शब्द की विशद व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि—'कल्चर' शब्द से मेरा आशय एक स्थान में रहनेवाले विशेष व्यक्तियों के समुदाय के रहने के ढंग से है। उनके सामाजिक आचार-विचार, स्वभाव आदत रीति-रिवाज कला सबमें संस्कृति के दर्शन होते हैं। यद्यपि हम सुविधा के लिए इन सब गुणों व व्यापारों के समूह को 'कल्चर' कह देते हैं, पर वास्तविक रूप में यह 'कल्चर' नहीं बल्कि कल्चर के अंग हैं। जिस प्रकार शारीरिक अंगों का समूह मानव नहीं अपितु मानव इन सबके अतिरिक्त भी कुछ और है, उसी प्रकार कल्चर' भी रीति रिवाज रहन-सहन कला धार्मिक विश्वास आदि तत्वों में सीमित नहीं हो सकती[२]।

---

१ Culture is not merely the sum of several activities but a way of life —Notes towards the Definition of Culture by T.S. Eliot.

२ By culture I mean first of all the way of life of a particular people living together in one place The culture is made visible in their arts, in their social system in their habits and customs

श्री ई० बी० टायलर भी इसी मत के पक्षपाती हैं। उनके शब्दानुसार 'कल्चर उस समष्टि को कहते हैं जिसमें ज्ञान विश्वास कला नैतिकता न्याय रीति रिवाज तथा प्रत्येक उपार्जित गुण है, जो मनुष्य समाज के एक सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है'[१]।

एमर्सन किसी दूसरे को व्यथित न करने वाले आचार व्यवहार को संस्कृति कहते हैं। श्री मैथ्यू आर्नल्ड का मत है कि संस्कृति पूर्णता की ओर अग्रसर होने का नाम है। इसका माध्यम उन सब बातों का ज्ञान है जिनका हमारे साथ अधिक सम्बन्ध है। 'कल्चर' का उद्देश्य प्रकाश व कोमलता नम्रता की उत्पत्ति है। केवल इंजीनियर शिल्पकारों का निर्माण करने मात्र से कार्य समाप्त नहीं हो जाता। उनके मतानुसार 'कल्चर' मनुष्य को निराश एवं क्रोधी होने का अधिकार ही नहीं है[२]।

वास्तव में 'कल्चर' अथवा संस्कृति का बड़ा व्यापक अर्थ है। अतः किसी परिभाषा द्वारा इसको बाँधा नहीं जा सकता। यह सब कुछ है और इसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ है।

संस्कृति व धर्म—बहुत से विद्वानों में यह भ्रान्त मत फैला हुआ है कि धर्म और संस्कृति एक ही वस्तु के दो नाम हैं। संस्कृति में धर्म आ अवश्य जाता है, पर संस्कृति ही धर्म नहीं है। निस्सन्देह धर्म का संस्कृति में

---

in their religion, but these things added together do not constitute the culture though we often speak for convenience as if they did. These things are simply the parts into which a culture can be anatomised as a human body can. But just as a man is something more than an assemblage of the various constituent parts of his body so a culture is more than assemblage of its arts, customs and religious beliefs.

Page 120 T.S. Eliot-Notes towards the Definition of Culture.

१ "Culture is that complex whole which includes knowledge, belief art morals law customs and any other capabilities, and habits acquired by man as a member of Society.
—Taken from the book-Culture & Society—by Merril & Eldredge

२ Culture and Society by G S Ghurye Ph. D Prof and head of the deptt. of Sociology University of Bombay Page 62.

बहुत बड़ा हाथ है। धर्म ही मनुष्य को सदाचारी, दयालु, सहनशील, साहसी बनाता है और ये गुण ही मनुष्य को संस्कृत करते हैं। परन्तु फिर भी धर्म व संस्कृति पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं। चीन में बौद्ध, शिन्तो तथा मुसल्मान ये तीन प्रधान धर्म हैं परन्तु जाति सबकी एक है 'चीनी'। वहाँ का बौद्ध भी 'चाड पूइ मून' और शिन्तो भी 'पाड काउ चाड' तथा मुसलमान भी 'चाड चू रेंह'। अर्थात् संस्कृति सबकी एक है। भारत में रहने वाले मनुष्य किसी भी धर्म के मानने वाले हों पर संस्कृति में भिन्नता नहीं मिलती। धर्म केवल शास्त्र-सम्मत बातों का अनुमोदन करता है, पर संस्कृति में शास्त्र से अविरुद्ध लौकिकता व अलौकिकता दोनों ही हैं। संक्षेप में इसमें दोनों का ही अन्तर्भाव हो जाता है।

संस्कृति व शिक्षा—इसी प्रकार एक भ्रामक मत यह भी है कि संस्कृति का अर्थ शिक्षा है। परन्तु जो उच्च शिक्षित है, यह आवश्यक नहीं कि वह सुसंस्कृत भी हो। बड़े-बड़े शिक्षित व श्रीमान् खाने-पीने हँसने-बोलने आदि आचरण के साधारण सिद्धान्तों में बिल्कुल गँवार देखे जाते हैं। थोड़ा शिक्षित भी अति सुसंस्कृत हो सकता है।

संस्कृति व कला—बहुत-से विद्वान् कला को ही संस्कृति कहते हैं। अतः जिसको कला में जितनी अधिक निपुणता प्राप्त होती है वह उतना ही अधिक संस्कृत माना जाता है। उपरोक्त मतों की तरह यह भी अर्ध-सत्य ही है। बड़े से बड़ा कलाकार भी समस्त कलाओं में पारंगत नहीं होता। यही नहीं अधिकांश में कलाकार सबसे अधिक आचार-व्यवहार के सामान्य सिद्धान्तों से अनभिज्ञ देखे जाते हैं। एक बहुत अच्छा कवि व्यावहारिक जग में बड़ा अनैतिक हो सकता है। अतः कला संस्कृति नहीं अपितु उसका एक अंग है।

संस्कृति व सभ्यता—संस्कृति और सभ्यता में बहुत से मनुष्य अंतर नहीं देखते। सच तो यह है कि संस्कृति और सभ्यता दोनों शब्द इतने सम्बद्ध हैं कि इन दोनों का प्रायः एक ही अर्थ में व्यवहार होने लगा है। फिर भी इनमें अंतर है, यद्यपि है अति सूक्ष्म। सभ्यता शरीर के मनोविकारों की द्योतक है, जब संस्कृति आत्मा के अभ्युत्थान की प्रतीक है। संस्कृति आभ्यंतर व सभ्यता बाह्य तत्त्व है। प्रत्येक सभ्य व्यक्ति आवश्यक नहीं कि सुसंस्कृत भी हो।

सभ्यता शब्द 'सभ्य' शब्द से बना है। सभ्य का एक अर्थ सदस्य या सभासद् है। सदस्यता किसी सभा, समूह, अथवा समाज की होती है। अतः सभ्यता सामाजिक गुण है। साधारणतः हम सभ्य आदमी की सभ्यता का अन्दाज इस बात से लगाते हैं कि सभा या समाज में उसका उठना-बैठना, वेशभूषा, बात व्यवहार कैसा है? अतः हम उसकी बाह्य बातों पर अधिक ध्यान देते हैं।

—हम जिसे आधुनिक सभ्य 'जैंटिलमैन' कहते हैं उसमें आन्तरिक गुण हो भी सकते हैं होते भी हैं पर यह अनिवार्य नहीं है। सम्भव है, वह कुछ लिखा-पढ़ा न हो या उसकी शिक्षा केवल ज्ञान-वृद्धि की ही सहायक हो। सभ्य व्यक्ति प्रायः भौतिक उन्नति को सब्य मानता है। वह अपने स्वार्थ-साधन की ओर अधिक ध्यान देता है, दूसरे के कष्ट-निवारण की ओर नहीं। अतः सभ्य व्यक्तियों में रिश्वतखारी छोल-कपट वाक्चातुरी छल कपट धूर्तता बहुत अधिक हो सकती है। हाँ ये लोग अपने कृत्यों को इस प्रकार करते हैं कि साधारण मनुष्य की आँख में वह दोष सरलता से नहीं आता। पर इससे वस्तुस्थिति में अन्तर नहीं आता। बहुधा देखा जाता है कि रेल की यात्रा में सभ्य कहा जाने वाला व्यक्ति अपना बिस्तर लगा कर इतना स्थान घेर लेता है कि दूसरे को बैठने का स्थान नहीं मिलता। पर जब वह स्वयं गाड़ी में चढ़ता है तब किसी का बैठा रहना उसे सहन नहीं होता। इसी प्रकार जब यूरोपियन लोग अपने आपको भारत वासियों अथवा अफ्रीका के मनुष्यों से अधिक सभ्य समझते हैं तो उनके सामने त्याग क्षमा परोपकार आदि कोमल भावनाओं की तुलना का प्रश्न नहीं होता। सांसारिक साधन जिसके पास अधिक है, भौतिक अथवा शारीरिक शक्ति में जो बलीयस् है, वही सभ्य है। अतः स्पष्ट है कि सभ्यता का अर्थ बाहरी वैभव आचार-विचार, रहन-सहन प्रमुख है।

श्री सम्पूर्णानन्द के कथनानुसार संस्कृति मानसिक है, आन्तरिक है, सभ्यता बाह्य व भौतिक। संस्कृति को अपनाने में देर लगती है, पर सभ्यता की नकल की जा सकती है। अफ्रीका का आदिम निवासी कोट-पतलून पहन सकता है यूरोपियन ढंग के बँगलों में रह सकता है, फिर भी उसका सांस्कृतिक स्तर अवश्य वैसा नहीं हो सकता।

संक्षेप में संस्कृति में सभ्यता का अन्तर्भाव हो जाता है पर सभ्यता में संस्कृति का नहीं। संस्कार रूप में अवशिष्ट सभ्यता संस्कृति बन जाती है। संस्कृति की अभिव्यक्ति सभ्यता है।

संस्कृति का क्षेत्र—संस्कृति एक व्यापक शब्द है, जिसको दो-चार शब्दों में भली भाँति समझा नहीं जा सकता। प्रत्येक मनुष्य अपनी सूझ व बुद्धि के अनुसार इसको पृथक्-पृथक परिभाषा करता है परन्तु प्रत्येक परिभाषा इसके सम्पूर्ण क्षेत्र को अभिव्यक्त नहीं करती।

यही नहीं कालानुसार भी इसका अर्थ बदलता रहा है। आज वही संस्कृत समझा जाता है जो सामान्य रूप से आचार-विचार के सामाजिक नियमों से पूर्णतया अभिज्ञ हो तथा जो राजनीति के ऊपर भी अपने विचार व्यक्त कर सकता हो। धर्म की आजकल कोई आस्था नहीं।

परन्तु प्राचीन काल में धर्म संस्कृति का प्रधान अंग था। अतः जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म की महत्ता थी। आजकल की तरह आचार-विचार को प्रधानता ही अवश्य आती थी पर इस आचार-विचार का धर्मानुकूल होना भी आवश्यक था। भारतीय संस्कृति के आदर्श पाश्चात्य देशों की तरह धनपति नहीं अरण्यवासी ऋषि हैं जो त्याग को सर्वस्व का मूल मानते हैं। यहाँ एक करोड़पति असभ्य एवं असंस्कृत समझा जायेगा यदि उसने शास्त्रीय आचार का परित्याग कर दिया है, और एक लंगोटीधारी दरिद्र शिष्ट व सुसंस्कृत माना जाएगा यदि वह धार्मिक मर्यादा का पालन करता है। इसके ठोस उदाहरण महात्मा गांधी हैं जो अधनग्न इंग्लैंड में राजा तक से मिलने पहुँच गए थे। अतः सामाजिक संगठन में वर्ण-व्यवस्था आश्रमों में जीवन का विभाजन जीवन का गर्भाधान संस्कारों के द्वारा पवित्रीकरण विवाह व संतानोत्पत्ति में काम की अपेक्षा धर्म की प्रधानता गृहस्थ जीवन में पति-पत्नी का आदर्श कर्तव्य उत्तरदायित्व अतिथि-सत्कार नैतिकता का प्रश्न सब में यही मूल भावना अंकित थी।

यहाँ एक ओर धर्म जीवन को नानाविधि के रंगों से चित्रित करता रहा वहाँ दूसरी ओर शिक्षा इस सदाचार के मार्ग को प्रकाश देती रही। मनुष्य के व्यक्तित्व में उसकी वेश भूषा आदत स्वभाव मनोरंजन के साधन सामाजिक रीति-रिवाज में इस विशेष प्रकार की शिक्षा का बहुत बड़ा हाथ था। धर्मानुकूल शिक्षा देना गुरु का उद्देश्य था। शिक्षा का चरम लक्ष्य भौतिक उन्नति के साथ साथ आध्यात्मिक उन्नति था। अतः साहित्य दर्शन इतिहास प्रत्येक विषय महत्व शिक्षा का अंग था।

संस्कृति के मूल में यहाँ विवेक भक्ति अध्यात्म था वहाँ लोक की सौन्दर्य भावना भी थी। यह सौन्दर्य भावना कला का पर्यायवाची शब्द है। अथवा कला के द्वारा उत्पन्न मूल सौन्दर्य भावना से ही संस्कृति की काया पुष्ट होती है। ललित कलाओं का संस्कृति के साथ यही पुष्ट सम्बन्ध है व था।

अतः प्राचीन भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत सामाजिक संगठन में वर्ण-व्यवस्था आश्रमों में जीवन का विभाजन संस्कार विवाह, गृहस्थ जीवन खानपान वेशभूषा सामाजिक रीति-रिवाज नैतिकता ललित कलाएँ शिक्षा धर्म आदि की महत्ता है। आगे के अध्यायों में क्रमशः इसी दृष्टिकोण से कालिदास के आधार पर विचार किया जायेगा।

r

संक्षेप में प्रारम्भ में वर्ण विभाग दो थे आर्य व दास। दोनों में रंग व संस्कृति का भेद था। जब आर्यों ने दस्युओं को पराजित किया तो वेही शूद्र कहलाये। धीरे-धीरे विद्वत्ता के कारण ब्राह्मणों ने क्षत्रियों और वैश्यों पर आधिपत्य जमा लिया। संस्कृति के विकास से नए कला कौशल व पेशे आए। इन्हीं के अनुसार व परस्पर सामाजिक मान्यता में नीचे व्यक्तियों के साथ विवाह के कारण तरह-तरह की जातियाँ उत्पन्न हुईं।

कालिदास और वर्ण-व्यवस्था—कालिदास तक आते-आते प्राचीन वर्ण परम्परा बहुत कुछ शिथिल हो गई थी। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र के साथ-साथ वे धीवर, वणिक्, शास्त्रोपजीवी [illegible] [illegible] [illegible] आदि का भी उल्लेख करते हैं। अर्थात् प्राचीन वर्णव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई थी और बहुत-सी उपजातियाँ सम्मुख आ गई थीं। परन्तु शास्त्र रूप में वर्ण-चतुष्टय की परम्परा अवश्य प्रचलित थी। कवि ने चतुर्वर्ण[1] वर्ण चतुष्टय[2] वर्ण[3] वर्णाभिमाना[4] आदि शब्दों का प्रयोग किया है। यही नहीं परम्परानुसार वर्ण और आश्रम की रक्षा का भार राजा पर था इसको भी वे नहीं भूले[5]। धार्मिक आचरण एवं उचित रीति से पवित्रता से पालन करें इसका उत्तरदायित्व राजा पर था[6]। कवि के सम्मुख आदर्श अभी भी प्राचीन था। वे रघुवंशी राजाओं को ही आदर्श समझते थे जो स्वयं भी वर्णाश्रम के पालन करने वाले हों और दूसरों से भी वेही नियम पालन करवाएँ।

---

१ चातुर्वर्ण्यमयो लोकस्त्वत्तः सर्वं चतुर्मुखात्।—रघु १।२२
२ पर्यस्तपोराशिसमे चिरोढ्यमात्मोद्भवं वर्णचतुष्टयस्य।—रघु १८।१२
३ इत्याप्तवचनाद्रामो विनेष्यन्वर्णविक्रियाम्।—रघु० १५।४८
यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम्
तपःषड्भागमक्षय्यं ददात्यारण्यका हि नः।—अभि २।१३
न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते।—अभि ५।१
४ वर्णाश्रमाणां गुरवे स वर्णी विचक्षणः प्रस्तुतमाचचक्षे।—रघु ५।१९
५ देखिये पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी ३ में रघु १५।४८ देखिये पादटिप्पणी २ रघु १८।१२
और [illegible] [illegible]वर्णाभिमाना
रक्षिता प्राचीन मुक्तासनो व प्रतिष्ठाम्बनि।—अभि ५, पृ ८४
६ व ७ नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत् स एव धर्मो मनुना प्रणीतः।—रघु १४।६७
निगृह्य शोकं स्वयमेव धीमान् वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः।—रघु १४।८५

राजा तक ब्राह्मणों के सम्मुख झुकते थे ब्राह्मणों के वे शासक नहीं थे।

ब्राह्मणों के दो वर्ग—परन्तु कालिदास के समय तक आते-आते ब्राह्मणों के ये गुण बहुत कुछ नष्ट हो चुके थे। इस समय ब्राह्मणों के दोनों प्रकार स्पष्टतया से देखे जाते थे। एक वर्ग अथवा प्रथम प्रकार में तपस्वी तथा कुलगुरु आते हैं जो अब तक प्राचीन आदर्शों का तत्परता के साथ पालन किया करते थे। कण्व ऋषि का तपोवन कुलगुरु वसिष्ठ विश्वामित्र का आश्रम विक्रमोर्वशी में आश्रम ने जहाँ शिक्षा प्राप्त की थी यह तपोवन इन्हीं आदर्शों के प्रतीक हैं। इनमें ऋषि मुनि तथा रहनेवाले युवा छात्र तपस्वी संयमी व त्यागी थे। पुरोहित भी प्रथम वर्ग में किए जा सकते हैं। पुरोहित शब्द का कवि ने शकुन्तला में कई स्थानों में प्रयोग किया है। राजा दुष्यन्त पुरोहित से ही सम्मति लेता है कि मैं शकुन्तला को ग्रहण करूं कि नहीं।

'पुरोहित'—(राजानं निर्दिश्य) भो सोमरात मसावसमवाप्य वर्णाश्रमाणां रक्षिता प्रागेव मुक्तासनो वः प्रतिपालयति। —अभि पृ ८४

'पुरोहित'—(पुरो गत्वा) एते विधिवदर्चितास्तपस्विनः। —अभि पृ ८५

'पुरोहित'—विचार्य यदि तावदेवं क्रियताम्। —अभि पृ १४

राजा के पास आए अतिथियों का स्वागत-भार इन्हीं पर था। यहीं अतिथियों को राजा के पास भेंट करवाने ले जाता था।

राजा—तेन हि मद्वचनाद्विज्ञाप्यतामुपाध्याय सोमरातः। अमूनाश्रमवासिनः श्रौतेन विधिना सत्कृत्य स्वयमेव प्रवेशयितुमर्हतीति। —अभि पृ ८१

दूसरे वर्ग में ब्राह्मणों के पतन के चिह्न पर्याप्त थे। निस्वार्थ भाव से शिक्षा दान करने के स्थान पर ब्राह्मणों ने वेतन लेकर पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया था[१]। अपने आश्रम व एकान्त को छोड़कर वे नगर में राजमहल में ही रहा करते और पढ़ाया करते थे[२]। वे छोटी-छोटी बातों पर लड़ते थे झगड़ते थे वाद-विवाद करते थे[३]। वे पटु होते थे। यद्यपि सिद्धान्त में उनका आदर्श अभी भी 'यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति'[४] था। परन्तु व्यावहारिक

---

१ किं युवा वैतनदानेनैतेषाम् ।—माल प्रथम अंक पृ २७४

२ माल प्रथम अंक

३ माल पूरा १ अंक

४ भवति परस्पर उदरंभरिर्माणावम् (माल १ अंक पृ २७४) तथा कवि के हरेक नाटक के विदूषक।

५ माल १।१७

रूप में इस जीविका का आधार मानकर चलने लगे थे। पहले दक्षिणा उनका आधार थी[1] अब वेतन[2]।

विदूषक की परम्परा—विदूषक की परम्परा से ब्राह्मणों की मूर्खता निर्बीयता व पटूपन ('वृद्ध विपणिकन्दुरिव मे उदराभ्यन्तरं दहयते।—भास अंक २ पृ २८९) ही प्रमाणित होता है। दुष्यन्त किस प्रकार माढव्य को शकुन्तला का झाँसा देता है उसे राक्षसों से डरा कर (प्रथमं सपरीवाहमासीत्। इदानीं राजम-वृत्तान्तेन बिन्दुरपि नावशेषित।—अभि अंक २ पृ १८) अंतःपुर भिजवा देता है[3]। सेनापति का कहना 'प्रकृत एव भीरेय'[4] सदा खाने की सुन्दर वस्तुओं लड्डू[5] आदि का मन में होना आदि इसके प्रमाण हैं। विक्रमोर्वशी में दासी किस प्रकार विदूषक से 'राजा के मन में उर्वशी बसी है, इसी कारण रानी की उपेक्षा कर रहे हैं' रहस्य उगलवा लेती है[6]। उनकी मूर्खता से ही उर्वशी का प्रेमपत्र रानी के हाथ पड़ जाता है[7]। उनका पटूपन 'तत्र पंच विवस्वाभ्यवहारस्योपनतर्मभारस्य भोजनी प्रक्षमाणाभ्यां नयनमुत्कंठां विनोदयिषुम्' से सिद्ध होता है। इसी प्रकार अमुषितस्य ब्राह्मणस्य जीवितमवलम्बतां

---

१ समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद्गुरुदक्षिणायै।
स मे चिरायास्खलितोपचारां तां भक्तिमेवागणयत्पुरस्तात ॥
निबन्धमजातरुषा धनाल्पतामचिन्तयित्वा गुरुणाहमुक्त।
वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति ॥—रघु ५।२ २१

२ किं मुधा ब्राह्मणदानेर्भत्सेयाम्।—भास प्रथम अंक पृ २७४

३ चपलोऽयं बटु कदाचिदस्मत्प्रार्थनामन्तःपुरेभ्य कथयेत्।
भवतु एनमेवं वक्ष्ये।—अभि २ अंक पृ ४
—क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो मृगशावै सममेधितो जन।
परिहासविजल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यतां वच ॥—अभि २।१८

४ अभि अंक २ पृ ३

५ किं मोदकखादिकायाम् तेन ग्रहं सुगृहीत वाम।—अभि अंक २ पृ २६

६ विक्रम अंक २

७ 'अस्मिन्नी सदेव कोमीतमिव प्रतिभाति।
भर्त्तारमरदिग्धोचन्या कामयम इति तर्कयामि।
आयमायक प्रकारेण कामयोऽसमाणम इति।—विक्रम अंक २ पृ १८७

८ विक्रमो० अंक २ पृ १७१—

भवान् समयः खलु स्नानभोजनं सेवितुम्[1]। प्राकृतिक सौंदर्य में भी उसे कोई खाद्य सामग्री ही दिखाई देती है। उदय होता चन्द्रमा उसके लिए खाँड का लड्डू है[2]। यदि विदूषक में कुछ चतुराई है भी तो प्रेम-व्यापार में। मालविका को अग्निमित्र से मिलाने में सबसे बड़ा हाथ विदूषक का ही था[3]। किस प्रकार वह 'साँप ने काट खाया' झूठा बहाना बनाकर कलम के काँटे से साँप के दाँतों का चिह्न बनाकर रानी से अंगूठी मँगवा लेता है, कि बाहर उतारने के लिए ऐसी वस्तु चाहिए जिसमें नागमुद्रा जड़ी हुई हो ध्यान देने योग्य है। तत्पश्चात् बन्दीगृह की कर्ता-धर्ता माधविका के पास जाकर कहा कि ज्योतिषियों ने महाराज से कहा है कि आपके ग्रह बिगड़े हुए हैं इसलिए सब बन्दियों को छुड़वा दीजिए। देवी ने यह सोचकर कि किसी और को भेजने से इरावती भी बुरा मान जायेगी मुझको ही आपके पास भेजा है, जिससे इरावती भी यह समझे कि मैं नहीं छुड़वा रही हूँ। अंगूठी देखकर विदूषक की बात पर विश्वास कर माधविका उसे मुक्त कर देती है। विदूषक राजा को चोर-रास्ते से ले जाकर मालविका से संकेत-गृह में भेंट करवा देता है। इसीलिए चोरी पकड़े जाने पर इरावती विदूषक से कहती है— 'सर्वमयमस्य ब्रह्मबन्धुना कृतः प्रयोगः'। इदमस्य कामतंत्रसचिवस्य नीतिः'[4]। विदूषक की बातों से हँसी अवश्य आती है पर यह हास्य उसकी मूर्खतापूर्ण बातों से उत्पन्न होता है।

समाज में ब्राह्मणों का स्थान—परन्तु इतना होने पर भी समाज में ब्राह्मणों का यथेष्ट आदर था। कुलगुरु पुरोहित तपस्वी ऋषियों के प्रति सबको विशेष आस्था थी[5]। द्वार पर उनका आना गृहस्थ अपना सौभाग्य सम-

---

१ विक्रमो अंक २ पृ ११

२ ही ही भो एष खलु खण्डमोदक सश्रीक उदितो राजा द्विजातीनाम्।

—विक्रम अंक ३ पृ ११७

३ माल अंक ४ पूरा।

४ माल अंक ४ पृ ११५

५ रघु १।९० (पूरा पाँचवाँ सर्ग) रघु ५।१ ११—श्लोक २३ २४ २५ रघु ११।१–६ श्लोक कुमार ३।३१ ६।१२–१३। अभि ३।१ १४-७ अंक सम्पूर्ण। माल अंक १

स तं प्रशस्ते महिते मदीये वसंश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे।

द्वित्राण्यहान्य साधयितुं त्वदर्थम्॥—रघु ५।२५

रहते थे और उनकी इच्छापूर्ति व आतिथ्य-सत्कार में जी-जान लड़ा देते थे[1]। राजा ब्राह्मणों को गौ आदि दान देते थे[2]। उनकी बात को वे ब्रह्मवाक्य मानते थे। आचार्य गणदास व हरदत्त को देखकर अग्निमित्र आदर करते हुए उन्हें स्थान देते हैं। दुष्यन्त शाङ्गरव आदि को देखकर आदर-अभ्यर्थना करते हुए कण्व का कुशल पूछते हैं। दुष्यन्त के हृदय में तपस्वियों के प्रति कितना सम्मान है यह इससे व्यक्त होता है—

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम् ।
तपः षड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः[3] ॥

राजा दिलीप, रघु, राम आदि की वसिष्ठ, वाल्मीकि और ऋषि कौत्स के प्रति कितनी अधिक श्रद्धा थी यह रघुवंश में भली भांति व्यक्त की गई है[4]। यहाँ तक कि विदूषक जैसा मूर्ख डरपोक और पेटू भी राजा के द्वारा कभी अपमानित नहीं किया जाता। राजा उसे अन्तरंग मित्र समझकर अपना हृदय का द्वार सम्मुख खोलकर सम्मति लेते हैं[5]।

ब्राह्मणों की वेश भूषा—ब्राह्मण लोग यज्ञोपवीत पहनते थे[6]। दाएँ कान पर रुद्राक्ष की माला धारण करते थे[7]। वस्त्रों में अन्य पुरुषों की तरह धोती व

---

१ इदमत्रोत्तरं न्याय्यमिति बुद्ध्या विमृश्य मे ।
आरब्धे वचसामन्ते मंगलालंकृता सुताम् ॥
यदि विस्तारमन्यत्र वत्से मिलामि परिकल्पता ।
अथिना मुनयः प्राप्तं गृहमेधिफलं मया ॥—कुमार ६।८७-८८

२ ग्रामेष्वात्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषु यज्वनाम् ।
अमोघाः प्रतिगृह्णन्तावर्घ्यानुपदमाशिषः ॥—रघु १।४४

३ अभि २।११

४ रघु १।९७ (प्रायः प्रथम सर्ग) ५।१-११ २१-२५, ११।१-६

५ अभि अंक २ विक्रम अंक २ माल अंक १

६ बिभ्रतं तमुपवीतलक्षणम् ।—रघु ११।६४
मुक्ता यज्ञोपवीतानि बिभ्रतो हैमवल्कलाः ।
रत्नाक्षसूत्राः प्रव्रज्यां कल्पवृक्षा इवाश्रिताः ॥—कुमार ६।६
गोरोचनातिलकरञ्जितमयूरकलापः संलक्ष्यते सलिलवासमञ्जीतमूल ।
—विक्रम ५।१२

७ अक्षबीजवलयेन निर्बभौ दक्षिणश्रवणसंस्थितेन यः ।
क्षत्रियान्तकरणैकविंशतेर्व्याजपूर्वगणनामिवोद्वहन् ॥—रघु ११।६६

युद्ध-विद्या में कुशल भी। एक ओर उनका उदार तथा दयालु होना आवश्यक था दूसरी ओर अपक्षपाती और न्याय में कठोर[1]।

धनुर्विद्या क्षत्रियों की शिक्षा का मुख्य अंग थी[2]। क्षत्रिय शस्त्र को सदा अपने पास रखते थे चाहे वे बालक ही क्यों न हों[3]। जिस प्रकार ब्राह्मण उपवीत से पहचाने जाते थे उसी प्रकार क्षत्रिय धनुष से[4]। प्रणाम करते समय भी वे धनुष को अपने से पृथक नहीं करते थे अपितु दोनों हाथों के बीच में धनुष रख लिया करते थे[5]।

क्षत्रिय भी ब्राह्मणों के सदृश ही उच्च थे। अतः द्विज[6] शब्द का प्रयोग क्षत्रियों के लिए भी होता था। ब्राह्मणों की तरह जातकर्मादि संस्कार इनके भी होते थे[7]।

क्षत्रियों के विभिन्न कुल—क्षत्रियों के अनेक वंशों का कवि ने परिचय दिया है। इन कुलों में सूर्य वंश[8] सोम वंश[9] पुरु वंश[10] क्रथकैशिक[11] मौर्य

---

१ भीमकान्तैर् नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम्।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः ॥—रघु १।१६
स हि सर्वस्य लोकस्य युक्तदण्डतया मनः।
आददे नातिशीतोष्णो नभस्वानिव दक्षिणः ॥—रघु ४।१८

२ रघु १।१९ ३।३१ ९ ७।५५–६२ ९।१४ १२।६७–९९ अभि १ अंक विक्रम १ अंक रघु २।२९, ३।१८ गृहीतविद्यो धनुर्वेदमभिविनीत (विक्रम ५ अंक)।

३ अन्विती तमृषिमभ्यगच्छतां पौरदृष्टिकृतमार्गतोरणौ।—रघु ११।५

४ निम्नमंसमुपवीतकर्मणा लक्ष्यते च धनुषा तदग्रम्।—रघु ११।६४

५ चापमग्रमगजलि बद्ध्वा प्रणमति। (विक्रम ५ अंक पृष्ठ २४५)

६ इत्थं द्विजेन द्विजराजकान्तिरावेदितो वेदविदां वरेण।—रघु ५।२३
तस्मै द्विजेतरतपस्विसुतं स्खलन्तमात्मानमसंशयमेव कथयाम्बभूव॥—रघु १५।५१

७ रघु ३।१८ ३१ (गोदान) रघु १५।३१ (नाम) विक्रम ५ अंक (जातकर्म) अभि ७ अंक (जातकर्म)
"भस्यात्रिपुमारभ्य जातकर्मादिविधानं तत्रस्य भगवता च्यवनेनास्यानुष्ठितम्।"
(विक्रम ५ अंक) इनका उदाहरण संस्कार में सविस्तर मिलेगा।

८ क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।—रघु १।२

९ महाभाग। सोमवंशविस्तारयिता भव।—विक्रम ५ अंक पृ १५५

१० व ११ क्रथकैशिकवंशसम्भवा तव भूत्वा महिषी चिराय सा।—रघु ८।८२

वंश[1] पौरव वंश[2] प्रसिद्ध हैं। रघु, दिलीप आदि सब सूर्यवंशी राजा थे। दुष्यन्त पुरुवंशी क्षत्रिय था। पुरूरवा सोमवंशी था। पार्थिव शब्द पृथु पद से क्षत्रिय अर्थ में बना है।

वैश्य—कवि ने वणिज[3] नैगम[4] श्रेष्ठी[5] सार्थवाह[6] शब्दों का प्रयोग अपने ग्रन्थों में किया है। अवश्य ही ये शब्द वैश्य वर्ण के द्योतक हैं। वैश्य अधिकतर व्यापार ही करते थे अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर सामान ले जाते थे और बेचते थे।

समाज में वैश्यों का स्थान—ब्राह्मण और क्षत्रिय के बाद वैश्य का समाज में स्थान आता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय की तरह इनके भी संस्कार होते थे[7]। ब्राह्मणों के ऊपर क्षत्रियों का प्रभुत्व नहीं था[8]। वे उनकी धन सम्पत्ति नहीं ले सकते थे परन्तु वैश्यों के लिए इस प्रकार का कोई नियम नहीं था। समुद्र-व्यवहारी सार्थवाह धनमित्र की मृत्यु के पश्चात् चूँकि उसके कोई सन्तान न थी उसका धन राजकोष में आ जाना चाहिए, ऐसा मन्त्री ने राजा को लिखा था[9]।

शूद्र—आर्यों ने अपने शत्रुओं को पराजित करके उनको दास बना लिया था जो उनकी सेवा किया करते थे। ऋग्वेद में दास अथवा दस्यु का बहुत अधिक वर्णन है। ये ही व थे जो आगे शूद्र कहलाए। शूद्रों के विषय में मनुस्मृति का कहना है— 'शूद्रं तु कारयेद् दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा। दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा[10]'।

---

१ नीपान्वयः पार्थिव एष यज्वा गुणैर्यमाश्रित्य परस्परेण।—रघु ६।४६

२ पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः।—रघु ६।६

३ माल० १।१७ वणिज

४ नैगम—विक्रम ४।११

५ 'देव इदानीमेव साकेतस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निवृत्तपुंसवना जायाऽस्य श्रूयते' —अभि अंक ६

६ 'समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः' —अभि अंक ६ पृ १२१

७ देखिए, इसी पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ४

८ राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम्—(गौतम ११ १) तथा [illegible]
[illegible]। —गौतम ८।१२ १३

९ राजगामी तस्यार्थसञ्चय इत्येतदमात्येन लिखितम्।—अभि अंक ६ पृ १२१

१ मनुस्मृति अध्याय ८ ४१३

समाज में स्थान—समाज में उनका क्या स्थान था यह इससे स्पष्ट हो जाता है—शूद्रं मनुष्याणामश्वः पशूनाम् तस्मात्तौ भूतसंक्रामिणावश्वश्च शूद्रश्च तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः[1] अर्थात् शूद्रों को किसी प्रकार का कोई अधिकार प्राप्त न था। शूद्रों का वास्तविक कर्म द्विजों की सेवा करना था। इनका ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों के समान कोई संस्कार नहीं होता था। ये वेद आदि नहीं पढ़ सकते थे। पवित्र मंत्रों को सुन भी नहीं सकते थे। इनके लिए विवाह आदि भी बिना वैदिक मन्त्रों के होते थे। मनु के अनुसार इनके समस्त धार्मिक कार्य बिना मन्त्र के होने चाहिए।[2] इनके लिए कुछ भी पाप नहीं है, धर्म में इनका कुछ भी अधिकार नहीं है न किसी भी कार्य करने का प्रतिषेध है। ये किसी संस्कार के भी योग्य नहीं है।[3]

कालिदास अवश्य ही इस परम्परा के मानने वाले होंगे। उन्होंने शूद्र वर्ण का कई स्थानों मे प्रयोग किया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि शूद्र भी उनके समय मे रहे होंगे। जिस प्रकार ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य प्राचीन आदर्शों के अनुसार जीवन व्यतीत करते थे उसी प्रकार वे भी करते होंगे। परन्तु चूँकि वर्ण-व्यवस्था तथा वे बन्धन शिथिल पड़ गये थे इस कारण शूद्रों के बन्धन भी उतने कठोर न होंगे। मालविकाग्निमित्र में 'वर्णावर'[4] शब्द आता है, जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है, कि शूद्रों के साथ भी विवाह हो जाते होंगे। हाँ उनको वह सम्मान चाहे न मिलता होगा जो समान वर्ण मे विवाह करने मे। नीच वर्ण की स्त्री से विवाह करने पर उत्पन्न संतान उतने अधिकार भी न प्राप्त करती होगी जितने समान वर्ण से उत्पन्न संतान। 'वर्णावरो भ्राता' इसी प्रकार अन्य दूसरे वर्ण की स्त्री से उत्पन्न भाई था।

चाण्डाल तथा अन्य जातियाँ—चार वर्ण के अतिरिक्त भी अन्य मनुष्य थे जो विशेष रूप से किसी भी वर्ण के नहीं कहला सकते थे क्योंकि यदि माता-पिता एक ही वर्ण के होते थे तो संतान का भी वही शुद्ध वर्ण रहता था अन्यथा इस प्रकार का वर्णसंकर धीरे-धीरे उपजाति व उपवर्ग को जन्म देने लगा था। एक पेशा एवं एक व्यवसाय के मानने वाले अपना-अपना पृथक्-

---

१ तैत्तरीय संहिता ७। १ १ ७

२ मनुस्मृति १ ।१२७

३ मनुस्मृति १ ।१२६

४ 'अस्ति देव्या वर्णावरो भ्राता वीरसेनो नाम।
—माल० अंक १ पृ २९६

पृथक् समुदाय बनाने लग गए थे। यह भी आगे चलकर भिन्न-भिन्न जातियों का जन्म-दाता बना। उदाहरण के लिए लुहार, सुनार, कुम्हार, निषाद, रथकार, इषुकार, धीवर, अम्बष्ठ इसी प्रकार की जातियाँ सम्मुख आईं। अधिकतर इस प्रकार की जातियाँ अपने पैतृक व्यवसाय को ही अपनाती थीं। शकुन्तला में यद्यपि धीवर का सबने उपहास किया था कि बड़ा अच्छा पेशा है, परन्तु उसने यही उत्तर दिया था कि जिस जाति को भगवान् जो काम देता है उसे छोड़ा नहीं जाता। पशुओं को मारना निन्दनीय है पर श्रोत्रिय ब्राह्मण यज्ञ के लिए पशुओं को मारते हैं[1]।

समाज में चांडाल का स्थान अति निकृष्ट था। चातुर्वर्ण्य के अतिरिक्त पाँचवें वर्ण में चाण्डाल, जालोपजीवी धीवर आदि आते हैं जिनसे समाज घृणा करता था। खान पान तथा सबके ही नाते से त्याज्य थे। ये नगर के बाहर रहते थे। भारतीय इतिहासकारों ने चीनी यात्री फाह्यान का ऐसा ही मत उद्धृत किया गया है। मनुस्मृति में अन्त्यज शब्द ऐसे ही बहिष्कृत (चांडाल) व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त हुआ है[2]।

आभीर—जिनको कालिदास ने घोष[3] कहा है, वे आभीर ही थे। आजकल इन्हीं लोगों को अहीर कहा जाता है। परन्तु आभीर एक जनपद भी था। यह सिंध में था। वहाँ के निवासी आभीर कहे जाते थे। मनुस्मृति में ब्राह्मण और अम्बष्ठ कन्या की संतान आभीर कही गई है[4]। इनका काम एवं व्यवसाय दूध घी और मक्खन आदि का होता था। रघुवंश में दिलीप के वशिष्ठ-तपोवन जाते समय घोषवृन्द ताजा मक्खन लेकर आते हैं और भेंट करते हैं[5]।

किरात—जैसवाल ने किरातों को शूद्र का ही अंग (सब-डिवीजन) कहा है[6]। मनुस्मृति के अनुसार किरात क्षत्रिय ही हैं। उपनयन आदि क्रियाओं के लोप से और ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा आदि न देने के कारण से शूद्रता को

---

१ सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्।
पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः ॥—अभि अंक ६, १
२ मनुस्मृति अध्याय ४ ६१
३ हैयङ्गवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान्।—रघु १।४५
४ मनुस्मृति अध्याय १० १५
५ देखिए, इसी पृष्ठ की पाद-टिप्पणी में ३
६ धर्मशास्त्र का इतिहास द्वितीय जिल्द भाग १ पृष्ठ ७२

गन्धर्व,[1] किन्नर,[2] विद्याधर,[3] अप्सरा[4]—अभी तक ये सब देव जातियाँ ही समझी जाती थीं परन्तु अभी हाल ही में श्री रांगेय राघव की एक पुस्तक 'प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास' प्रकाशित हुई है, जिसमें उन्होंने इन सब पर यथेष्ट प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि द्रविड़ जाति भी बाहर की ही आई जाति है जो यहाँ भारत के मूल निवासियों से उसी प्रकार घुल-मिल गई जैसे बाद में आर्य। इन्हीं मूल निवासियों में वे यक्ष गंधर्व किन्नर का नाम लेते हैं[5] (भूमिका पृष्ठ ज)। द्रविड़ युग में भारत के

'यवनी—भर्त एतदस्त्रावापसहितं शरासनम्'—अभि अंक ६ पृ ११४
'राजा—अनुगमनुस्तावत्। यवनी—एषाऽन्वेष्यामि' ।
—विक्रम अंक ५ पृ २४१

१ रघु ५।२१-२६

२ रघु ४।७८ कुमार १।८ १४ कुमार १।३५ १८ कुमार ६।४६ अभि अंक ७

३ कुमार १।७ विद्याधर 'कालनकीनो पुरुषविनिगतस्याप्योरुपीय'
—विक्रम० अंक ४

४ रघु ७।५१ राजा—'परस्ताच्चास्त एव सखया अप्सरःसंभवेषा'
—अभि अंक १
उपस्थानमवाभिमां विलोक्य, क्रीडिता कर्मा अप्सरस —विक्रम अंक १
अस्पर्धीरप्सरा —विक्रम अंक २

५ डा सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के अनुसार किरात भी मूलतः भारत से बाहर से आए थे। द्राविड़ भाषी 'दास-दस्यु' तथा दक्षिण-देशीय निषाद जनों के अतिरिक्त आर्यों को संभवतः कुछ चीन भोट भाषी उपजाति जन भी (जिन्हें वैदिक काल से आर्य लोग 'किरात' कहते थे) हिमालय के ढाल के प्रदेश तथा पूर्वी भारत के कुछ स्थानों में मिले। ये 'किरात' भारतीय मोंगोलाकार जन (Indo-Mongoloids) भारत में बहुत संभव है कि १ मद ई० पू० से भी बहुत पहले आ गये थे। उत्तर तथा पूर्वी भारत के हिन्द इतिहास और संस्कृति के विकास में इनका काफी बड़ा हिस्सा है।
—डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी १९५४ पृष्ठ ५१
किरात इस समय नैपाल की पूर्वी भाग में बसे हुए हैं। इनके चित्रों के देखने से ये मोंगोलोइड प्रतीत नहीं होते। भागवत पुराण के श्लोक के अनुसार ये 'पाप' माने जाते थे—
किरातहूणान्ध्र-पुलिन्द-पुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥

उत्तर-प्रदेश में अनेक जातियाँ थी ये यक्ष राक्षस गंधर्व किन्नर आदि ही थीं (भूमिका पृ क)। यक्ष और रक्ष का धातु-मूल एक है। राक्षस और कुबेर भाई-भाई कहे जाते हैं। इनके समाज में स्त्री विलास की वस्तु न थी। पहले नर-नारी सम्बन्ध स्वतन्त्र रहे थे जो व्यक्तिगत सम्पत्ति बनने पर भी स्त्री को बच्चा पैदा करने वाली मशीन नहीं बना सकी। यही परम्परा थी (भूमिका पृ क)। देव से तात्पर्य देवता का नहीं है। इस भूमि पर देव-जाति के अस्तित्व का भी स्वामी शंकरानन्द ने उल्लेख किया है। अथर्ववेद में भी देव इसी पृथ्वी के वासी थे ऐसा कहा गया है। यह देव-जाति सोम पीती थी और माम गंधर्वों से खरीदा जाता था (पृ ६७) बाद में सूर्य के रूप में गंधर्वों का वर्णन किया जाता था। इसी देव-योनि में विद्याधर अप्सरा गंधर्व किन्नर आदि हैं—

विद्याधराप्सरोयक्ष-रक्षोगन्धर्व-किन्नरा ।
पिशाचो गुह्यक सिद्धो भूतोऽमी देवयोनय ॥—पृ ७१

भो रामेय राघव किरात को भी जातिविशेष ही मानते हैं। किरात-परिवार हिमालय के आस-पास फैला था। यह देव का सहायक था (पृ ११५)। आम विदेशी थे। आप एक जाति नहीं अनेक कबीले या छोटी-छोटी जातियाँ थीं जो परस्पर भी लड़ती थी। ये लोग प्रारम्भ में ईरान में आकर बसे और यहीं द्रविड़ जाति-समूह तथा किरात-परिवार—यक्ष गन्धर्व किन्नर आदि से सम्बन्ध हुआ (पृ १२१)। गन्धर्व सेना का वर्णन कवि ने भी किया है—'शतशृंगा गन्धर्वसेना समाश्रिता (विक्रम अंक १)।

समाज में वर्ण-व्यवस्था का महत्त्व—सामाजिक अराजकता न फैलने पाए इसके लिए भारतवर्ष में सदा से ही वर्ण-व्यवस्था का महत्त्व है। पश्चिम में नए नए-नए सिद्धान्त बने उलझनें बढ़ती गईं जिससे बाहर युद्ध और अन्दर द्वन्द्व बढ़ती गई लेकिन भारत में यह उन्माद कभी न आया। व्यक्तिगत धार्मिक शुद्धता आत्मशुद्धता मानव के कल्याण की भावना नैतिकता की रक्षा साथ ही पारिवारिक सुख-शान्ति समाज के लिए बहुत कुछ महत्त्व रखती है। सामाजिक जीवन इन्हीं कर्मों और आदर्श पर आधारित था। जब मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन सुखी रहता है तथा आदर्श होता है तभी सामाजिक जीवन भी आदर्श रहता है। यदि व्यक्तिगत जीवन में आशाएं बढ़ती जायें तो आर्थिक संकट भी बढ़ेगा। अत कालिदास ने वर्ण-व्यवस्था से समाज में एकता संगठन और सन्तुलन स्थापित किया। सभी मनुष्य समाज में एक बड़े परिवार के विभिन्न सदस्यों की भाँति रहते थे।

कहलाते थे। इनकी उत्पत्ति किन जातियों के सम्मिश्रण से हुई कहा नहीं जा सकता। संभव है, पेशे से ही इनकी पृथक् जाति बन गई हो।

मल्लाह[1]—कालिदास ने 'आनायिन्' शब्द का प्रयोग किया है। मल्लिनाथ इसका अर्थ 'जालिका' ही करते हैं। जाल को आनाय कहते थे। पाणिनि ने इसका उल्लेख किया है (जालमानाय ३।३।१२४)।

नर्तकी[2]—इसका पेशा नाचना था। यह राजाओं के दरबार अथवा अन्तःपुर में नाचकर राजा का मनोरंजन किया करती थी। सम्भवतः यह समाज की अभिशापित स्त्रियाँ होंगी जिनसे कुलीन विवाहादि सम्बन्ध न करते होंगे। अतः जीविका के लिए ही वे इस पेशे को धारण करती होंगी।

उद्यानपालिका[3]—उद्यान के वृक्षादि की देखभाल करना पुष्प-चयन करना इनका काम था। प्रारम्भ में चाहे यह कोई जातिविशेष न हो पर धीरे धीरे यह जाति ही बन गई।

तस्कर[4] व कुम्भीरक[5]—अवश्य ही यह कोई जाति न थी न है ही परन्तु जीविका के लिए यह व्यवसाय ग्रहण अवश्य किया गया।

जानने वालों का साक्षात् प्रसंग है। शिल्पियों के औजारों में मणि छेदने के लिए वज्र का नाम है। वज्र एक विशेष औजार था। संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव (अभि० ६।६) 'धारेव वज्रभ्रममुल्लेखोत्तारकल्पेन मलोल्लिखितो विभाति' (रघु० ५।१२) से लगता है कि इनके कुछ विशेष औजार रहे होंगे। मालविकाग्निमित्र अंक १ में भी कवि सुनार के लिए शिल्पी का प्रयोग करता है (अहो बकुलावलिका। सखि पेक्ख इदं शिल्पि-सकाशादानीतं णाममुद्दासणाहमंगुलीयअं सिणिद्धं णिज्झाअन्ती उवालम्भे पडिदास्मि)।

1 स तीरभूमौ विहितोपकार्यामानायिभिस्तामपकृष्टनक्राम् ।—रघु० १६।५५
तत समाज्ञापयदाशु सर्वानानायिनस्तद्विचये नदीष्णान् ।—रघु० १६।७५

2 रघु० १६।१४ विस्तृत उदाहरण 'ललितकला' के अध्याय में प्राप्त होगा।

3 'भवतु अनयोरेवोद्यानपालिकयो तिरस्करिणी...... ।'
—अभि० अंक ६ पृ० १ २
'तदावत्समरपराधिकरो मधुकरिकासमभिप्यामि' ।—माल० अंक ३ पृ० २१

4 आत्मनो वधमाहर्ता क्वासौ विहगतस्करः ।—विक्रम० अंक ५ १

5 अहो कुम्भीरकैः कामुकैश्च परिहरणीया खलु चन्द्रिका ।—माल० पृ० १२४
अरे कुम्भीरक कथय......—अभि० पृ० ९७

आगुरिक—(रघु १।३१) इनका काम शिकारी कुत्तों के द्वारा शिकार ढूंढ़ना था। कवि ने राजा दशरथ के मृगया-सहायतार्थ इनको वन में उनके साथ भेजा है।

नट[1]—निम्न वर्ण समूह में इनका स्थान आता है। इनका काम अर्थात् व्यवसाय रंगमंच पर नाटक करना था। इनमें स्त्री व पुरुष दोनों होते थे। स्त्रियाँ नटी कहलाती थीं।

वणिज[2]—यह वैश्यों का ही एक वर्ग था। इनका काम वस्तुओं का क्रय विक्रय करना था।

नोट—ये सब जातियाँ पेशे के अनुसार ही बनीं। सब अपने पैतृक व्यवसाय को ही धारण करती थीं। शकुन्तला में 'किसी भी पेशे की निन्दा नहीं करनी चाहिए, ये सहज कर्म सभी भले हैं'—ऐसा कहा है[3]।

अनार्य जातियाँ—इन जातियों में हूण शक यवन आदि आते हैं। (मनु १०—४३—४४) और महाभारत (अनुशासन पर्व ३३ २१–२३ ३५, १७–१८) का ऐसा कहना है कि शक यवन शबर किरात आदि विदेशीय जातियाँ वास्तव में क्षत्रिय ही थीं परन्तु चूँकि ब्राह्मणों के बनाए धर्म और नियम उन्होंने स्वीकार नहीं किए, चूँकि ब्राह्मणों के साथ उनका सम्पर्क नहीं हुआ इसलिए वे शूद्र समझे गए[4]।

कवि कालिदास ने विदेशीय अथवा अनार्य जातियों में 'पारसीक'[5] जिनकी स्त्रियों को उन्होंने यवनी[6] कहा है, हूण[7] और विशेषतः यवन का उल्लेख किया है। राजा की परिचारिका जो धनुष-बाण आदि लाकर देती थी कवि के मतानुसार यवनी[8] ही कहलाती थी। ये विदेशीय राजाओं को परास्त करने के बाद उनके यहाँ की ही स्त्रियाँ लाती थीं।

---

१ अभि० कवि ने 'नटी' शब्द लिया है।
२ माल० अंक १ १७
३ अभि० ६।१ पूर्वोल्लिखित।
४ धर्मशास्त्र का इतिहास पृ० १
५ 'पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना'—रघु ४।६०
६ 'यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः'—रघु ४।६१
७ 'तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्'—रघु ४।६८
८ एष बाणासनहस्ताभिर्यवनीभिर्वनपुष्पमालाधारिणीभिः।
—अभि० अंक २ पृ० २७

प्राप्त हुए[1]। रघुवंश में रघु ने किरातों को हराया था[2]। किरात बड़ी वीरता के साथ लड़े थे। अतः ये क्षत्रिय ही होंगे ऐसी सम्भावना है। कुमारसम्भव में भी किरातों का प्रसंग है[3] जो मृगों की खोज में इधर-उधर हिमालय पर्वत के वनों में घूमते रहते थे। कदाचित् शिकार करना और युद्ध करना इनका व्यवसाय था।

धीवर[4]—गौतम इसे प्रतिलोम विवाह की सन्तान मानते हैं। वैश्य पुरुष और क्षत्रिय स्त्री की संतान धीवर है, ऐसा ही उनका मत है[5]। ये नीच वर्ग के होते थे। इनका पेशा मछली पकड़ना था। शकुन्तला में भी धीवर मछली वाला ही कहा गया है[6]।

बन्दी[7] चारण, भाट, मागध—ये सब लगभग एक ही हैं। इनका मुख्य काम राजा का यश-गान करना है। परन्तु कामों में थोड़ा-थोड़ा अन्तर है। कालिदास के ग्रंथों में बन्दी सूतपुत्र वैतालिक का उल्लेख है। सूतपुत्र का काम राजा को जगाना था (रघु ५।६५)। वैतालिक राजा की जय-जयकार किया करते थे (अभि ५।०८ विक्रम ५।२१ २२) पर वे समय की सूचना के लिए प्रधानतः नियुक्त थे (माल २ अंक १२)। बन्दी और बन्दीपुत्र राजा की वंशावली और विरद बखान किया करते थे (रघु ४।६ रघु ५।७५ रघु ६।८)। मागध और बन्दी (क्षत्रिय वणिज) प्रतिलोम विवाह की सन्तानें हैं। वैश्य पुरुष और क्षत्रिय स्त्री की सन्तान बन्दी या मागध कहलाई। श्री काणे ने इस जाति का ऐसा ही इतिहास अपनी पुस्तक 'धर्मशास्त्र का इतिहास' में प्रकाशित किया है[8]।

लुब्धक[9]—ये भी निम्न वर्ग के लोग हैं। इनका काम चिड़िया आदि

---

१ मनुस्मृति अध्याय १ ४१ ४४
२ अजय्य किरातेभ्य भर्गोपुर्वकरारस ।—रघु ४।७६
३ यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः ।—कुमार १।१५
४ अभि अंक ६
५ गौतम-धर्मसूत्र ४।१७ धर्मशास्त्र का इतिहास पृ ८४
६ अभि अंक ६
७ अथ स्तुते बन्दिभिरन्वयज्ञैः सोमार्कवंश्ये नरदेवलोके ।—रघु ६।८
८ धर्मशास्त्र का इतिहास पृ १ ६४
९ ततो यावदेव प्रत्यग्र शय्यां पुनः शकुनिलुब्धकानां
वनग्रहणकोलाहलेन प्रतिबोधितोऽस्मि ।—अभि अंक २ पृ ३०

पकड़ना था। व्याध एवं लुब्धक एक ही वर्ग अथवा एक ही जाति है। 'व्याध जनमीतपृीतविस्तरेव हरिमैतल्ल विज्ञातं मया।—माल ६ अंक।

शौण्डिक[1]—लुब्धक की तरह ये भी निम्नवर्ग के मनुष्य थे। इनका व्यवसाय मदिरा बेचना था।

सौनिक[2]—कालिदास ने सौनिक शब्द के ही आशय में 'सूना परिसरचर' शब्द का प्रयोग किया है। इनका व्यवसाय मांस बेचना था।

सूत[3]—श्री काणे ने गौतम, बौधायन, कौटिल्य, मनु सबके ही आधार पर इसे प्रतिलोम सन्तान प्रमाणित किया है। क्षत्रिय पुरुष और ब्राह्मण स्त्री की संतान सूत कहलाई[4]। कवि ने सूत का काम रथ हाँकना ही कहा है। मनु भी इनका यही व्यवसाय मानते हैं[5]।

जालोपजीवी—जालोपजीवी से कालिदास का आशय धीवर का ही है। शकुन्तला में धीवर अपने को जालोपजीवी कहता है। जाल डाल कर मछली पकड़ना इनका पेशा था।

शिल्पकार[6]—मूर्ति तथा प्रासाद आदि का निर्माण करने वाले शिल्पकार

---

१ कादम्बरीमालिकमस्माकं प्रथमसौहृदमिष्यते।
तच्छौण्डिकागारमेव मन्दाम ॥—अभि अंक ६ पृ ११

२ 'भवानपि सूनापरिसरचर इव वृध्र आमिषलोलुपो भीरुकश्च।
—माल अंक २ पृ २८६

३ अभि अंक १

४ धर्मशास्त्र का इतिहास पृ १८

५ मनुस्मृति १ ।४७

६ रघुवंश के १६वें सर्ग में कवि ने उजड़ी अयोध्या का वर्णन किया है जहाँ चित्रित (भूमि में) हाथी हथिनियाँ मूर्तियाँ बावड़ियाँ आदि के पढ़ने से अनुमान किया जाता है कि शिल्पकार कोई अवश्य था। शिल्पीसंघ से शिल्पियों के अनेक वर्गों का अभिप्राय है। आगे चलकर सर्ग १६, १८वें छन्द में निश्चित रूप से 'शिल्पिसंघा' इसकी पुष्टि कर देता है। शिल्पकार के लिए कवि ने 'शिल्पिसंघा' शब्द (रघु० १६।३८) प्रयुक्त किया है। इसके अन्तर्गत पाणिनि ने कुम्हार, बढ़ई, कुम्हार, रजक, धमक, बुनने वाले, सुनार, मणि लगाने वाले, लुहार आदि लिए हैं—(India as known to Panini by V S Agarwala Ch Iv)। इन सबसे ही कवि का आशय हो सकता है, यद्यपि जहाँ यह प्रयुक्त है वहाँ वास्तुकला के

समाज में स्थान—समाज में उनका क्या स्थान था यह इससे स्पष्ट हो जाता है—'शूद्रं मनुष्याणामश्वः पशूनाम् तस्मात्तौ भूतसंक्रमिणावश्वश्च शूद्रश्च तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः'[1] अर्थात् शूद्रों को किसी प्रकार का कोई अधिकार प्राप्त न था। शूद्रों का वास्तविक धर्म द्विजों की सेवा करना था। इनका ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों के समान कोई संस्कार नहीं होता था। ये वेद आदि नहीं पढ़ सकते थे। पवित्र मंत्रों को सुन भी नहीं सकते थे। इनके लिए विवाह आदि भी बिना वैदिक मन्त्रों के होते थे। मनु के अनुसार इनके समस्त धार्मिक कार्य बिना मन्त्र के होने चाहिए।[2] इनके लिए कुछ भी पाप नहीं है धर्म में इनका कुछ भी अधिकार नहीं है न किसी भी काम करने का प्रतिषेध है। ये किसी संस्कार के भी योग्य नहीं है।[3]

कालिदास अवश्य ही इस परम्परा के मानने वाले होंगे। उन्होंने चतुर्थ वर्ण का कई स्थानों में प्रयोग किया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि शूद्र भी उनके साथ न रहे होंगे। जिस प्रकार ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य प्राचीन आदर्शों के अनुसार जीवन व्यतीत करते थे उसी प्रकार ये भी करते होंगे। परन्तु चूँकि वर्ण-व्यवस्था तथा वे बन्धन शिथिल पड़ गये थे इस कारण शूद्रों के बन्धन भी उतने कठोर न होंगे। मालविकाग्निमित्र में 'वर्णावर'[4] शब्द आता है, जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है, कि शूद्रों के साथ भी विवाह हो जाते होंगे। हाँ उनको वह सम्मान चाहे न मिलता होगा जो समान वर्ण में विवाह करने में। नीच वर्ण की स्त्री से विवाह करने पर उत्पन्न संतान उतने अधिकार भी न प्राप्त करती होगी जितने समान वर्ण से उत्पन्न संतान। 'वर्णावरो भ्राता' इसी प्रकार का दूसरे वर्ण की स्त्री से उत्पन्न भाई था।

चाण्डाल तथा अन्य जातियाँ—चार वर्ण के अतिरिक्त भी अन्य मनुष्य थे जो विशेष रूप से किसी भी वर्ण के नहीं कहला सकते थे क्योंकि यदि माता-पिता एक ही वर्ण के होते थे तो संतान का भी वही शुद्ध वर्ण रहता था अन्यथा इस प्रकार का वर्णसंकर धीरे-धीरे उपजाति व उपवर्ण को जन्म देने लगा था। एक पेशे एवं एक व्यवसाय के मानने वाले अपना-अपना पृथक्

---

१ तैत्तरीय संहिता ७। १ १ ७

२ मनुस्मृति १ ।१२७

३ मनुस्मृति १ ।१२६

४ 'अस्ति देव्या वर्णावरो भ्राता वीरसेनो नाम।'
—माल अंक १ पृ २११

पृथक् समुदाय बनाये जाने लग गए थे। यह भी आगे चलकर भिन्न-भिन्न जातियों का जन्म-दाता बना। उदाहरण के लिए कहार, सुनार, कुम्हार, निषाद, रथकार, इषुकार, धीवर, लुब्धक इसी प्रकार की जातियाँ सम्मुख आईं। अधिकतर इस प्रकार की जातियाँ अपने पैतृक व्यवसाय को ही अपनाती थीं। शकुन्तला में यद्यपि धीवर का सबने उपहास किया था कि बड़ा अच्छा पेशा है, परन्तु उसने यही उत्तर दिया था कि जिस जाति को भगवान् जो काम देता है उसे छोड़ा नहीं जाता। पशुओं को मारना निर्दयता है पर वेदज्ञ ब्राह्मण यज्ञ के लिए पशुओं को मारते हैं[1]।

समाज में चाण्डाल का स्थान अति निकृष्ट था। चतुर्वर्ण के अतिरिक्त पाँचवें वर्ग में लुब्धक, जालोपजीवी, धीवर आदि आते हैं जिनसे समाज घृणा करता था। खान पान, स्पर्श सबके ही मार्ग में त्याज्य थे। ये नगर के बाहर रहते थे। भारतीय इतिहासकारों ने चीनी यात्री फाह्यान का ऐसा ही लेख उद्धृत किया गया है। मनुस्मृति में अन्त्यज शब्द ऐसे ही बहिष्कृत (चाण्डाल) व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त हुआ है[2]।

आभीर—जिनको कालिदास ने घोष[3] कहा है, वे आभीर ही थे। आजकल इन्हीं लोगों को अहीर कहा जाता है। परन्तु आभीर एक जनपद भी था। यह सिंध में था। वहाँ के निवासी आभीर कहे जाते थे। मनुस्मृति में ब्राह्मण और अम्बष्ठ कन्या की संतान आभीर कही गई है[4]। इनका काम एवं व्यवसाय दूध, घी और मक्खन आदि का होता था। रघुवंश में दिलीप के वशिष्ठ-तपोवन जाते समय घोषवृन्द ताजा मक्खन लेकर आते हैं और भेंट करते हैं[5]।

किरात—बरम्याम ने किरातों को शूद्र का ही अंश (सब-डिवीजन) कहा है[6]। मनुस्मृति के अनुसार किरात क्षत्रिय ही हैं। उपनयन आदि क्रियाओं के लोप से और ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा आदि न देने के कारण से शूद्रता को

---

१ सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्।
पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः ॥—अभि० अंक ६ १

२ मनुस्मृति अध्याय ८ ११

३ हैयंगवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान्।—रघु० १।४५

४ मनुस्मृति अध्याय १ १५

५ देखिए, इसी पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ३

६ धर्मशास्त्र का इतिहास द्वितीय जिल्द भाग १ पृष्ठ ७०

गन्धर्व[1] किन्नर,[2] विद्याधर,[3] अप्सरा[4]—अभी तक ये सब देव जातियाँ ही समझी जाती थीं परन्तु अभी हाल ही में श्री रांगेय राघव की एक पुस्तक 'प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास' प्रकाशित हुई है, जिसमें उन्होंने इन सब पर यथेष्ट प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि द्रविड़ जाति भी बाहर की ही आई जाति है, जो यहाँ भारत के मूल निवासियों से उसी प्रकार घुल-मिल गई जैसे बाद में आर्य। इन्हीं मूल निवासियों में वे यक्ष गंधर्व किन्नर का नाम लेते हैं"[5] (भूमिका पृष्ठ क)। द्रविड़ युग में भारत के

यवनी—मत एतदस्तावापवहितं धारासनम् —अभि अंक ६ पृ ११४
'राजा—अनुगुस्तावत्। यवनी—एषाऽभेष्यामि'।
—विक्रम अंक ५ पृ २४१

१ रघु ५।५१-५१

२ रघु ४।७८ कुमार १।८ १४ कुमार ३।६३ १८ कुमार ६।५६ अभि अंक ७

३ कुमार १।७ 'विद्याधर कामगमीनो दुःखविनिमयप्यायोस्मीति'
—विक्रम अंक ४

४ रघु ७।५१ राजा—'परस्वाम्नायत एव सखा अप्सरःसम्बन्धीया'
—अभि अंक १

उत्कण्ठसंभवामिमां विलोक्य, पीडिता सर्वा अप्सरस —विक्रम अंक १
'अस्युवशीग्यप्सरा —विक्रम अंक २

५ डा सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के अनुसार किरात भी मूलत भारत से बाहर से आए थे। द्रविड़ भाषी 'दास-दस्यु' तथा आग्नेय-देशीय निषाद वर्गों के अतिरिक्त आर्यों को संभवत कुछ चीन भोट-भाषी उपजाति मय भी (जिन्हें वैदिक काल से आर्य लोग 'किरात' कहते थे) हिमालय के पाद के प्रदेश तथा पूर्वी-भारत के कुछ स्थानों में मिले। ये 'किरात' भारतीय मंगोलाकार जन (Indo-Mongoloids) भारत में बहुत संभव है कि १००० वर्ष ई० पू० से भी बहुत पहले आ गये थे। उत्तर तथा पूर्वी-भारत के हिन्दू इतिहास और संस्कृति के विकास में इनका काफी बड़ा हिस्सा है।
—डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी १९५४ पृष्ठ ६१

किरात इस समय नेपाल की पूर्वी भाग में बसे हुए हैं। इनके चित्रों के देखने से ये मंगोलोत्तर प्रतीत नहीं होते। भागवत पुराण के साक्ष्य के अनुसार ये 'पाप' माने जाते थे—
किरातहूणान्ध्र पुलिन्द पुल्कसा आभीरकंका यवना खसादय।

उत्तर-प्रदेश में अनेक जातियाँ थीं ये यक्ष राक्षस गंधर्व किन्नर आदि ही थीं (भूमिका पृ छ)। यक्ष और रक्ष का मूल-मूल एक है। राक्षस और कुबेर भाई भाई कहे जाते हैं। इनके समाज मे स्त्री विलास की वस्तु न थी। पहले नर-नारी सम्बन्ध स्वतन्त्र रहे थे जो व्यक्तिगत सम्पत्ति बनने पर भी स्त्री को बच्चा पैदा करने वाली मशीन नहीं बना सकी। यही परम्परा थी (भूमिका पृष्ठ क)। देव से तात्पर्य देवता का नहीं है। इस भूमि पर देव जाति के अस्तित्व का भी स्वामी शंकरानंद ने उल्लेख किया है। अथर्ववेद में भी देव इसी पृथ्वी के वासी थे ऐसा कहा गया है। यह देव-जाति माम पीती थी और माम गंधर्वों से खरीदा जाता था (पृ १७) बाद में मूर्त रूप में गंधर्वों का वर्णन किया जाता था। इसी देव-योनि में विद्याधर अप्सरा गंधर्व किन्नर आदि हैं—

विद्याधराप्सरोयक्ष-रक्षोगन्धर्व-किन्नराः ।
पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः ॥—पृ ७१

यो रोगेम रावन किरात को भी जातिविशेष ही मानते हैं। *किरात-परिवार* हिमालय के आस-पास फैला था। वह देव का सहायक था (पृ ११५)। नाग विदेशी थे। नाग एक जाति नहीं अनेक कबीले या छोटी-छोटी जातियाँ थीं जो परस्पर भी लड़ती थीं। ये लोग प्रारम्भ में बंगाल में आकर बसे और यहीं द्रविड़ जाति-समूह तथा किरात-परिवार—यक्ष गन्धर्व किन्नर आदि से सम्बन्ध हुआ (पृ १२१)। गन्धर्व सेना का वर्णन कवि ने भी किया है—'पतङ्गतुल्या गन्धर्वसेना समाविष्टा (विक्रम अंक १)।

समाज में वर्ण-व्यवस्था का महत्त्व—सामाजिक अराजकता न फैलने पाए इसके लिए भारतवर्ष में सदा से ही वर्ण-व्यवस्था का महत्त्व है। पश्चिम में सदा नए-नए सिद्धान्त बने तथा शासन बदली गई जिनमें बाहर युद्ध और अन्दर हड़ताल बनी रहीं किन्तु भारत में यह उपद्रव कभी न छाया। व्यक्तिगत धार्मिक पवित्रता आत्मपूर्णता मानव के कल्याण की भावना नैतिकता की रक्षा साथ ही पारिवारिक सुख-शान्ति समाज के लिए बहुत कुछ महत्त्व रखती है। सामाजिक जीवन इन्हीं कर्तव्यों और आदर्श पर आधारित था। जब मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन सुखी रहता है तथा आदर्श होता है तभी सामाजिक जीवन भी शान्त रहता है। यदि व्यक्तिगत जीवन में आकांक्षाएँ बढ़ती जायें तो आर्थिक संघर्ष भी बढ़ेगा। अतः कालिदास ने वर्ण-व्यवस्था से समाज में एकता संगठन और सम्पूर्णता स्थापित किया। सभी मनुष्य समाज में एक बड़े परिवार के विभिन्न सदस्यों की भाँति रहते थे।

वर्ण-व्यवस्था का यही महत्त्व था। यह राष्ट्रीय सेवा और कार्यों का एक संगठन था जिसमें सब एक-दूसरे पर निर्भर रहते थे। जातियों का अभिप्राय एक-दूसरे को दबाना नहीं अपने अधिकारों की वृद्धि नहीं अपितु सहयोग एवं एकता थी। मनु का आदर्श कवि के भी सम्मुख था और तत्कालीन मनुष्यों के सम्मुख भी। (रघु १।१७ रघु १४।६७)

कालिदास ने बताया है कि ब्राह्मण लोग कैसे संयम और त्याग के साथ जीवन व्यतीत करते थे शिक्षा प्रदान करना उनका परम उद्देश्य था क्षत्रिय सबकी रक्षा करते थे आत्मसंयमी थे अपने सुन्दर सुचारु शासन से सबको प्रसन्न रखते थे।

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा॥

—रघु २।५३

इसी प्रकार दुष्यन्त का कहना—

'आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिता खलु पौरवाः'। —अभि० अंक २ १६

कवि ने वैश्यों के विषय में भी शकुन्तला में लिखा है कि वे अन्य देशों के साथ व्यापार कर देश के धन-धान्य की वृद्धि करते थे। शूद्र भी अपने व्यवहार में कुशल थे और अपनी पैतृक वृत्ति के प्रति अभिमानी थे। मछुआ कहता है—'सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयं। (अंक ६ श्लोक १)। शिल्पकार अहीर धीवर कर्मक आदि निम्नवर्ग के मनुष्य भी थे वे भी उसी समाज में रह कर उसके प्रति कर्तव्यों का पालन करते थे।

आश्रम

जीवन में आश्रम की महत्ता एवं उपयोगिता—वर्ण-धर्म से बड़ा आश्रम-धर्म था। कवि-समाज की सुव्यवस्था, एकता, संगठन और सन्तुलन के लिए, वर्ण की तरह आश्रम की महत्ता स्वीकार करता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति मानव जीवन का उद्देश्य है। अतः कवि मानव जीवन को इन्हीं चार उद्देश्यों के अनुसार बाँट देता है। यह समझना भूल है, कि प्राचीन काल के सब साधारण मनुष्य सांसारिक भोग के विरुद्ध थे। यदि ऐसा होता तो कवि गृहस्थ आश्रम को 'सर्वोपकारक्षमम्' (रघु ५।१०) न कहता। धर्म, अर्थ और काम तीनों ही मनुष्य-जीवन के लक्ष्य थे। तीनों का ही वे समान महत्त्व रखते थे, परन्तु इतना अवश्य है, कि उनकी दृष्टि में धर्म-रहित अर्थ-कामादि निकृष्ट थे। इसलिए वे कुमारसम्भव में शिव जी से कहलवाते हैं कि, "हे देवी आपके इस आचरण से ही मैं समझता हूँ कि धर्म, अर्थ और काम में धर्म ही सबसे उत्तम है, क्योंकि आप अर्थ और काम को छोड़ कर इसी का आश्रय लिए हुए हैं।"[1]

यहाँ धर्म प्रधान था। मोक्ष की प्राप्ति चरम लक्ष्य थी। परन्तु संन्यास कवि का उद्देश्य नहीं था। मनोविज्ञान के पूर्ण पंडित कालिदास इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि नैसर्गिक प्रवृत्तियों को दबाना उचित नहीं। प्रवृत्तियाँ दब जाती हैं, पर नष्ट नहीं हो सकतीं। इनको जितना दबाया जायगा प्रतिक्रिया उतनी ही गहरी होगी। अतः युवावस्था में विवाह, भोग और काम को भी वह उतना ही आवश्यक समझते हैं, जितना वृद्धावस्था में संन्यास को। गीता के इस सिद्धान्त पर कवि की आस्था बड़ी गहरी लगती है कि आहार न मिलने से इंद्रियाँ विषयों से विरत अवश्य हो जाती हैं परन्तु रस का भावना बनी ही रहती है। अतः वस्तु का भोग करने के पश्चात् यदि उसको छोड़ा जाय तो

---

[1] अनेन धर्मः सविशेषमद्य मे त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भामिनि।
त्वया मनोनिर्विषयार्थकामया यदेक एव प्रतिगृह्य सेव्यते॥

कुमार ५।३८

यह विरक्ति और त्याग ही सच्चा त्याग होगा[1]। कवि इसलिए गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थ और संन्यास कहता है। ब्रह्मचर्याश्रम में मनुष्य ज्ञान और विद्या के उपार्जन से अपने विवेक को संगठित करता है। इसी अवस्था में उसकी बुद्धि इतनी परिष्कृत रहती है, कि नई वस्तु सरलता से और सदा के लिए ग्राह्य हो जाती है।

इसी मनोवैज्ञानिक आधार पर आश्रमों की नींव पड़ी। प्रारम्भ में ब्रह्मचर्याश्रम जिसमें विद्यार्थी गुरु के पास जाकर विद्या पढ़ता है, युवावस्था में गृहस्थाश्रम जिसमें व्यक्ति विवाह पर गृहस्थ जीवन आरम्भ करता है तत्पश्चात् वानप्रस्थ जिसमें मनुष्य धीरे-धीरे सांसारिक मोह से अपना मन हटाकर भगवान् की ओर उन्मुख होता है और सबसे अन्त में संन्यास जिसमें सांसारिक लोभ और मोह को बिलकुल छोड़ मनुष्य भगवान् में ही अनुरक्त हो जाता है।

कवि भी इसी सिद्धान्त पर आस्था रखता है। आयु के चार विभाग कर क्रमशः चार आश्रमों की उसने स्थापना की। शैशव में विद्याभ्यास, युवावस्था में भोग, वार्धक्य (प्रौढ़ावस्था) में मुनिवृत्ति और अन्त में परमात्मा का ध्यान करते हुए योग से तनुत्याग[2]—इनका आदर्श था। कवि ने प्रथम आश्रम[3], द्वितीय आश्रम, अन्त्याश्रम[5] आदि शब्दों का व्यवहार किया है जो क्रमशः ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम व संन्यासाश्रम के द्योतक हैं। यह उसका विभाजन आयु के चार भागों से सर्वथा मेल खाता है।

सामान्य जनों के लिए यही नियम था, परन्तु सब क्रमशः ब्रह्मचर्य से गृहस्थ, गृहस्थ से वानप्रस्थ, वानप्रस्थ से संन्यास लें, ऐसा कोई कठोर नियम नहीं था। श्री काणे ने अपनी पुस्तक धर्मशास्त्र के इतिहास में[6] आश्रम के प्रसंग में समुच्चय, विकल्प और बाधा तीन सम्मतियाँ बताई हैं। समुच्चय को सबसे बड़ा मानने

१ विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥—गीता २।५९

२ शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥—रघु० १।८

३ विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा ॥—कुमार०,

४ अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग्विनीयानुमतो गृहाय।
कालो ह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते ॥—रघु ५।१०

५ 'न विस्मभमसम्यमाभिनी निवसमन्त्याश्रमये पुरा गृहे' —रघु ८।१४

६ धर्मशास्त्र का इतिहास पृ० ४२४

वाले मनु हैं। इस पक्ष वालों का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति को चारों आश्रमों का पालन करना चाहिए। विकल्प में मनुष्य की इच्छा है, वह ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे अथवा परिव्राजक बन जाय। जाबालोपनिषद् वसिष्ठ-धर्मसूत्र और आपस्तम्ब धर्मसूत्र इसके समर्थक हैं। गौतम और बौधायन केवल एक ही आश्रम गृहस्थाश्रम मानते हैं ब्रह्मचर्याश्रम गृहस्थाश्रम की तैयारी है और शेष दो गृहस्थाश्रम की तुलना में अति निकृष्ट हैं। यही तीसरी सम्मति बाधा है। पी॰ वी॰ काणे ने इन सब मतों का विस्तृत विवेचन किया है[1]।

ये सभी ग्रन्थ अति प्राचीन और निस्सन्देह कालिदास के पूर्वकालीन ही हैं। अतः कवि भी किसी विशेष नियम के ऊपर नहीं चलता। कण्व आजन्म ब्रह्म-चारी थे[2]। अतः ध्वनि निकलती है कि उनके समय में व्यक्ति यदि चाहते तो ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं करते थे। स्वयं शकुन्तला के लिए दुष्यन्त ने पूछा था कि शकुन्तला का यह तपस्विनी वेश विवाह होने तक ही रहेगा अथवा वह सारा जीवन इसी प्रकार इन हरिणाङ्गनाओं के साथ ही व्यतीत कर देगी[3]। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विवाह मनुष्य की इच्छा पर निर्भर था कर अथवा नहीं। यह भी सम्भावना हो सकती है कि वर्ण व्यवस्था के समान आश्रम-व्यवस्था भी छिन्न-भिन्न हो गई हो। बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों की सत्ता ने आश्रम-व्यवस्था को कदाचित् अव्यवस्थित कर दिया हो। इस प्रसंग में एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। शैशवेऽभ्यस्त विद्यानाम् यौवने विषयैषिणाम् में यौवन शब्द बहुत कुछ इस अव्यवस्था की ओर संकेत करता है। इससे १६, १७ वर्ष तक की ध्वनि निकलती है अतः २५ वर्ष वाला ब्रह्मचर्य जीवन अब नहीं रह गया था।

प्रथम आश्रम और छात्र जीवन—प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम था। इसमें बालक गुरु के पास जाकर विद्या प्राप्त करता था। कालिदास के ग्रंथों में उल्लेख ही आश्रम थे। वे ही शिक्षा के केन्द्र भी थे। कण्व का आश्रम वाल्मीकि-आश्रम और वसिष्ठाश्रम इसी प्रकार के शिक्षा-केन्द्र थे। परन्तु

१ धर्मशास्त्र का इतिहास पृ० ८ ४

२ 'प्रदक्षिणीकरुत ... इति ब्रह्मचारी' —अभि० अं० १ पृ० ११

३ वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानाद्व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्।
अत्यन्तमेव मदिरेक्षणवल्लभाभिराहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः॥
—अभि० अं० १ ३१

यह विरक्ति और त्याग ही सच्चा त्याग होगा[1]। कवि इसलिए गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थ और संन्यास कहता है। ब्रह्मचर्याश्रम में मनुष्य ज्ञान और विद्या के उपार्जन से अपने विवेक को संगठित करता है। इसी अवस्था में उसकी बुद्धि इतनी परिष्कृत रहती है, कि नई वस्तु सरलता से और सदा के लिए ग्राह्य हो जाती है।

इसी मनोवैज्ञानिक आधार पर आश्रमों की नींव पड़ी। प्रारम्भ में ब्रह्मचर्याश्रम जिसमें विद्यार्थी गुरु के पास जाकर विद्या पढ़ता है, युवावस्था में गृहस्थाश्रम जिसमें व्यक्ति विवाह पर गृहस्थ जीवन आरम्भ करता है, तत्पश्चात् वानप्रस्थ जिसमें मनुष्य धीरे-धीरे सांसारिक मोह से अपना मन हटाकर भगवान् की ओर उन्मुख होता है और सबसे अन्त में सन्यास जिसमें सांसारिक भोग और मोह को बिलकुल छोड़ मनुष्य भगवान् में ही अनुरक्त हो जाता है।

कवि भी इसी सिद्धान्त पर आस्था रखता है। आयु के चार विभाग कर क्रमशः चार आश्रमों की उसने स्थापना की। शैशव में विद्याभ्यास युवावस्था में भोग वार्धक्य (प्रौढ़ावस्था) में मुनिवृत्ति और अन्त में परमात्मा का ध्यान करते हुए योग से तनुत्याग[2]—इसका आदर्श था। कवि ने प्रथम आश्रम[3] द्वितीय आश्रम[4] अन्त्याश्रम[5] आदि शब्दों का व्यवहार किया है जो क्रमशः ब्रह्मचर्याश्रम गृहस्थाश्रम व सन्यासाश्रम के द्योतक हैं। यह उसका विभाजन आयु के चार भागों से सर्वथा मेल खाता है।

सामान्य जनता के लिए यही मार्ग था परन्तु सब क्रमशः ब्रह्मचर्य से गृहस्थ गृहस्थ से वानप्रस्थ वानप्रस्थ से संन्यास लें ऐसा कोई कठोर नियम नहीं था। श्री काणे ने अपनी पुस्तक धर्मशास्त्र के इतिहास में[6] आश्रम के प्रसंग में समुच्चय विकल्प और बाध तीन सम्मतियाँ बताई हैं। समुच्चय को सबसे बड़ा मानने

१ विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥—गीता २।५९
२ शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥—रघु० १।८
३ 'विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा'।—कुमार०,
४ अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग्विनीयानुमतो गृहाय।
कालो ह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते॥—रघु ५।१०
५ 'स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथे पुराद्बहिः' —रघु ८।१४
६ धर्मशास्त्र का इतिहास पृ ४२८

वाले मनु हैं। इस पक्ष वालों का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति को चारों आश्रमों का पालन करना चाहिए। विकल्प में मनुष्य की इच्छा है, वह ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे अथवा परिव्राजक बन जाय। जाबालोपनिषद्, वसिष्ठ धर्मसूत्र और आपस्तम्ब धर्मसूत्र इसके समर्थक हैं। गौतम और बौधायन केवल एक ही आश्रम — गृहस्थाश्रम मानते हैं। ब्रह्मचर्याश्रम गृहस्थाश्रम की तैयारी है और शेष दो गृहस्थाश्रम की समता में अति निकृष्ट हैं। यही तीसरी सम्मति वाला है। श्री काणे ने इन सब मतों का विस्तृत विवेचन किया है[1]।

ये सभी ग्रन्थ अति प्राचीन और निस्सन्दिग्ध कालिदास के पूर्वकालीन ही हैं। अतः कवि भी किसी विशेष नियम के ऊपर नहीं चलता। कण्व आजन्म ब्रह्मचारी थे[2]। अतः ध्वनि निकलती है कि उनके समय में व्यक्ति यदि चाहते तो ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं करते थे। स्वयं शकुन्तला के लिए दुष्यन्त ने पूछा था कि शकुन्तला क्या यह तपस्विनी व्रत विवाह होने तक ही रखेगी अथवा यह सारा जीवन इसी प्रकार इन हरिणांगनाओं के साथ ही व्यतीत कर देगी[3]। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विवाह मनुष्य की इच्छा पर निर्भर था करे अथवा नहीं। यह भी सम्भावना हो सकती है, कि वर्ण व्यवस्था के समान आश्रम-व्यवस्था भी छिन्न-भिन्न हो गई हो। बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों की सत्ता ने आश्रम-व्यवस्था को कदाचित् अव्यवस्थित कर दिया हो। इस प्रसंग में एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। 'शैशवेऽभ्यस्त विद्यानाम् यौवने विषयैषिणाम्' में शैशव शब्द कहते हुए इस अवस्था की ओर संकेत करता है। शैशव शब्द से १६ १७ वर्ष तक की ध्वनि निकलती है, अतः २५ वर्ष वाला ब्रह्मचर्य जीवन अब नहीं रह गया था।

प्रथम आश्रम और छात्र-जीवन—प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम था। इसमें बालक गुरु के पास जाकर विद्या प्राप्त करता था। कालिदास के समय में तपोवन ही ऋषियों के आश्रम थे। ये ही शिक्षा के केन्द्र भी थे। कण्व का आश्रम, वाल्मीकि-आश्रम और वसिष्ठाश्रम इसी प्रकार के शिक्षा-केन्द्र थे। भरत

1 धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ४२४
2 'भगवान्काश्यपः शाश्वते ब्रह्मणि स्थित इति प्रकाशः' —अभि० अंक १ पृ० १६
3 वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानाद्व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्।
अत्यन्तमेव मदिरेक्षणवल्लभाभिराहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः॥
—अभि० अंक १, २७

पुरूरवा-पुत्र आयुष और रघुवंशी राजपुत्रों ने इन्हीं आश्रमों म जाकर ज्ञान प्राप्त किया था। परन्तु प्रत्येक के लिए गुरु के आश्रम म जाकर विद्या प्राप्त करना अनिवार्य नहीं था। सम्पन्न लोग घर में ही शिक्षक रखकर बालकों को पढ़ाते थे जैसा मालविकाग्निमित्र में कवि ने दिखाया है। कहीं-कहीं पिता पुत्र को यथा रघु को दिलीप ने धनुर्विद्या की शिक्षा दी थी और पति पत्नी को[2] (इन्दुमती ने ललित कलाओं में अज से शिक्षा प्राप्त की थी) शिक्षा दिया करता था।

उपनयन-संस्कार के पश्चात् छात्र-जीवन प्रारम्भ हो जाता था। रघु के यज्ञोपवीत की समाप्ति पर चतुर विद्वानों ने उसे पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया था। छात्र के लिए बटु,[3] वर्णी[4] शिष्य[5] आदि शब्द कवि ने प्रयुक्त किए हैं।

ब्रह्मचारी-वेश—ब्रह्मचारी बनते समय बालक काकपक्षधारी[6] ही रहता था। वैसे भी उसे वर्णादि सँवारने की अनुमति नहीं होती थी। अतः उसकी जटाएँ रहती थीं। वह मृगचर्म धारण करता था। उसके हाथ में पलाश-दंड रहता था। ब्रह्मचर्य का तेज उसके मुख पर सदा चमकता रहता था। इन सबके अतिरिक्त प्रगल्भवाक् होना उसका विशिष्ट गुण था जो उसने कितनी विद्या पढ़ी कितना ज्ञान प्राप्त किया आदि का बोध कराता था। कुमारसम्भव में ब्रह्मचारी-वेश को कवि ने अत्यन्त सुन्दरता के साथ वर्णित किया है—

अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग्ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा।
विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा॥—कुमार ५।३

---

१ स्वर्गं च मेध्यां परिणाम गौरवीमविदानास्त पितुरेव मन्त्रवत् —रघु ३।३१
२ 'गृहिणीसचिव सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ —रघु ८।६७
३ निवायनामादि क्रियमर्थं बटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः —कुमार ५।८३
४ अथाह वर्णी विदितो महेश्वरस्तदर्थिनी त्वं पुनरेव वर्तसे—कुमार ५।६५
वर्णाश्रमाणां गुरवे स वर्णी विचक्षणः प्रस्तुतमाचचक्षे—रघु ५।१९
५ तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशं निःशेषविश्राणितकोशजातम्।
उपात्तविद्यो गुरुदक्षिणार्थी कौत्सः प्रपेदे वरतन्तुशिष्यः॥—रघु ५।१
स्वाधीनर्मात प्रति दुरन्तानामिरनाथवरतन्तुशिष्य —रघु ५।१२
—तथापि दानीमेव धर्मारण्यानुशिक्षाय गुरुरध्यापकानि कर्माणिग्याणामस्मि
नाम्नि निर्दिशुम्—अभि पृ ८१
६ स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत्॥—रघु ३।२८

रघु ने भी त्वचा मेखला और रौरवी को धारण किया था इसका उल्लेख है[१]।

यह वेश-भूषा निरर्थक नहीं थी। जटाओं को धारण करना तथा मृगचर्म पहनना इस बात का सूचक था कि छात्र संसार के ऐश-आराम और भोग से दूर रहें। इसके अतिरिक्त यह वेश सबके लिए ही एक-सा था। धनी और निर्धन का मद दूर हो जाय और सबको सरलता से प्राप्त हो जाय यही उसका रहस्य था। अकेले जंगलों में ब्रह्मचारी घूमते थे। अतः जंगली जानवरों से रक्षा करने के लिए हाथ में पलाश-दंड का होना आवश्यक था[२]। तीन लड़ की मेखला यह प्रमाणित करती थी कि वह तीन वेदों से घिरा हुआ है।

छात्र-जीवन—ब्रह्मचारी बालक से ही छात्र जीवन प्रारंभ हो जाता था। अतः ७ ८ वर्ष की अवस्था से विद्या पढ़ानी प्रारंभ कर दी जाती होगी। विद्यार्थी प्रातःकाल बहुत जल्दी उठते थे। स्नानादि के पश्चात् गुरुजी से वेद पढ़ने बैठ जाते थे[१]। रघुवंश में राजा दिलीप की नींद आश्रम में तब ही खुली थी जब उनके कानों में वशिष्ठ जी के वेद-पाठ कराने की ध्वनि गई[३]। प्रातःकाल का समय अतः अध्ययन का समय था। गुरु शिष्यों को लेकर वन में जब घूमने जाते थे वहाँ मार्ग में भी वे उनको अनेक प्रकार की शिक्षा देते हुए उनके ज्ञान की वृद्धि किया करते थे[४]। सायंकाल के समय ईश्वर-वन्दना और यज्ञादि होता था। यज्ञ के धुएँ से ही मालूम हो जाता था कि सायंकाल हो गया और प्रार्थना की जा रही है[५]। संध्या के अग्निहोत्र के लिए तपस्वीगण समिधा कुश और फल

---

१ त्वचं च मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत्।—रघु ३।३१

२ He is really a traveller out on a long road leading to the realm of knowledge. So staff was the traveller s symbol.

—Education in Ancient India by Dr A. S Altekar

३ निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशालामध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः।
तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां संविष्टः कुशशयने निशां निनाय॥

—रघु १।९५

४ पूर्ववृत्तकथितैः पुराविदः सानुजः पितृसखस्य राघवः।
उह्यमान इव वाहनोचितः पादचारमपि न व्यभावयत्॥—रघु ११।१०

५ अभ्युत्थिताग्निपिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान्।
पुनानं पवनोद्धूतैर्धूमैराहुतिगन्धिभिः॥—रघु १।५३

लेकर वन से लौटते थे[1]। रात्रि में पर्णशाला में कुश की चटाई पर सब सोते थे[2] अथवा पृथ्वी पर मृगचर्म बिछा रहता था इस पर सो जाते होंगे[3]। प्रकाश के लिए हिंगोट के तेल का दिया जलता रहता था[4]। खाने के लिए उनको कन्दमूल[5] मिलता था। इन सबसे यह निष्कर्ष निकलता है कि उनका आश्रम सादा जीवन—उच्च विचार था। खाना-पीना रहन-सहन सभी कृत्रिमता से दूर सरल भावों से परिपूर्ण था। आश्रम के शान्त वातावरण में गुरु की सेवा करता हुआ तथा अत्यन्त सात्त्विक विधि से जीवन व्यतीत करता हुआ बालक विद्याध्ययन करता था।

प्रथम आश्रम का महत्त्व—यह शान्त वातावरण उनके चरित्र का विधायक था। स्वभाव की उग्रता और क्रोध नष्ट होकर छात्र विनयशील नम्र और आज्ञाकारी हो जाता था[6]। घर की चिन्ताओं से दूर रहकर अध्ययन पढ़ाई में पूरी तौर से मन लगाते थे। गुरु के पास उच्च शिक्षा प्राप्त कर हर प्रकार से निपुण हो वे गुरु की अनुमति प्राप्त कर पुनः गृह में लौट आते थे[7]। कौत्स ऋषि इसका उदाहरण हैं।

विद्यार्थियों का समाज में स्थान—विद्यार्थियों का समाज में बहुत आदर था। यहाँ तक कि राजा भी ब्रह्मचारी का बहुत आदर करता था। उसकी प्रत्येक इच्छा को पूरी करना न केवल गृहस्थ का कर्तव्य था अपितु राजा का भी। वरतन्तु के शिष्य कौत्स के पधारने पर रघु सिंहासन से उठकर खड़े हो गए। कुशल-क्षेम पूछने के पश्चात् उन्होंने कहा कि आपके आने से मेरा मन नहीं भरा मुझे कुछ सेवा करने की भी आज्ञा दीजिए। यद्यपि रघु विश्वजित्

---

१ वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः ।
पूर्यमाणमदृश्याग्नि प्रत्युद्यानैस्तपस्विभिः ॥—रघु १।४९

२ निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशालामध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः ।
तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां संविष्टः कुशशयने निशां निनाय ॥
—रघु १।९५

३ तामिङ्गुदीस्नेहकृतप्रदीपमास्तीर्णमेध्याजिनतल्पमन्तः ।
तस्यै सपर्यानुपदं दिनान्ते निवासहेतोरुटजं वितेनुः ॥—रघु १४।८१

४ देखिए, पादटिप्पणी न ३

५ वन्येन सा वल्कलिनी शरीरं पत्युः प्रजासन्ततये बभार ।—रघु १४।८२
निमज्जनार्थं [illegible] ।—रघु १।१५

६ [illegible] ।—रघु ५।१

यज्ञ में सब कुछ दान कर चुके थे पर कौत्स के मुख से यह सुनकर कि उनको गुरुदक्षिणा के लिए १४ करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं की आवश्यकता है, वे निराश नहीं हुए, न शिष्य को ही उन्होंने वापस लौटा दिया वरन् मुद्राएँ देकर ही विदा किया।

गृहस्थाश्रम—मनोविज्ञान में पूर्ण दक्ष कालिदास इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि यौन भावों की तृप्ति के बिना व्यक्ति की इन्द्रियाँ बाहर न मिलने के कारण विषयों से विरक्त भले ही हो जायें पर यह विरक्ति वास्तविक न होगी उनमें रस की भावना बनी ही रहेगी। अत आत्मा को संसार से विरक्त कर भगवान् में लगाना यदि थोड़ी-सी भी रस भावना अवशिष्ट है तो भ्रम ही है। इसलिए उनकी दृष्टि में ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम अवश्य आना चाहिए— अदि वस्तु उपनिं त्वया पूर्वस्मिन्नाश्रमे। द्वितीयमप्याश्रमं तव समय — (विक्रम अक ६ पृष्ठ २४१)। उन्होंने अपने सम्पूर्ण ग्रन्थों में गृहस्थाश्रम की महत्ता बखानी है। महायोगी शिवजी को भी गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट कराया है और उनके मुख से कहलवाया है— क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्' [1]।

कवि की 'द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते [2] इस उक्ति में अपनी ध्वनि अधिक है। सब आश्रमों में उन्होंने इसी आश्रम को सबसे ऊँचा स्थान दिया। मनु भी गृहस्थाश्रम को सब गुणों का सार कहते हैं। जिस प्रकार वायु से समस्त प्राणी जीवित रहते हैं उसी प्रकार गृहस्थाश्रम पर ही अन्य आश्रम आश्रित हैं। चूँकि अन्य आश्रमों के मनुष्य गृहस्थ के अन्न और दान पर ही निर्भर हैं अत यह आश्रम सबसे उत्तम है। जैसे नदियाँ समुद्र में जाकर शान्त हो जाती हैं उसी प्रकार अन्य आश्रमों के व्यक्ति के लिए गृहस्थाश्रम आधार है। इसी कारण वेद स्मृति सब इस आश्रम को उत्तम कहते हैं। कालिदास के मत में गृही ही है

१ कुमारसम्भव ६।१३

२ रघु ५।१०

३ यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्वआश्रमाः ॥—मनु ३।७७
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥—मनु ३।७८
सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति हि ॥—मनु ६।८९
यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥—मनु ६।९०

जिसके पास उसकी प्रेमसी हो[1]। अपने प्रेमी के पास ही शरीर का सारा सुख है[2]। स्त्री के बिना सब सुखों का अभाव हो जाता है, सम्पूर्ण आनन्द-उत्सव उसके बिना फीके पड़ जाते हैं[3]। समस्त ऋतुसंहार और मेघदूत इस बात के अकाट्य प्रमाण हैं कि सबसे बड़ा सुख प्रिया का साहचर्य एवं प्रियालिंगनजन्य आनन्द है।

गृहस्थाश्रम की सफलता—कवि गृहस्थाश्रम की सफलता कामोपभोग और पुत्र में मानता है। महादेवजी ने पुत्र के लिए विवाह किया[4] परन्तु कामोपभोग भी उनका उद्देश्य था[5]। सम्पूर्ण अष्टम सर्ग शिवजी की रतिलीला से भरा पड़ा है। मेघदूत और ऋतुसंहार भी कामोपभोग गृहस्थाश्रम की सफलता है, इसके साक्षी हैं।

विवाह और गृहस्थाश्रम की सफलता पुत्रोत्पत्ति में थी। अतः पुत्र होने का आशीर्वाद ही सौभाग्यवती स्त्रियों और विवाहित पुरुषों को दिया जाता था[6]। राजा दिलीप की नन्दिनी-सेवा राजा दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ इसकी पुष्टि करते हैं। न केवल वंश चलाने के लिए पुत्र की आवश्यकता थी[7] अपितु दाम्पत्य प्रेम की यह ग्रन्थि थी। सन्तानोत्पत्ति से दम्पति का प्रेम कम नहीं होता अपितु बढ़ता ही है। सन्तान की प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं कि तपश्चर्या और दान का सुख तो इसी लोक में है, परन्तु शुद्ध सन्तान इस लोक और परलोक दोनों में ही सुख

---

१ मत्तासोके भवति सुखितोऽप्यन्यथावृत्तिचेतः
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे।—मेघ० १
२ स्वशरीरं सर्व देहिना सुखम्।—कुमार ४।१
३ धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता विरतं गेयमृतुर्निरुत्सवः।
गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे॥—रघु ८।६६
४ स्वार्थं पुत्रापुरैव हि विपुलानिव चामरं।
अरिविप्रकृतैर्देवैः प्रसूतिं प्रतियाचित॥—कुमार ६।२७
अत आत्मानुविवृत्तानि पार्वतीमात्मजन्मने ...—कुमार० ६।२८
५ पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः।
कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः॥
—कुमार ६।९५
६ विस्तृत विवरण 'विवाह' अध्याय के अन्तर्गत विवाह के उद्देश्य में मिलेगा।
७ देखिए पारम्परीण ने १।

देनेवाली है[1]। सन्तान स्त्री और पुरुष के प्रेम की मध्य शृंखला है[2]। पुत्र आह्लाद का विशेष कारण है। बच्चों की तुतली बोली, उँगली पकड़कर चलना सिर झुकाकर बड़ों को प्रणाम करना आदि देख-देखकर माता-पिता को असीम आह्लाद प्राप्त होता है कवि की दृष्टि में यह आनन्द दुर्लभ है[3]। निस्सन्तान दुष्यन्त भरत को देखकर सोचता है, 'यह नटखट बालक कितना प्यारा है! वह व्यक्ति भी धन्य है जिसकी गोद में बैठकर स्वभाव से हँसमुख कली के समान झलकते दाँतों वाला यह तुतला कर बोलते हुए अपने अंग की धूल से उसकी गोद मैली कर देता होगा[4]। बालक को देखकर माता-पिता की आँखें वात्सल्य से भर जाती हैं और उसे हृदय से लगाने की अभिलाषा होती है[5]।

पुत्र की प्राप्ति आनन्द के लिए नहीं की जाती थी वरन् धर्म में भी इसका बहुत बड़ा स्थान था। बिना पुत्र के पितरों के ऋण से छुटकारा नहीं मिल सकता था। यह लोक के अंधेरे को दूर करने वाली ज्योति थी[6]। पुत्र के अभाव में ऐसा विश्वास किया जाता था कि पितर तर्पण न पाकर नरक के भागी होते हैं। इसी कारण दुष्यन्त यह सोचता है कि मेरे पितर दुःखी होकर, कि

---

१ लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम्।
सन्ततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे ॥—रघु १।६९

२ रथाङ्गनाम्नोरिव भावबन्धनं बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम्।
विभक्तमप्येकसुतेन तत्तयोः परस्परस्योपरि पर्यचीयत ॥—रघु ३।२४

३ उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम्।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥
तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि।
उपान्तसंमीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ ॥—रघु ३।२५ २६

४ आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासैरव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन्।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति ॥
—अभि ७।१७

५. बाष्पायते निपतिता मम दृष्टिरस्मिन् वात्सल्यबन्धि हृदयं मनसः प्रसादः।
संजातवेपथुभिरुज्झितधैर्यवृत्तिरिच्छामि चैनमदयं परिरब्धुमङ्गैः ॥
—विक्रम ५।९

६ न चोपलेभे पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम्।
सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोकतमोपहम् ॥—रघु १ ।२

[illegible] ।—रघु १।१२६

भी धार्मिक कृत्य बिना पति के सहयोग के नहीं कर सकती[१]। रामचन्द्रजी को यज्ञ में सीता की अनुपस्थिति मे उनकी सुवर्ण-मूर्ति इसलिए रखनी पड़ी थी[२] कि बिना पत्नी के धार्मिक कृत्य हो नहीं सकता था।

सन्ध्या तपण, होम और यज्ञ

सन्ध्या—प्रात काल तथा सन्ध्या समय सन्ध्योपासना अथवा सन्ध्यावंदना गृहस्थ का कर्तव्य था। इसके अन्तर्गत *गायत्री तथा अन्य मंत्रों* का जाप मुख्य समझा जाता था। स्वयं शिव भी भी सन्ध्या के समय तपस्विनी को अर्घ्य और जाप आदि से युक्त देखकर पार्वती की अनिच्छा होने पर भी उन्हें छोड़ कर सन्ध्या करने चले जाते हैं और गृहस्थ का कर्तव्य पालन करते हैं[३]। यह सन्ध्या जैसा कि 'पाणिमुक्तजलसुधा' (कुमार ८।४७) से प्रकट है, नदी मे खड़े होकर की जाती थी। परन्तु कदाचित् गृहस्थों को घर के भीतर करने की भी अनुमति दे दी जाती होगी क्योंकि ऐसी सुविधा उनको प्राप्त नहीं हो सकती।

एक प्रकार से यह सूर्य-पूजा है, क्योंकि अर्घ्य सूर्य को ही दिया जाता है। सन्ध्या के अन्तर्गत अर्घ्य जाप उपस्थान अघमर्षण मार्जनादि का उल्लेख भी असाक्षात् रूप से कवि कालिदास ने किया है।

होम—सन्ध्या के पश्चात् होम गृहस्थ का कर्तव्य है। दोनों समय सन्ध्या के समय पश्चात् होम किया जाना चाहिए। तपोवन जहाँ सभी सन्ध्या के समय होम करते थे होम-धूम से भर जाता था[४]। यह उस समय का प्रचलित विश्वास था कि मनुष्य को तीन ऋण चुकाने पड़ते हैं। देव-ऋण के लिए यह यज्ञ करता है तथा जीवन भर उसे अग्निहोत्र का करना आवश्यक है।

---

१ धाम धमचरणेऽपि परवशोऽयं जन।—अभि पृ २१

२ सकामस्यसमागमोऽपि वैदेह्या पत्युः प्राणेश्वरासित।
अनन्यजाने सैवासीद्यस्माज्जायाहिरण्मयी॥—रघु १५।६१

३ अद्रिराजतनये तपस्विनः पावनाम्बुविहिताञ्जलिक्रिया।
ब्रह्मगूढमभिसन्ध्यमादृता शुद्धये विधिविदो गृणन्त्यमी॥
तन्मुहूर्तमनुमन्तुमर्हसि प्रस्तुताय नियमाय मामपि।
त्वा विनोदनिपुण सखीजनो वल्गुवादिनि विनोदयिष्यति॥—कुमार ८।४७ ४८

४ विव सायंतनस्याग्ने स दृदश तपोनिधिम्—रघु १।५९
मल्लिनाथ—निर्वाणपहीभावनुष्ठानस्याग्नेरवसाने, इसी की टीका

५ अग्न्युन्मिषन्मानिपितुर्मरुविपीनाधमोऽमुनाम्।
पुनान पवनोद्धूतैर्धूमैराहुतिगन्धिभि॥—रघु १।५३

ऋषि-ऋण के लिए यज्ञादि का स्वाध्याय तथा पितृ-ऋण के लिए विवाह, गृहस्थ का कर्तव्य है[1]।

देव-ऋण के सम्बन्ध में अग्निहोत्र का प्रसंग आता है। गृहस्थ के घर तीन पूजनीय अग्नियाँ सदा संचित रहती थीं जिनका नाम गार्हपत्य, दाक्षिणात्य और आहवनीय है। ये सब त्रेताग्नि कहलाती थीं[2]। जो एक बार इन अग्नियों को जला देता था उसका परम कर्तव्य था कि प्रतिदिन प्रातःकाल और सन्ध्या समय इसमें आहुति दे। विवाह के समय जो अग्नि प्रज्वलित की जाती थी वही वर वधू के गृह से चलते समय अपने घर ले जाता था। इसकी पूजा वह, उसकी पत्नी और उसके पुत्र प्रतिदिन किया करते थे।

ऋषि-ऋण में वैदिक स्वाध्याय आता है। यद्यपि कवि ने नामोल्लेख नहीं किया परन्तु उसने तीन वेदों के नाम अवश्य लिए हैं। अतः वह वैदिक स्वाध्याय पर भी विश्वास करता था[3]। गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करने पर भी वैदिक शिक्षा समाप्त नहीं हो जाती थी। प्रतिदिन जितना उसने पढ़ा उसकी कंठस्थ पुनरावृत्ति आवश्यक थी। जितना भी अधिक-से-अधिक उसे याद हो वह प्रतिदिन शाम दुहराया करता था। यदि उसे कुछ न आता हो तो केवल गायत्री मन्त्र का जाप करने से भी काम चल जाता था।

तर्पण—मध्याह्न के समय स्नान के साथ तर्पण किया जाता था। देवता ऋषि और पितृ तीनों को ही तर्पण दान करना गृहस्थ के लिए आदरणीय था। यह वैसे प्रतिदिन ही प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य था परन्तु मृत्यु के पश्चात् उसका तर्पण करना अवश्यम्भावी था।

पञ्च महायज्ञ—देवयज्ञ पितृयज्ञ भूतयज्ञ मनुष्ययज्ञ तथा ब्रह्मयज्ञ प्रत्येक गृहस्थ के लिए आवश्यक था। देवयज्ञ देवताओं के प्रति भक्ति और श्रद्धा का परिचायक था। प्रतिदिन की अग्निपूजा देवयज्ञ का प्रतीक था। अपने पूर्वजों के प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन और उनकी मधुर स्मृति में तर्पणादि करना पितृयज्ञ कहलाता था। समस्त भूत (प्राणी) कुत्ते कीड़े आदि के लिए अन्नभाग रखना

---

१ ऋषिदेवगणस्वधाभुजां श्रुतयागप्रसवैः स पार्थिवः ।
अनृणत्वमुपेयिवान्बभौ परिधेर्मुक्त इवोष्णदीधितिः ॥—रघु ८।१

२ स त्वं प्रशस्ते महिते मदीये वसंश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे ।
द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोढुमर्हन्यावद्यते साधयितुं त्वदर्थम् ॥—रघु ५।२५
वर्ताग्निभ्यामपर्नित्यदर्शनिर्मान्यैस्त्रातास्तविक्तानमाश्रम् ।—रघु १३।१०
त्रेताग्नि ...नोमनस्तमेतामितोत्रम ।—रघु १२।१५

३ देखिए इसी पृष्ठ की पादटिप्पणी सं० १

कुछ भोजन देना भूतयज्ञ था, मनुष्ययज्ञ में आए हुए अतिथि का आदर-सत्कार करना था, ब्रह्मयज्ञ में प्राचीन ऋषियों के द्वारा निर्मित धर्मग्रन्थ वेदादि का पाठ करना था। इस प्रकार देवता पूर्वज समस्त प्राणि-वर्ग—मनुष्य पशु पक्षी और प्राचीन ऋषियों के प्रति श्रद्धा कृतज्ञता सहानुभूति सहनशीलता रखना पंच महायज्ञों का महत्त्व था।

परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया पंच महायज्ञों का महत्त्व परिवर्तित हो गया। मनु[1] इत्यादि ने कहा कि चूल्हा चक्की झाड़ू मूसल जलकुम्भ आदि के द्वारा मनुष्य अनजाने में न मालूम कितने जीवों की हिंसा का कारण बनते हैं। जो पंच महायज्ञ करता उसको इन पाँच स्थानों में अनजाने में किए हुए जीवहिंसा का पाप नहीं भोगना होगा।

संक्षेप में गृहस्थाश्रम का महत्त्व त्रिवर्ग की प्राप्ति था। अतिथि-पूजा जप होम तपस् सन्ध्या-वन्दना से धर्म जीविकोपार्जन से अर्थ स्त्री और पुत्र की प्राप्ति से काम[2] यही धर्म अर्थ काम—त्रिवर्ग की उपलब्धि गृहस्थाश्रम का महत्त्व कहा जा सकता है।

तृतीय आश्रम

महत्त्व—गृहस्थाश्रम के समस्त सुख भोग लेने के पश्चात् व्यक्ति वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। गृहस्थाश्रम में धार्मिक क्रियाओं के रहते हुए भी अर्थ और काम प्रधान रहते थे। पूर्णरूपेण इन्द्रियजन्य तृप्ति पा जाने पर स्वतः मनुष्य का मन धीरे-धीरे भोग-विलास से विरक्त हो चलता था दूसरी ओर पुत्र तथा पुत्रियों के समस्त उत्तरदायित्व सँभाल सकने की योग्यता आ जाने पर पारिवारिक कर्त्तव्य की भी इतिश्री हो जाती थी। अतः वानप्रस्थ आश्रम में सांसारिक मोह और बन्धनों का त्याग करना चरम उद्देश्य माना गया। अपने पारिवारिक बन्धनों का परित्याग कर वन में स्त्री के साथ जाकर तपस्या करना ईश्वर में मन लगाना और मुनिवृत्ति को ग्रहण करना ही वानप्रस्थ आश्रम की सार्थकता थी।

सामाजिक बाधा नहीं था। रघुवंशी राजाओं ने तो अपना ध्येय ही यहाँ यही बनाया कि वृद्धावस्था आ जाने पर मुनिवृत्ति लें[3]। अपने पुत्र के राज्य

1. पंच सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्कर ।
   कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥—मनुस्मृति ३।६८
2. धर्मलोपभयाद्राज्ञीमृतुस्नातामिमां स्मरन् ।
   प्रदक्षिणक्रियार्हायां तस्यां त्वं साधु नाचर ॥—रघु १।७६
3. शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
   वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥—रघु १।८

व्यक्ति धारण कर लेते थे। तपस्वियों के समान ही जीवन को व्यतीत करना उनका चरम लक्ष्य था।

वानप्रस्थों के रहने का स्थान—वानप्रस्थों के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वे जंगलों या तपोवन में ही जायें। यह उनकी अपनी व्यक्तिगत इच्छा पर निर्भर था कि वे नगर के बाहर कुटिया बनाकर रहें[1] या अरण्य में तपस्वियों के आश्रम में चले जायें[2]। वानप्रस्थ-आश्रम में स्त्रियाँ भी रहती थीं। अर्थात् अपनी स्त्री को साथ लेकर पुरुष तपस्वी-जीवन में प्रविष्ट हो सकते थे[3]। परन्तु स्त्री के अतिरिक्त अन्य कोई पारिवारिक बन्धु उनके साथ नहीं जा सकता था क्योंकि इससे वानप्रस्थ का चरमलक्ष्य मोह-त्याग सिद्ध न हो पाता। रहने भर के लिए उनको स्थान की आवश्यकता थी। एश-आराम से परिपूर्ण कोई भवन नहीं अपितु आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही वे या तो कुटिया बना लेते[4] या पेड़ों के नीचे रह ही रहते[5]। सोने के लिए कुश की चटाई[6] या मृगचर्म[7] और प्रकाश के लिए इंगुदी के तेल का दीपक वे प्रयुक्त कर सकते थे[8]।

---

१ स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथे पुराद्बहिः ।—रघु ८।१४

२ मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये ।—रघु ३।७०
—अहमपि तव समावद्ध विन्यस्य राज्य विचरितमृगयूथान्याश्रयिष्ये वनानि।
—विक्रम ५।१७

देखिए पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी में ३

३ देखिए पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणियों में ३ ४ इसी पृष्ठ की पादटिप्पणी में २ में रघु ३।७०
प्रथम परिगतार्थस्तं रघुः संनिवृत्तं विजयिनमभिनन्द्य श्लाघ्यजायासमेतम् ।
तदुपहितकुटुम्बः शान्तिमार्गोत्सुकोऽभून्न हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय ॥
—रघु ७।७१

४ निविष्टो कुलपतिना स पर्णशालामध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः ।
तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां संविष्टः कुशशयने निशां निनाय ॥
—रघु १।९५

ता इंगुदीस्नेहकृतप्रदीपा आस्तीर्णमेध्याजिनतल्पमन्तः ।
तस्यै सपर्यानुपदं दिनान्ते निवासहेतोरुटजं वितेरुः ।।—रघु १४।८१

५ नियमैरसहितरनानि पत्राणामिव मूलानि भूमौ शयन्ति सदा ।—अभि ७।२०

६ देखिए पादटिप्पणी में ४—रघु १।९५

७ देखिए पादटिप्पणी में ४—रघु १४।८१

८ देखिए पादटिप्पणी में ४—रघु १४।८१

तपस्वियों के आश्रम—जहाँ पर तपस्वी लोग रहा करते थे वह स्थान तपोवन कहलाता था। संसार के कोलाहल और अशान्ति से दूर नगर के बाहर स्थित तपोवन धार्मिक वातावरण से ही पूर्ण रहते थे। इन आश्रमों का वातावरण इतना शान्त और पवित्र रहता था कि उसके व्यक्ति जब नगर में प्रवेश करते थे तब उन्हें अरुचि उत्पन्न होती थी[1]।

तपोवन में प्रवेश करते ही वहाँ की शान्ति से मनुष्य का हृदय बिना प्रभावित हुए नहीं रहता था। दूर से ही चिड़ियों के घोंसलों से गिरा नीवार, इंगुदी के बीजों को तोड़ने वाले पत्थर, विश्वासपूर्ण निर्भयता के साथ घूमते हुए मृग तथा वल्कल के टपके हुए जल-बिन्दुओं की रेखा को देखकर निश्चय हो जाता था कि तपोवन पास ही है।[2]

इस प्रकार तपोवन के वातावरण में कहीं कृत्रिमता नहीं थी। प्राकृतिक सौन्दर्य का वह खुला क्षेत्र था। मृग आदि निर्भयता से इधर उधर घूमते थे[3]। लता-वृक्षादि से तपोवन भरा-पूरा रहता था। तपस्वी कन्याएँ इन वृक्षों को प्रतिदिन सींचा करती थीं[4]। वृक्षों की जड़ों के चारों ओर थाँवले रहते थे जिनमें पानी भरा रहता था। आश्रम के पक्षिगण इनमें से जल पीकर अपनी प्यास बुझाया करते थे[5]।

शकुन्तला की समस्त बाल्यावस्था ही मृग आदि पशुओं और वनज्योत्स्ना मल्लिका आदि लताओं तथा आम आदि वृक्षों के बीच में व्यतीत हुई थी। वास्तव

---

1. तथापीदं शश्वत्परिचितविविक्तेन मनसा जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव। —अभि ५।१
   अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव
   सुप्तम् बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमि।—अभि ५।११
2. नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
   प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
   विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा
   स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः॥—अभि १।१४
3. देखिए, पादटिप्पणी में २ अभि १।१४
4. सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम्।
   विश्वासाय विहङ्गानामालवालाम्बुपायिनाम्।—रघु १।२१
   'वृक्षसेचन'—अभि अंक १
5. देखिए पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी में ४—रघु १।५१

में नदी, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता, नीवार[1] आदि का सौन्दर्य तपस्वियों के आश्रम में ही सरलता से देखा जा सकता था। इस समस्त वातावरण को दुष्यन्त शकुन्तला का चित्र बनाते समय चित्रित करने का प्रयत्न करता है। पृष्ठभूमि में मालिनी नदी जिसकी रेती में हंस के जोड़े बैठे हों, दोनों ओर हिमालय की तलहटी जहाँ हरिण बैठे हों, एक पेड़ पर लटकते वल्कल और उस पेड़ के नीचे एक हरिणी अपने वाम नेत्र काले हरिण के सींग से रगड़कर खुजा रही हो, बनाना उस वातावरण की सार्थकता थी[2]।

स्थान-स्थान पर पर्णकुटी[3], बीच-बीच में लतागृह, कुंज[4] आदि जिनमें पत्थर की शिलाएँ[5] भी बिछी-बिछाई पड़ी रहती थीं, न केवल सौन्दर्य को बढ़ाती थीं अपितु तपती दोपहरी में शान्ति भी देती थीं।

शान्ति और सन्तोष आश्रम के वातावरण की विशेषता थी। उनकी अहिंसा-वृत्ति और विश्वबन्धुत्व उनके इस सहज स्वाभाविक नैसर्गिक सौन्दर्य का रहस्य कहा जा सकता है।

तपस्वी जीवन—तपस्वियों के जीवन का सांसारिक मनुष्यों से कोई सम्बन्ध नहीं था। सुन्दर बहुमूल्य वस्त्रों के स्थान पर वल्कल पहनना[6] या यदि सूती

---

१ आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः ।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः ॥—रघु १।५०
नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः —अभि १।१४

२ कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः ।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥—अभि ६।१७

३ देखिए पादटिप्पणी नं १ रघु १।५० तथा पीछे भी जहाँ कुटिया और पर्णशाला का प्रसंग आया है। 'गच्छ उटजमभ्यन्तरमिमममृगहर'।
—अभि अंक १ पृ १७

४ अस्मिन्वेतसपरिक्षिप्ते लतामण्डपे संनिहितया शकुन्तलया भवितव्यम्।
—अभि अंक ३ पृ ४१

५ एषा मे मनोरथप्रियतमा सकुसुमास्तरणं शिलापट्टमधिशयाना सखीभ्यामन्वास्यते।
—अभि अंक ३ पृ ४३

६ देखिए

सहयोग दिया करते थे[1]। मृगादि जो इन ऋषि-कन्याओं के हाथ से नीवार खाने के अभ्यस्त थे (अरण्यबीजाञ्जलिदानलालितास्तथा च तस्यां हरिणा विशश्वसुः—कुमार ५।१५) सायंकाल के समय उनकी कुटिया घेरे रहते थे[2]। ऋषि-कन्याएँ पेड़-पौधों को पानी देती थीं[3] पक्षियों के पानी पीने का प्रबन्ध[4] करना मृगादि की देखभाल करना उनका कर्तव्य था[5]। मयूरादि भी निर्भयता से सायंकाल के समय वेदी के चारों ओर बैठ जाते थे[6]। अतिथि-पूजा ऋषि-कन्याओं का प्रधान धर्म था[7]।

ऋषि-मुनि विवाह करते थे। अनसूया और प्रियंवदा आश्रम की ही कन्याएँ थीं और कण्व के मतानुसार उनका भी विवाह होना था[8]। परन्तु उनका मुख्य कर्तव्य और ध्येय तपादि धार्मिक क्रियाएँ थीं। तप के द्वारा वे आत्मा की शुद्धि करते थे। तपश्चर्या के विभिन्न प्रकार थे। पञ्चाग्नि तपस्या[9] शीतकाल में सम्पूर्ण रात्रि भर पानी में रहना[10] वर्षा में खुली चट्टानों पर सोना[11] बिना माँगे प्राप्त हुआ जल और पत्ते खाकर रहना[12] मृग के समान केवल वायु

---

१ अद्य पर्णसमित्कुशनिमित्तं ऋषिकुमारैः सह वनेनानेनाश्रमविभ्रममाचरितम् ॥
विक्रम अंक ५, पृ २४१

२ आसीनमपिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः । अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः ॥
—रघु १।५

३ सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् ।
विश्वासाय विहगानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥—रघु १।५१
—शकुन्तला सीता व पार्वती का पौधे सींचना।

४ देखिए, पादटिप्पणी नं ३।

५ देखिए, पादटिप्पणी नं ४ शकुन्तला का मृग-प्रेम मृग के घावों में तेल लगाना आदि।

६ सायं मृगाध्यासितवेदिपार्श्वं स्वमाश्रमं शान्तमृगं निनाय ।—रघु १४।७६

७ तथाभिपन्नप्रमदा वसन्ती प्रयुक्तपूजा विधिनातिथिभ्यः ।—रघु १४।८२
विरोधिसत्त्वोज्झितपूर्वमत्सरं द्रुमैरभीष्टप्रसवार्चितातिथि ।—कुमार ५।१७

८ इमेऽपि प्रदेये ।—अभि अंक ४ पृष्ठ ७५

९ शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा —कुमार ५।२
हविषमग्नीनां चतुर्णां मध्ये ललाटंतपसप्तसप्तिः ।—रघु १३।४१

१० निनाय सात्यन्तहिमोत्किरानिलाः सहस्यरात्रीरुदवासतत्परा ।—कुमार ५।२६

११ शिलाशया तामनिकेतवासिनी निरन्तरास्वन्तरवातवृष्टिषु ।—कुमार ५।२५

१२ अयाचितोपस्थितमम्बु केवलं रसात्मकस्योडुपतेश्च रश्मयः ।
....बभूव तस्याः किल पारणाविधिः ॥—कुमार ५।२२

नाना[1] मौन रहना[2] शरीर को भी अग्नि में हवन कर देना[3] पेड़ की शाखा पर उल्टा लटक कर नीचे जलती आग का धुआँ पीकर रहना[4] आदि घोर तप के प्रकार थे। तपस्या में वे इतने लीन हो जाते थे कि चिड़ियाँ उनके बालों में घोंसला बनाने लगती थीं शरीर पर साँप रेंगने लगते थे और दीमक की बाँबी उनके शरीर पर जम जाती थी[5]।

यह तप-साधना किसी फल-प्राप्ति के लिए होती थी[6]। इसके द्वारा वे भूत भविष्य वर्तमान सब कुछ जान जाते थे। दिलीप के पुत्र क्यों नहीं हुआ[7] दुष्यन्त ने शकुन्तला का परित्याग क्यों किया राम ने सीता को क्यों छोड़ा यह सब वसिष्ठ, मारीच और वाल्मीकि को योगबल से ही मालूम हुआ था।

क्रोधित होने पर वे शाप भी देते थे। परन्तु क्रोध अकारण नहीं होता था। दुर्वासा के शाप और श्रवणकुमार के माता-पिता के शाप का रहस्य अकारण क्रोध न था।

धार्मिक क्रियाओं में तल्लीन रहना उनकी दिनचर्या थी। सन्ध्या जाप[10] होम[11] आदि वे नियमित रूप से करते थे। राम के पूर्व मे भारत तपोवन सुसज्जित

---

१ पुरा स दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिश्चरन्मृगैः सार्धमृषिर्मघोना ।—रघु १३।३९
२ [illegible] विधिवत्प्रविमृश्य मन्त्र ।—रघु १३।४४
३ अत्र [illegible] शरभङ्गनाम्नस्तपोवनं पावनमाहिताग्नेः ।
चिराय संतर्प्य समिद्भिरग्निं यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत् ॥—रघु १३।४५
४ अथ धूमाभिताम्राक्षं वृक्षशाखावलम्बिनम् ।
ददर्श कञ्चिदैक्ष्वाकस्तपस्यन्तमधोमुखम् ॥—रघु १५।४९
५ वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिरुरसा संदष्टसर्पत्वचा कण्ठे जीर्णलताप्रतानवलयेनात्यर्थसंपीडितः । अंसव्यापि शकुन्तनीडनिचितं बिभ्रज्जटामण्डलं यत्र स्थाणुरिवाचलो मुनिरसावभ्यर्कबिम्बं स्थितः ॥—अभि ७।११
६ अयाचतारण्यनिवासमात्मनः फलोदयान्ताय तपःसमाधये ।—कुमार ५।६
७ सोऽपश्यत्प्रणिधानेन संततेः स्तम्भकारणम् ।—रघु १।७४
८ तदेव ध्यानादवगतोऽस्मि दुर्वाससः शापादियं तपस्विनी प्रत्यादिष्टा ।
—अभि अंक ७ प १४९
९ [illegible] ।—रघु १४।७२
१० [illegible] ।
[illegible] ॥—कुमार [illegible]
११ [illegible] ।
[illegible] ॥—रघु १।६१

रहता था[1]। अहिंसा उनका मूलमन्त्र था। आश्रम के मृगों पर हाथ उठाने का किसी को अधिकार नहीं था[2]। आश्रम की मर्यादा के प्रतिकूल काम करने पर व्यक्ति को तपोवन के बाहर कर दिया जाता था[3]। विश्वबन्धुत्व उनका लक्ष्य था। लता-वृक्षादि मे भी उनकी आत्मीयता थी। विषय-संग की विमुखता राग के ऊपर उठने की चेष्टा उनका ध्येय था[4]। वे यज्ञ भी करते थे[5]। अमंगल के परिहार के लिए विशेष व्रत-अनुष्ठान भी किया करते थे[6]।

तपस्विनी कन्याएँ भी इसी प्रकार का सादा जीवन व्यतीत करती थी। वेष भूषा उनकी ऋषियों के समान वल्कल की ही थी। आभूषणादि वे पुष्पो के पहनती थी[7]। अतिथि-सत्कार[8] मृग-मृगादि के प्रति सौहार्द उनकी विशेषता थी।

संन्यास-आश्रम—सबसे अन्तिम आश्रम संन्यास आश्रम कहलाता था। कालिदास इसको अन्त्य आश्रम कहते हैं। यद्यपि अन्त्य के सम्बन्ध म टीकाकारो मं मत की विभिन्नता है कि यह संन्यास है या वानप्रस्थ पर मल्लिनाथ इसका अर्थ सन्यास ही लेते हैं[1]।

उद्देश्य—सन्यास और वानप्रस्थ आश्रमो मे बहुत अन्तर नही है। त्याग साधना और वैराग्य का वानप्रस्थ प्रारंभ है और सन्यास परिपक्वता है। मोक्ष पाने

---

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ११।

२ आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्य ।—अभि अंक १ पृ ७

३ गृहीतार्थमपि किल गुरुः पारणविधरे निर्भीयमानोऽनेन लक्ष्यहतो वायस्य ।
तत उपलब्धवृत्तान्तेन भगवता च्यवनेनाहं समादिष्ट
निर्यातयैनमुद्धीत्वा न्यासमिति ।—विक्रम अंक ५ पृ २४५

४ अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम्
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसंगिनमवैमि ।—अभि अंक ५ ११

५ वीक्ष्यवेदिमथ रक्तबिन्दुभिर्बन्धुजीवपृथुभिः प्रदूषिता ।
संभ्रमोऽभवदपोढकर्मणामृत्विजां च्युतविकंकतस्रुचाम् ॥—रघु ११।२५

६ दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गत ।—अभि० अंक १ पृ ९

७ देखिए, अध्याय 'वेशभूषा'।

८ शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं
—अभि अंक १ पृ ९

९ अभि अंक १ अंक ४।

१ स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथे पुराद्बहिः ...—रघु ८।१४
देखिए इसकी टीका भी।

वर्तमान सब कुछ जान लिया था। इन तपस्वी-वर्गों के अतिरिक्त साधारण लौकिक मनुष्य भी प्रयास करने पर योग-विद्या से ही परमात्मा का ध्यान कर लेते थे[1]। रघु का नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय है।

जन-साधारण में चाहे इन आश्रमों का प्रचार अधिक न हो परन्तु आदर अवश्य रहा था। मालविकाग्निमित्र में कवि ने परिव्राजिका[2] का प्रसंग दिया है जो इस आश्रम के आदर की पुष्टि करता है। यद्यपि इस सन्दर्भ से ऐसा अवश्य आभासित होता है कि गौतम बुद्ध के धर्म का प्रभाव जनता पर पड़ने लगा था और स्त्रियाँ भी परिव्राजिका बनने लगी थीं।

वर्णों की तरह आश्रमों के रक्षक भी राजा थे[3]। मनुष्य आश्रमों के प्रति कम ध्यान न करें ऐसा उनका प्रयास सतत था।

आर्यस्त्वीमुपगता तदैव व्याघातवतोऽस्मि सुवृत्तम भागारियं तपस्विनी सहब्रह्मचारिणी त्वया प्रसादिता नान्यथेति। स आत्मगतं पितृवरणमाचमान। —अग्नि० अंक ५ पृ० १४९। (भरत के विषय में)—रघोरनुगतस्य मितगतिना धीमताऽपि पुरा सत्वरोपा जयति वसुधामप्रतिरथ। इहार्ध सप्तानां प्रवयसमारोप्य वनममुं पुनर्वास्यत्यास्यां भरत इति कौशल्यस्य भरतात्।
—अभि ७।११

1 पीछे उल्लेख हो चुका है देखिए—रघु ८।२२
2 सभी अंकों में नाम आया है।
3 नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः।—रघु १४।६७
—निगाद्य धर्मे स्वयमेव धीमान्वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः।—रघु १४।८५

संस्कार

आशय तथा उद्देश्य—प्राचीन वैदिक साहित्य में संस्कार शब्द का कहीं उल्लेख नहीं है, यद्यपि 'सम्' पूर्वक 'कृ' धातु का उपयोग बहुधा देखा जाता है। इसमें 'क्त' प्रत्यय का प्रयोग कर 'संस्कृत' शब्द का उल्लेख भी स्थान-स्थान पर मिलता है[1]। शतपथ ब्राह्मण में 'स इदं देवेभ्यो हविः संस्कुरु साधु संस्कृतं संस्कुर्वित्येवैतदाह (१ १ ४ १०) तथा 'तस्मादु स्त्री पुमांसं संस्कृते तिष्ठन्तमभ्येति (१ का २ १ २२) आदि वाक्यों का उपयोग हुआ है। छान्दोग्य उपनिषद् ४ १६ १ २ में 'तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्तनी। तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा वाचा होता [illegible] है। संस्कार शब्द का प्रयोग जैमिनि के सूत्रों में बहुत अधिक मिलता है[2]। अधिकतर इस शब्द से उनका आशय यज्ञ में सम्पादित किसी क्रिया से है जिससे मनुष्य की शुद्धि हो। ३ ८ ३ में इसका उपयोग केशान्त दन्तधावन नखकर्तन क्रियाओं के लिए किया गया है जो यज्ञ करनेवाले व्यक्ति के लिए आवश्यक समझी जाती है। ९ १ २५ में प्रोक्षण के लिए, ९ २ ४९ में क्षौर कर्म (Shaving of head & face) के लिए इसका उपयोग किया है। उपनयन के अर्थ में भी जैमिनि ने (६ १ ३५) इस शब्द का प्रयोग किया है— संस्कारस्य तदर्थत्वाद्विद्यायां पुरुषश्रुतिः। इस प्रकार से ऐसा कहा जा सकता है कि विभिन्न मीमांसकों की इस शब्द के बारे में पृथक्-पृथक् धारणाएँ हैं। शबर स्वामी का कहना है कि संस्कार वह वस्तु है जिसके होने से कोई वस्तु या व्यक्ति किसी कार्य के योग्य बनता है (संस्कारो नाम स भवति यस्मिञ्जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य)[3]।

---

१ ऋग्वेद ५ ७६ २ ८ ३३ ९ १ २८ ४

२ जैमिनि ३ १ ३ ३ २ १५ व १७ ३ ८ ३ ९ २ ९ ४२ ४४ ९ ३ २५ ९ ४ ३३ ९ ४ ५ व ५४ १ १ २ व ११।

३ जैमिनि ३ १ ३ शाबरभाष्य प ६६

संस्कारपूतेन वरं वरेण्यं वधूं सुखग्राह्यनिबन्धनेन ।

संस्कार शब्द से संस्कृत अर्थ निकलता है, पर संस्कृत से संस्कृत भाषा के साथ-साथ (well purified) अच्छी तरह से जिसकी शुद्धि हो चुकी हो ऐसी भी प्रतीति होती है। प्रसिद्ध संस्कारों के अर्थ में संस्कार शब्द का प्रयोग कालिदास ने किया के रूप में 'संस्कारोऽमया प्रीत्या मैथिलेयौ यथाविधि' (रघु० १५।३१) किया है। यही पवित्रता, रमणीयता और शुद्धता रघुवंश सर्ग १५, ७६ में भी परिलक्षित होती है—

स्वरसंस्कारवत्यासौ पुत्राभ्यामथ सीतया ।
ऋचेवोदर्चिषं सूर्यं रामं मुनिरुपस्थितः ॥

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के अंक ६ श्लोक ६ की गहराई में जाने से संस्कार का प्रयोजन एवं महत्त्व भली-भाँति समझ आता है—

चिन्ताजागरणप्रताम्रनयनस्तेजोगुणादात्मनः ।
संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते ॥

जिस प्रकार खराद में से निकली हुई मणि क्षीण होने पर अलौकिक प्रभायुक्त हो जाती है उसी प्रकार संस्कार हो जाने से व्यक्ति तेजस्वी हो जाता है, ऐसी ध्वनि निकलती है। यही भावना रघु० सर्ग ३, १८ में—

स जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते ।
दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ ॥

उद्देश्य—इसमें कोई सन्देह नहीं कि संस्कार शुद्धि और योग्यता के लिए किए जाते हैं। मनु का कहना है द्विजातियों के बीज तथा गर्भ से उत्पन्न पाप गर्भावस्था में किए गए हुए होम के द्वारा, जन्म लेने के पश्चात् जातकर्म, चौल आदि के द्वारा शान्त हो जाते हैं[1]। याज्ञवल्क्य की भी ऐसी ही धारणा है—'एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम्'[2]। इन दोनों विद्वानों की धारणाओं की ही मेधातिथि, कुल्लूक आदि ने अपनी-अपनी तरह से व्याख्या की है। मेधातिथि बीज और गर्भ को पाप का कारण नहीं मानता वरन् मनुस्मृति अध्याय २ श्लोक २७ में आए एनः का तात्पर्य अपवित्रता का लेता है[3]। कुल्लूक का कथन है कि बीज से तात्पर्य 'प्रतिषिद्धमैथुनसंकल्पादिना पैतृकरेतोदोषादपगमात्' है और गर्भिक

---

१ गार्भैर्होमैर्जातकर्म चौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥
स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥—मनु० २।२७, २८

२ याज्ञवल्क्य स्मृति १।१३

३ धर्मशास्त्र का इतिहास, काणे, पृ० ११२

मनुस्मृति म भी प्रतिध्वनित है[1]। गौतम के अनुसार शूद्र और अन्य तीन वर्णों में अंतर यही है कि शूद्र एक जाति है, इसका कोई संस्कार नहीं होता। अन्य तीन द्विजाति हैं क्योंकि इनका संस्कार हो जाने के बाद पुनर्जन्म हो जाता है[2]। इस जन्म को बहुत अधिक महत्ता है क्योंकि माता-पिता तो केवल शरीर को जन्म देते हैं पर संस्कारों से आत्मा की शुद्धि और विकास होता है। आपस्तम्ब धर्म-सूत्र म इसी का विशद विवेचन है[3]। मनु व्यक्ति के तीन जन्म मानते हैं—१ माता से २ उपनयन के बाद ३ जब उसे यज्ञ की दीक्षा दी जाय[4]। अत्रि का कहना है—

> जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेय संस्कारैर्द्विज उच्यते।
> विद्यया याति विप्रत्वं श्रोत्रियस्त्रिभिरेव हि॥[5]

पाराशर ने इसी बात को उपमा के द्वारा अभिव्यक्त इस प्रकार किया है 'जिस प्रकार नाना प्रकार के रंगों के प्रभाव से चित्रकला का सौन्दर्य प्रादुर्भूत हो उठता है उसी प्रकार ब्राह्मण्य विधिपूर्वक किए संस्कारों के द्वारा उज्ज्वलतर हो जाता है[1]।

संस्कारों का विभाजन—हारीत ने संस्कारों का दो भागों में विभाजन किया है—ब्राह्म-संस्कार तथा दैव-संस्कार*। गर्भाधान आदि संस्कार ब्राह्म-संस्कार कहलाते हैं जिनसे व्यक्ति शुद्ध एवं पवित्र होकर ऋषियों की समता को प्राप्त करता है और उनके साथ उनके ही लोक म रहता है। दैव-संस्कार में पाकयज्ञ तथा अन्य यज्ञ जिनमे घीम की आहुति दी जाती है आते हैं। सामान्यत संस्कार से आशय ब्राह्म-संस्कारों ही से है।

संस्कारों की संख्या—संख्या के विषय म विद्वानों में बहुत मतभेद है। गौतम ने संस्कारों की संख्या ४ मानी है गर्भाधान पुंसवन सीमन्तोन्नयन

१ बौधायन धर्म-सूत्र १। २ मनुस्मृति २।१७१ १७२
२ गौतम १।१ ११।
३ स हि विद्यातस्तं जनयति। तच्छ्रेष्ठं जन्म।
शरीरमेव मातापितरौ जनयत। आ ध सू १।१ १६–१८
४ मनि १।४१–१४२ देखो समाचार का इतिहास धर्मशास्त्र पृ १८८
५ मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात्।।—मनु रि अध्याय २ १६८
६ पाराशर ११
[illegible]
[illegible]

प्रकार गर्भाधान के समय की प्रसन्नता भी वे न भूले। इसका संकेत भी उन्होंने कुमारसंभव में किया है[1]।

गर्भाधान-संस्कार गर्भ (गर्भस्थित बालक) का है अथवा स्त्री का इस पर मतभेद है। गौतम (अध्याय ८ २४) मनु (अध्याय १ १६) इसे गर्भ का मानते हैं। याज्ञवल्क्य के टीकाकार विश्वरूप कहते हैं कि सीमन्तोन्नयन के अतिरिक्त सभी संस्कार गर्भ के हैं अतः ये बार-बार प्रतिगर्भ में होने चाहिए

'प्रतिगर्भं चापरसीमन्तोन्नयवा प्रवर्तन्ते।
तस्य स्त्रीसंस्कारत्वात्' ॥—विश्वरूप याज्ञवल्क्य स्मृति १।११

पुंसवन—रघुवंश ७ का ११ में सबसे पहले यह शब्द आया है—'धर्मोमयस्य चारम्भक पुंसवनं करम्। गर्भाधान-संस्कार के बाद पुंसवन-संस्कार आता है। पुत्र की उत्पत्ति के लिए यह संस्कार किया जाता है। स्वयं मल्लिनाथ ने पुंसवन की व्युत्पत्ति बताई है—'पुमान्सूयतेऽनेनेति पुंसवनम्'[2]। हिन्दू-धर्म में पितृ ऋण से उद्धार करने वाला पुत्र ही होता है अतः सदा से ही पुत्र का बहुत अधिक महत्त्व है। स्वयं कालिदास ने इसका रघुवंश कुमारसंभव विक्रमोर्वशीय नाटकों में अनेक स्थानों में महत्त्व स्वीकार किया है। अतः प्रत्यक्ष रूप से इस संस्कार का नाम लिया।

गर्भ स्थापित हो जाने के पश्चात् पुंसवन-संस्कार किया जाता है। इसके समय के विषय में विद्वानों की पृथक् पृथक् धारणाएँ हैं। आश्वलायन गृह्य (१ का १३ श्लोक) ने तीसरे महीने में करने की सम्मति दी है। मल्लिनाथ कहते हैं—अथ मासि द्वितीये तृतीये वा पुंसवनम्[3]। पारस्कर के अनुसार 'पुंसा

---

१ सा भूधराणामधिपेन हिमवता समाधिमग्या उचपादि मन्या।
सम्यक्प्रयोगादपरिक्षताया नीताविवाम्भात्सुखम सम्पत् ॥—कुमार १।२२

२ टीका रघु ३।१ तस्य पुमान् सूयतेऽनेन कर्मणेति व्युत्पत्त्या गर्भस्य पुं वतारक कर्म विशेष—(मलिन)। पुमान् प्रसूयते येन तत्पुंसवनमीरितम्। (संस्कार-प्रकाश)

३ सुतं सत वर कस्या निर्विघ्नपर्वणीन।
न प्रजामभुज मातुस्वधामपरम्पराग ॥—रघु २।६६
न चान्येभ्ये पूर्वपापूर्वनिमीत्समापनम्—रघु १।२
सन्तानार्थ वर्णविधा न विमल्य हीनम्—विक्रम अक ५, पृ २१६

४ पूर्व उत्तेन रघु ३।१ देव दत्तानाव गारोऽस्य अदितौ दुहिता निबद्धागता जातास्य भूमौ।—अभि अक ६ पृ १२१

५ टीका रघु ३।१

इसकी टीका करते हुए मल्लिनाथ कहते हैं —'पुंसवनादिका क्रिया यथाक्रम क्रममनतिक्रम्य व्यधत्त कृतवान्। आदि शब्देनानवलोभनसीमन्तोन्नयने गृह्येते।' इसके मनाने की विधि[1] के विषय में आश्वलायन का कहना है कि हरे दूर्वादल के रस को पत्नी की नासिका के दाहिने छिद्र में छोड़े। किसी-किसी का यह भी कहना है कि इसको करते समय प्रजावत और जीवपुत्र[2] मंत्र पढ़े। प्रजापति की पूजा व आहुति देने के पश्चात् पत्नी के हृदय प्रदेश को छुए और मंत्र पढ़े कि वे उसके गर्भ की रक्षा करें। संक्षेप में नाक के छिद्र में दूर्वारस डालना पत्नी के हृदय प्रदेश को छूना और देवताओं से गर्भ की सुरक्षा के लिए प्रार्थना करना इस संस्कार के मुख्य अंग हैं।

सीमन्तोन्नयन—जैसा अनवलोभन संस्कार के प्रसंग में कहा जा चुका है, कि कवि का आदि शब्द से अभिप्रेत अनवलोभन के साथ-साथ सीमन्तोन्नयन से भी था।

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र भारद्वाज गृह्यसूत्र और हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र के अनुसार सीमन्तोन्नयन पहले है, तत्पश्चात् पुंसवन[4]। आपस्तम्ब के अनुसार गर्भ के प्रत्यक्ष होते ही सीमन्तोन्नयन होना चाहिए। परन्तु जैसा मल्लिनाथ ने अपनी टीका में कहा है—'चतुर्थेऽनवलोभनम् इत्याश्वलायनः षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तोन्नयनम् इति याज्ञवल्क्यः।' इसके अनुसार पुंसवन के पश्चात् अनवलोभन तत्पश्चात् सीमन्तोन्नयन आता है। काठक गृह्यसूत्र में तीसरे मास में मानवगृह्यसूत्र में तृतीय षष्ठ अथवा अष्टम मास में आश्वलायन के अनुसार चतुर्थ मास में आदि आदि नाना विद्वानों की भिन्न-भिन्न सम्मतियाँ हैं[5]।

सीमन्तोन्नयन का शाब्दिक अर्थ ऊपर की ओर माँग निकालना है। यह संस्कार भी काणे के अनुसार सामाजिकता और उत्सवप्रियता का प्रकाशन है।

---

१ काणे का धर्मशास्त्र का इतिहास पृष्ठ २१ अध्याय ६।

२ आ ते गर्भो योनिमेतु पुमान् बाण इवेषुधिम्।
आ वीरो जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः॥
अग्निरेतु प्रथमो देवतानां सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात्।
तदयं राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयं स्त्री पौत्रमघं न रोदात्॥
—धर्मशास्त्र का इतिहास पृ २२१ फुटनोट।

३ रघु ३।१ टीका

४ काणे धर्मशास्त्र का इतिहास पृष्ठ २१८ २१९

५ काणे धर्मशास्त्र का इतिहास पृ २१

स्वयं कालिदास ने नामकरण-संस्कार का उल्लेख न करते हुए भी बालक के उत्पन्न होने के बाद लगभग सभी स्थानों पर पिता के द्वारा नाम रखाया है[1]। यही नहीं नाम रखने के सम्बन्ध में प्राचीनकाल से जो नियम प्रचलित है जैसे नाम सार्थक और योग्य हों उसी का उन्होंने भी पालन किया है। जैसे—

श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः ।
अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थविच्चकार नाम्ना रघुमात्मसम्भवम् ॥—रघु ३।२२

यह कहना कि कवि ने ऐतिहासिक नाम ही तो लिए हैं उसमें क्या नियम—क्या विनियम अनुचित है। ऐतिहासिक नामों में भी नाम क्यों रखे गए किस प्रकार गुणों को व्यक्त करने वाले सार्थक हुए बताकर प्राचीन नाम किस प्रकार रखने चाहिए, बताते हुए परम्परा का पालन किया है साथ ही अपनी अद्वितीय कुशलता का परिचय दिया है। इसी प्रकार—

राम इत्यभिरामेण वपुषा तस्य चोदितः ।
नामधेयं गुरुश्चक्रे जगत्प्रथममङ्गलम् ॥—रघु १ ।६७

बौधायन गृह्यसूत्र में लिखा है कि ऋषि देवता अथवा पूर्वजों के नाम पर नाम रखना चाहिए[2]। यही बात कवि के शब्दों में अज नाम ब्रह्मा के नाम पर रखा गया देखिए—

अजः पिता ब्रह्मण एव नाम्ना तमात्मजन्मानमजं चकार ।—रघु ५।३६

लव और कुश नाम सीता जी की प्रसव-पीड़ा इन वस्तुओं से दूर हुई थी अतः इसी कारण इन्हीं के नाम पर रखे गए[3]। शकुन्तला-पुत्र भरत का सर्वदमन और भरत नाम अपने अर्थ की पुष्टि एवं सार्थकता को सिद्ध करता है तथा भविष्य में तेजस्वी होगा इसका परिचायक है यह स्वयं कवि ने मारीच के मुँह से

---

१ राम इत्यभिरामेण वपुषा तस्य चोदितः ।
नामधेयं गुरुश्चक्रे जगत्प्रथममङ्गलम् ।—रघु १ ।६७
ब्राह्मे मुहूर्ते किल तस्य देवी कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम् ।
अतः पिता ब्रह्मण एव नाम्ना तमात्मजन्मानमजं चकार ॥—रघु ५।३६

२ ऋष्यनूकं देवतानूकं वा । यथैषां पूर्वपुरुषाणां नामानि स्युः—(बौधा २ १ २८ २१)। यज्ञस्य नामधेयं देवताश्रयं नक्षत्राश्रयं देवतायाश्च प्रत्यक्षं प्रतिषिद्धम् । (मानव गृह्यसूत्र १ का १८)

३ स तौ कुशलवोन्मृष्टगर्भक्लेदौ तदाख्यया ।
कविः कुशलवावेव चकार किल नामतः ॥—रघु १५।३२

एक वर्ष तक प्रतिमास मनाया जाय तत्पश्चात् प्रतीक वर्ष। 'कुमारस्य मासि मासि संवत्सरे सांवत्सरिकेषु वा पर्वसु अग्नीषोमौ द्यावापृथिव्यौ विश्वान्देवांश्च यजेत् (गोभिलगृह्य सूत्र २ ८ १९ २)। आश्वलायन भी इसी बात का समर्थन करते हैं[1]।

जो भी हो बात बिलकुल मनोवैज्ञानिक है। जब तक बच्चा एक वर्ष का नहीं होता तब तक ही सब कहते हैं अब यह दो महीने का हो गया अब चार महीने का हो गया। बच्चे के प्रति स्वभावत माता-पिता का स्नेह होता है, वे दिन गिनते ही हैं अब यह इतना बड़ा हो गया। स्वभावत हृदय के उल्लास आनन्द और अरमान को शान्त और पूर्ण करने के लिए थोड़ा-बहुत भोजन आदि खिलाना भी एक बहाना मात्र है। यथार्थ में निष्क्रमण अन्नप्राशन और वर्षवर्धन आदि कोई संस्कार विशेष नहीं आनन्द और उत्सव मनाने के बहाने मात्र ही हैं।

चूडाकर्म अथवा चौल—आजकल की भाषा में यही मुंडन संस्कार कहा जाता है। मी काणे ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है चूडा के अर्थ शिखा है। इस मुंडन के पश्चात् केवल शिखा भर ही सिर पर रह जाती थी (और आजकल भी जो मानते हैं वे ऐसा ही करते हैं)। अत चूडाकर्म वह संस्कार है जिसके पश्चात् शिखा या चोटी रखी जाती है। 'चौल' शब्द 'चूडा' से बना है इसमें कोई संदेह नहीं। 'ड' के स्थान पर 'ल' बहुधा आ जाता है, अत चौल शब्द बन गया।

मनाने के विषय में आश्वलायन आपस्तम्ब मनु, याज्ञवल्क्य सब ही तृतीय वर्ष कहते हैं। मनु प्रथम अथवा द्वितीय भी कह देते हैं[3]। याज्ञवल्क्य तो 'चूडा-कार्यां यथाकुलम्' भी कहते हैं (अध्याय १ १२)।

भारद्वाज तो इस संस्कार का सम्बन्ध वैदिक काल से जानते हैं[4]। जो भी हो कालिदास ने इस संस्कार का एक स्थान पर बिलकुल साक्षात् तथा अन्य स्थानों पर असाक्षात् संकेत किया है—

स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वित (रघु ३।२८)

---

1 धर्मशास्त्र का इतिहास काणे पृ० २५८
2 धर्मशास्त्र का इतिहास भाग पृ० २६ इस पृष्ठ का फुटनोट भी देखिए।
3 चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मत ।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥—मनु २।३५
4 अथास्य सांवत्सरिकस्य चौलं कुर्वन्ति यथार्षि यथोपदेशं वा ।
पितामही च यत्र वाचा सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव ॥
—भारद्वाज गृह्यसूत्र १।२८

कालिदास ने भी रघुवंश में अज के विषय में ऐसा ही लिखा है। प्रथम अज ने वर्णमाला सीखी तत्पश्चात् वे संस्कृत-साहित्य-सागर में प्रविष्ट हुए[1]।

श्री काणे ने अपरार्क और स्मृतिचंद्रिका के उद्धरणों से पुष्ट किया है कि बालक के पाँचवें वर्ष विद्यारंभ-संस्कार होना चाहिए। देवी-देवताओं की पूजा करने के बाद ब्राह्मणों का सत्कार करना चाहिए और दक्षिणा देनी चाहिए। इसके पश्चात् गुरु बालक को पहला पाठ दे। श्री काणे ने संस्कार-प्रकाश और संस्कार रत्नमाला से भी इसी बात की पुष्टि की है कि पाँचवें वर्ष उपनयन से पूर्व यह संस्कार होना चाहिए[2]।

उपनयन—संस्कारों में उपनयन का महत्त्व बहुत अधिक है, क्योंकि जैसा गौतम (२ का १) का कहना है कि इससे पूर्व बालक किसी भी तरह का आचरण करे, कोई दोष नहीं होता। बौधायनधर्मसूत्र भी इसी का अनुमोदन करते हैं 'न ह्यस्मिन् विद्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जिबन्धनात्। वृत्त्या शूद्रसमो ह्येष यावद्वेदे न जायते' (२ का ६)। एक धर्मसूत्र का उदाहरण है 'प्राङ्मौञ्जीबन्धनाद् द्विज शूद्रसमो भवति'। इसी से मिलती जुलती बात मनु भी (२ का १७२ १७१) कहते हैं। अतः यह संस्कार एक ओर व्यक्ति को नियमबद्ध जीवन में प्रविष्ट कर धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नति की ओर अग्रसर करता है दूसरी ओर वह विद्या का मार्ग खोलकर मानसिक और बौद्धिक विकास में सहयोग देता है।

यदि शाब्दिक अर्थ पर ध्यान दिया जाय तो इसका आशय (उप + नी धातु) पास ले जाना अथवा पास ले जाना है। उस वास्तविक अभिप्राय इस संस्कार का आचार्य के पास बालक को शिक्षा के लिए ले जाना था। जिस संस्कार के द्वारा बालक छात्र-रूप में प्रविष्ट होता था वही उपनयन-संस्कार कहलाया। आचार्य बालक को गायत्री मंत्र देकर वह विद्या प्रारम्भ करता था।

उपनयन किस अवस्था में होना चाहिए इस पर बहुत कुछ मतभेद है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में लिखा है, अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत्। एकादशे क्षत्रियम्। द्वादशे वैश्यम्। आषोडशाद् ब्राह्मणस्यानतीतः कालः। आ द्वाविंशात्क्षत्रियस्य। आ चतुर्विंशाद्वैश्यस्य। (१ का १९ १–६)। पारस्कर ने भी आठवें वर्ष ही लिखा है यद्यपि वे वर्ण के क्रम के अनुसार भी करने की स्वतंत्रता

वार्तामिश्यप्रश्नो बहलीति बकनुप्रबकनम्य।
बह्यय पार्थिवपाठ्यर्थानि। अर्थो बाच्यार्थ वारकम च।—अमरकोश १।५

१ स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत्॥—रघु ३।२८

२ धर्मशास्त्र का इतिहास अध्याय ६ पृष्ठ २६६ २६७

कि उस समय से पहले सभी पहनते थे पर तब केवल ब्राह्मण। परन्तु आजकल यह हिन्दुत्व का चिह्न है, इसे उच्च वर्ण के सभी पहनते हैं यद्यपि विशेषकर ब्राह्मण ही। उनके लिए अत्यावश्यक है।

मानव गृह्यसूत्र (१ का ३) का कहना है कि पहले बालक यज्ञोपवीत पहन लेता था तब होम प्रारम्भ होता था। बौधायन (२ का ५ ७) कहते हैं कि बालक को यज्ञोपवीत देकर कहा जाता था कि यज्ञोपवीत बहुत पवित्र है, इस मंत्र का उच्चारण करो। इस समय फिर उसका मुण्डन होता था। आश्वलायन के अनुसार अन्त में कमर में मेखला बाँध दी जाती थी और हाथ में पलाशदण्ड दे दिया जाता था। आपस्तम्ब होम के बाद फौरन ही मेखला और दंड दे देते हैं। आचार्य ज्ञान रूप में दीक्षित बालक का हाथ पकड़कर देवी-देवताओं को उसे समर्पित कर कल्याण करने की प्रार्थना करता हुआ विद्या-अध्यापन प्रारम्भ कर देता था[1]।

केशान्त अथवा गोदान—वैदिक अध्ययन की समाप्ति पर यह संस्कार होता था। जैसा कवि ने स्वयं कहा है कि गोदान के पश्चात् रघु का विवाह हो गया[2]। अतः ब्रह्मचर्य की समाप्ति और गृहस्थाश्रम के बीच की यह कड़ी है। मल्लिनाथ ने इस संस्कार के विषय में कहा है, 'गावो लोमानि केशा दीयन्ते खण्ड्यन्तेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या गोदानं नाम ब्राह्मणादीनां षोडशादिषु वर्षेषु कर्तव्यं केशान्ताख्यं कर्मोच्यते[3]। चूँकि केशान्त के पश्चात् गुरु को गाय दक्षिणा-रूप में दी जाती थी अतः इसका नाम गोदान भी पड़ गया। इस संस्कार में प्रथम बार क्षौर कर्म होता था। आश्वलायन केश का वपन श्मश्रु कहता है। जहाँ चौल में आश्वलायन गृह्यसूत्र में मंत्र है 'अदितिः केशान् वपतु' वहाँ गोदान में 'अदितिः श्मश्रूणि वपतु' मंत्र है। चौल में आश्वलायन कुश को केश के दाहिनी ओर रखते हैं इसमें श्मश्रु पर[4]।

प्रत्येक सूत्रकार का कहना है कि इसके मनाने की विधि वही है जो चौल में थी। अन्तर यही है कि चौल में बालक माँ की गोद में बैठता है इसमें माँ उसके बाईं ओर रहती है। इसी प्रकार के कुछ छोटे-मोटे परिवर्तन हैं। अधिकतर स्मृतिकार सोलहवें वर्ष में यह संस्कार करने को कहते हैं— 'केशान्तः षोडशे वर्षे

---

१ धर्मशास्त्र का इतिहास पृष्ठ २८६
२ अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयद्गुरुः ।—रघु ३।३३
३ टीका रघु ३।३३
४ धर्मशास्त्र का इतिहास पृष्ठ ८४ फुटनोट

मनुष्याणामस्य पशूनां तस्मात्ते भूतसंक्रामिणावश्वश्च शूद्रश्च तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्त ।

शूद्रों के पश्चात् प्रश्न आता है, जो न स्त्री है-न पुरुष है, उनका भी संस्कार हो अथवा नहीं। संस्कारप्रकाश के अनुसार जातकर्म या अन्य संस्कार क्लीब के न हों[1]।

दूसरा प्रश्न है, क्या उपनयन अंधे बहरे अथवा गूंगे आदि का होना चाहिए? जैमिनि[2] ऐसे व्यक्तियों को अग्निहोत्र के योग्य नहीं समझते। आपस्तम्ब[2] गौतम[2] मनु[2] याज्ञवल्क्य[2] आदि इनको सम्पत्ति के योग्य नहीं मानते पर जीविका-निर्वाह का अधिकार स्वीकार करते हैं। पर सभी विवाह की अनुमति दे देते हैं। चूँकि जब तक उपनयन न हो द्विजातियों का विवाह नहीं हो सकता अतः उपनयन जहाँ तक नियमपूर्वक पालन किया जा सकना सम्भव हो होता था। मन्त्र आचार्य पढ़ देता था।

तीसरा प्रश्न है कि क्या वर्णसंकर अथवा मिश्रित जातियाँ उपनयनादि के योग्य थीं? मनु (१ का ४१) सात अनुलोमों को द्विजों के समान संस्कारों की स्वीकृति देते हैं। याज्ञवल्क्य (१ का ९२ ९५ में) उपनयन माता के वर्ण के अनुसार करने की अनुमति देते हैं। मनु (४ का ४१) समस्त प्रतिलोमों का और ब्राह्मण की शूद्रा से उत्पन्न सन्तान को यद्यपि वह अनुलोम है, शूद्र ही समझते हैं। गौतम (१ ९१) शूद्र को एक जाति कहते हैं, द्विजाति नहीं। प्रतिलोम और शूद्रों का उनके अनुसार कोई उपनयन नहीं होता।

---

१ धर्मशास्त्र का इतिहास पृ ११८ (स्मृतिचन्द्रिका पृ ११५–११७)
२ मनु जैमिनी आपस्तम्ब गौतम याज्ञवल्क्य सबकी सम्मति देखिए धर्मशास्त्र का इतिहास भाग अध्याय ७ पृष्ठ २९७।

किया है। वे गृहस्थाश्रम को सब आश्रमों में श्रेष्ठ मानते हैं[१]। धार्मिक कार्यों को बिना विवाह करने का अधिकार नहीं था[२]। इसी से गृहस्थाश्रम एवं विवाह की महत्ता भली-भाँति परिलक्षित हो जाती है।

प्रत्येक धार्मिक काम में पत्नी का सहयोग परमावश्यक समझा जाता था। 'क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्[३]' कालिदास के विश्वासों का साक्षात् प्रतीक है। पत्नी को इसी कारण धर्मपत्नी[४] कहा जाता था। पत्नी को कवि-कुल गुरु प्रतिष्ठा कहते हैं, 'संगेपितेऽप्यात्मनि धर्मपत्नी त्यक्ता मया नाम कुलप्रतिष्ठा' (अभि ६।२४)। विवाह के समय पुरोहित कन्या से कहता था कि तुम पति के साथ सब प्रकार के धार्मिक कार्यों को करना[५]। धार्मिक कार्यों म पत्नी का कितना स्थान था इसकी पुष्टि राम के द्वारा यज्ञ के समय सीता की सोने की प्रतिकृति रखना कर देता है[६]।

(२) विवाह का दूसरा उद्देश्य कवि भी वंश प्रतिष्ठा ही समझते हैं। विवाह को बहुत पवित्र समझा जाता था। संसार के समस्त सुखों के समुपस्थित रहते हुए भी यदि व्यक्ति के पुत्र न हो तो सब फीका एवं निस्सार ही समझा जाता था। पुत्र की महत्ता म धर्म का अन्तर्भाव है। पुत्र का न होना सबसे बड़ा दुर्भाग्य समझा जाता था। स्वयं मनु भी जिस कन्या के कोई भाई न हो उससे विवाह करने के पक्ष में न थे।

राजा दिलीप के पास सभी सुख भोग की सामग्री थी फिर भी वे पुत्र के बिना कितने दुःखी थे इसको कवि ने रघुवंश प्रथम सर्ग में भलीभाँति व्यक्त किया है[७]।

दुष्यन्त समुद्र-व्यापारी धनमित्र की मृत्यु के पश्चात् यह सोचकर कितना दुःखी होता है कि निस्संतान होना कितना दुःखदायी है, मेरे पीछे पुरुवंश की राज्यलक्ष्मी की भी यही दशा होगी[८]।

---

१ सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते—रघु ५।१

२ 'जाय धर्मचरणमपि परवशोऽयं जनः' —अभि अंक १ पृ २१

३ कुमार ६।१३

४ 'तदिदानीमापन्नसत्त्वां प्रतिगृह्णता गृह्यतामधर्मचरणमपि —अभि अंक ५ पृ ८६। 'विद्यया धर्मपत्नी समापयेन ... —अभि ७ १४३

५ 'विधिन भर्त्रा सह धर्मचर्या कार्या त्वया मुक्तविचारयेति —कुमार ७।८३

६ अनन्यजानेः सैवासीद्यस्माज्जाया हिरण्मयी। रघु १५।६१

७ रघु सर्ग १ ३५ से ७१ श्लोक। पूर्वोल्लेख देखिए, अध्याय 'संस्कार'।

८ कष्ट खलु अनपत्यता। 'ममाप्यन्ते पुरुवंशश्रिय एष एव वृत्तान्तः।
—रघु अंक ६ पृ १२२

दुष्यन्त[१] पुत्र को न पहचानने पर स्वाभाविक रीति से पुत्र प्रेम से प्रभावित हो जाते हैं। उर्वशी की चोली पुत्र-प्रेम से भींग गई थी[२]।

अपने ही सदृश पुत्र प्राप्त करने की सब की साध होती थी[३] अतः पुत्रवती होने का आशीर्वाद स्त्रियों को दिया जाता था[४]। यही आशीर्वाद पुरुषों के लिए भी सबसे उत्तम आशीर्वाद समझा जाता था[५]। राजा दशरथ ने श्रवण-कुमार के माता-पिता के शाप को भी वरदान माना था।

पुत्र की इसी महत्ता के कारण पुत्रेष्टि-यज्ञ[६] और पुत्रोत्पत्ति-व्रत[७] का बहुत मूल्य था। रघुवंश में राजा भोग-विलास के लिए नहीं अपितु पुत्र की प्राप्ति के लिए ही विवाह किया करते थे[८]। कुमारसंभव में भी यद्यपि शिवजी पार्वती के अनन्य सौन्दर्य से आकर्षित हो गये थे पर विवाह का कारण वे यही व्यक्त करते हैं कि देवता लोग मुझसे पुत्र उत्पन्न कराना चाहते हैं[९]। रघुवंशी पुत्र सन्तानकामी (रघु १८।५१) सन्तान की इच्छा से ही विवाह करते थे। उनका आदर्श 'प्रजायै गृहमेधिनाम्' (रघु १।७) था।

संक्षेप में धर्म अर्थ और काम तीनों ही उनको समक्ष में विवाह के उद्देश्य हैं। धर्म और अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति ऊपर दी जा चुकी है। काम को भी उन्होंने सम्मुख करने में कोई कसर नहीं उठा रखी। इन्दुमती स्वयंवर में भोग सौन्दर्य-प्रधान है।

---

१ किं नु खलु बालेऽस्मिन्नौरस इव पुत्रे स्निह्यति मे मनः।—अभि ७।१७

२ इयं च ते जननी प्राप्ता त्वदालोकनतत्परा स्नेहप्रस्रवनिर्भिन्नमुद्वहन्ती स्तनांशुकम्—विक्रम ५।१३

३ रघु १।६५ पूर्वोल्लेख

—उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ॥—रघु ३।२३

४ 'जाओ वीर प्रसविनी बनो'—अभि अंक ४ पृ ६५

—तस्मै मुनिर्दोहदलिङ्गदर्शी दाश्वान्सुपुत्राशिषमित्युवाच॥—रघु १४।७१

५ जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपमिदं तव।
पुत्रमेवंगुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि॥—अभि १।१२

६ रघु १।५४ पूर्वोल्लेख देखिए, अध्याय संस्कार

७ रघु सर्ग २ दिलीप द्वारा नन्दिनी की सेवा।
—रघु १६।८२ पूर्वोल्लेख देखिए, अध्याय 'संस्कार'

८ रघु १।७ २५ पूर्वोल्लेख देखिए, अध्याय 'संस्कार'

९ कुमार ६।२७ पूर्वोल्लेख देखिए अध्याय संस्कार'

कुल उत्तम है तो अवश्य ही वर में उपस्थित होंगे। शील से ही व्यक्ति श्यवान् बनता है और शीलवान् अपने भरण-पोषण के योग्य वित्त को उपार्जित करने में समर्थ हो जाता है। अत अभिज्ञानशाकुन्तल में अनसूया ने शकुन्तला के विषय में दुष्यन्त से एक स्थान पर कहा है—

'गुणवते कन्यका प्रतिपादनीयेत्ययं तावत्प्रथम संकल्प '[1]

दूसरे शब्दों में कवि के विश्वास बस्तालम्मन बौधायन आपस्तम्ब मनु आदि की ही प्रतिध्वनि कहे जा सकते हैं। वर के अन्य गुणों म समान उम्र और समान रंग भी था। अर्थात् समान रूप समान बल समान कुल और समान यौवन का विवाह प्रशस्त माना जाता था—

कुलेन कान्त्या वयसा नवेन गुणैश्च तैस्तैर्विनयप्रधाने ।
त्वमात्मनस्तुल्यममुं वृणीष्व रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन ॥—रघु ६।७९

परन्तु काले और गोरे का संयोग भी कालिदास ने अच्छा माना है—

इन्दीवरश्यामतनुर् नृपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरयष्टि ।
अन्योन्यशोभा परिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु ॥—रघु ६।६५

कन्या मुख्यरूप से वर क रूप पर विशेष पुरुषत्व हो लट्टू होती है। कालिदास की सौन्दर्य-प्रतिष्ठा में वर्णित पुरुष-सौन्दर्य ही उनके आकर्षण का रहस्य है। पति का अधृष्य पौरुष अधिक स्पृहणीय था (पतिमासाद्य तमधृष्यपौरुषम्—रघु ८।२८)। मल्लिनाथ ने 'अधृष्यपौरुषं' पर जो टिप्पणी की है 'महापराक्रमयुक्त योगर्द्धिश्च । विशाल शरीर पुष्ट और स्वस्थ मांसल देह उनकी तुला है। इंदुमती भी सर्वाङ्गमनोज्ञ अज (रघु ६।६६) पर ही मुग्ध होती है। क पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम् (अभि १।२३) दुष्यन्त के इस पुरुषत्व पर ही शकुन्तला ने उसे देखकर मन म कहा—'किं नु खलु इमं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता'।

वधू-चुनाव—वधू के सम्बन्ध में भी उसके रूप शील चरित्र स्वस्थता और परिवार को देखना चाहिए। इस विषय में कात्यायन का कहना है—

'उन्मत्त पतित कुष्ठी तथा षण्ढ स्वगोत्रज ।
चक्षु श्रोत्रविहीनश्च तथापस्मारदूषित ।
वरदोषा स्मृता ह्येते कन्यादोषाश्च कीर्तिता ॥

—स्मृतिचन्द्रिका पृ १ ६६

मनु भी सम्मति लक्षणों वाली कन्या से विवाह करने में है। यह लक्षण उनके ही शब्दों में—

१ अभि अंक ४ पृष्ठ ६८

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम् ।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम् ॥[1]
अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम् ॥[2]

इस विषय में भरद्वाज की सम्मति सराहनीय है। उन्होंने चार बातें ही विशेष समझीं—धन, सौन्दर्य, बुद्धिमत्ता और परिवार। यदि ये चार एक स्थान पर न मिलें तो सबसे प्रथम धन की उपेक्षा करनी चाहिए, तत्पश्चात् सौन्दर्य की[3]।

गौतम[4], वसिष्ठ[5] और याज्ञवल्क्य[6] आदि का कहना है कि कन्या को वर से छोटी होना चाहिए। कामसूत्र के अनुसार यह अन्तर कम-से-कम तीन वर्ष का होना चाहिए[7]। इसके अतिरिक्त ऐसी कन्या से विवाह न करना चाहिए जिसके कोई भाई न हो[8]। गौतम[9], वसिष्ठ[10], मनु[11] और याज्ञवल्क्य[12] का कहना है कि उसी कन्या से विवाह करना चाहिए जो कुमारी हो और उसी जाति की हो, परन्तु सजातीय होने पर भी वह सपिण्ड न हो[13], न ही वर वधू एक गोत्र के हों[14]। सपिण्ड के सम्बन्ध में धर्मकारों का कहना है कि सात पीढ़ियाँ पिता की और पाँच पीढ़ियाँ माँ की छोड़ देनी चाहिए[15]। वैवाहिक

---

१ मनुस्मृति ३।८ २ मनुस्मृति ३।१०

३ चत्वारि विवाहकारणानि वित्तं रूपं प्रज्ञा बान्धवमिति ।
तानि चत्वार्यपि न चानुयाद्वित्तमुत्सृजेत् रूपं प्रज्ञायां च तु बान्धवे न विवदन्ते।
बान्धवमुत्सृजेदित्येक आहुर्ब्राह्मं हि क संवासम्
—भारद्वाज गृह्यसूत्र १।११

४ गौतम धर्मसूत्र ४।१ ५ वसिष्ठ धर्मसूत्र ८।१

६ याज्ञवल्क्य स्मृति १।५२ ७ कामसूत्र ३।१।२

८ मानव गृह्यसूत्र १।७।८ मनु ३।११ याज्ञवल्क्य १।५३
धर्मशास्त्र का इतिहास पृ ४१५

९ गौतम धर्मसूत्र ४।१

१० वसिष्ठ धर्मसूत्र ८।१ । धर्मशास्त्र का इतिहास पृ ४१५

११ मनु ३ अध्याय ४ और १२

१२ याज्ञवल्क्य स्मृति १।५२ (धर्मशास्त्र का इतिहास पृ ४१५)

१३ मनु ३।५, आपस्तम्ब धर्मसूत्र २ का ५।११।१६

१४ आपस्तम्ब २ का ५।११।१५

१५ गौतम धर्मसूत्र ४ का ३ वसिष्ठ धर्मसूत्र ८ का २
—याज्ञवल्क्य स्मृति १ का ५३

स्मृति के अनुसार उस कन्या से विवाह करने में भी निषेध है, जिसकी माँ का गोत्र और वर का गोत्र एक हो[1]।

कालिदास कन्या के अछूते सौन्दर्य पर ज़ोर देते हैं। उनकी सभी नायिकाएँ अनन्य सुन्दरी हैं[2]। अतः बाह्य सौन्दर्य उनकी दृष्टि में सब कुछ है। परन्तु इस बाह्य सौन्दर्य के साथ वे पवित्रता को भी आवश्यक समझते हैं। 'अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं अनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्'[3] आदि अनूठी उक्तियाँ इस अछूते सौन्दर्य की मान्यता में प्रमाण हैं।

अतः वनादि की परवाह न कर, राजपुत्र अनन्य सुन्दरी स्त्रियों के साथ विवाह कर लेते थे। स्वयंवर-प्रथा से आभासित होता है कि लड़की यदि वर माला डाल दे तो कोई भी बिना किसी बन्धन के विवाह कर सकता है।

कालिदास अच्छी पत्नी की परिभाषा 'गृहिणीसचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ'[4] करते हैं। अतः पत्नी गृहकार्य में दक्ष, सुन्दरी, सम्मति देने वाली, मित्र, कलाविद् होनी चाहिए। कन्या में ये ही गुण होने पर आवश्यक हैं। संक्षेप में जो धर्म, अर्थ और काम तीनों की सहचरी हो ऐसी ही कन्या उनकी दृष्टि में उत्तम है।

कन्या के सौन्दर्य-ज्ञान के साधन—आजकल की तरह प्राचीनकाल में भी फ़ोटो या चित्र भेजे जाते थे। दूतियाँ भी कन्या को देखने जाती थीं और वे आकर उसके विषय में बता देती थीं।

विवाह-योग्य अवस्था—अधिकतर वैदिक शिक्षा की समाप्ति पर पुरुष विवाह कर गृहस्थ हो जाते थे। स्वयं कालिदास शिक्षा की समाप्ति पर गोदान-संस्कार तथा इसके पश्चात् विवाह करवा देते हैं। परन्तु शिक्षा की अवधि कुछ निश्चित नहीं थी। कोई समस्त वेद पढ़ता था कोई एक ही और कोई एक वेद का भी एक ही भाग। प्रायः आठवें वर्ष में या इसके आसपास ही उपनयन संस्कार होता था। अधिकतर बारह वर्ष ब्रह्मचर्य का रहता था इसलिए बीस या इसके आसपास ही पुरुष विवाह कर लेते होंगे ऐसा अनुमान

---

१ धर्मशास्त्र का इतिहास पृष्ठ ४१७

२ देखिए अध्याय वेशभूषा—कालिदास की सौन्दर्य प्रतिष्ठा।

३ अभि २।११   ४ रघु ८।६७

५ प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतिसंदर्शिताभ्यः समधिकतररूपाः शुद्धसन्तानकामैः।
अधिविविदुरमात्यैराहृतास्तस्य यूनः प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ राजकन्याः॥
—रघु १८।५३

किया जाता है। मनु का इस विषय में कहना है कि तीस वर्ष का पुरुष बारह वर्ष की कन्या से विवाह कर सकता है।

रघु के विषय में कवि का कहना है कि जैसे गाय का बछड़ा बड़ा होकर साँड हो जाता है, हाथी का बच्चा गजराज, वैसे ही रघु ने भी जब बाल्यावस्था व्यतीत कर युवावस्था में पैर रखा तब उनका शरीर और भी खिल उठा। राजा ने गोदान-संस्कार कर उनका विवाह कर दिया[1]। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस समय उनकी अवस्था बीस और पच्चीस के बीच की होगी। अध्ययनावधि की समाप्ति पर पूर्ण युवा हो जाने पर गुरु की अनुमति पाकर ही पुरुष विवाह करते थे (रघु ५।१)। विक्रम में भी तापसी कहती है कि यह (आयुस) कवच धारण करने योग्य हो गया है (अंक ५)। राजा भी कहता है तुम ब्रह्मचर्य में रह चुके अब तुम्हें गृहस्थाश्रम में रहना चाहिए (अंक ५)। अतः क्षत्रिय पुरुष युवा होने पर विवाह करते थे। वैसे पुरुष सभी अवस्था में विवाह कर लिया करते थे। उदाहरण के लिए दुष्यन्त की कई रानियाँ पहले ही थीं उसके पश्चात् शकुन्तला से उसका विवाह हुआ था। अवश्य ही वे प्रौढ़ होंगे और शकुन्तला और उनकी वयस में अधिक अन्तर होगा। यह सीमा मालविकाग्निमित्र में बहुत बढ़ी दिखाई पड़ती है। धारिणी जो अग्निमित्र की सबसे बड़ी रानी थी का पुत्र वसुमित्र युद्ध में गया था और उसने बड़ी वीरता से शत्रुओं को दूर भगाया और अश्वमेध के घोड़े को शत्रुओं के हाथ से छुड़ा लिया। इसके अनुसार अग्निमित्र की अवस्था अवश्य ही चालीस पैंतालीस के आसपास होगी। जिस समय का यह प्रसंग है उसी समय मालविका जो षोडशी परन्तु कुमारी थी और राजा का प्रेम-व्यापार चल रहा है और राजा के साथ अन्त में उसका विवाह भी हो जाता है।

अतः पुरुषों के विवाह के लिए कोई भी बन्धन नहीं था। उनकी उम्र नहीं देखी जाती थी। वे किसी भी अवस्था में और चाहे जितने विवाह कर सकते थे। इसका तर्क यों भी मान्य था। वंश चलाने के लिए ही विवाह किया जाता था अतः यदि पुत्र न होता था वे दूसरा विवाह करने के भी अधिकारी हो जाते थे।

१ महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्निव द्विपेन्द्रभावं कलभः श्रयन्निव।
रघुः क्रमाद्यौवनभिन्नशैशवः पुपोष गाम्भीर्यमनोहरं वपुः॥
अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयद्गुरुः।
नरेन्द्रकन्यास्तमवाप्य सत्पतिं तमोनुदं दक्षसुता इवाबभुः॥—रघु ३।३२॥

स्त्रियों के विवाह के सम्बन्ध में दो बातें बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। पहली बात यह कि विवाह को समझने की उनमें यथेष्ट बुद्धि होती थी जानी वे समझदार होती थी। इसका तात्पर्य यह कि विवाह छोटी अवस्था में नहीं होता था।

जैसा पहले कहा जा चुका है कि भ्रातृहीन कन्या के साथ विवाह अच्छा नहीं समझा जाता था। ऋग्वेद[1] तक में उदाहरण है कि इस प्रकार की कन्याएँ पिता के घर में ही बूढ़ी हो जाती थी। यदि इस बात को छोड़ दिया जाय तो अभिज्ञानशाकुन्तल में राजा दुष्यन्त शकुन्तला के विषय में साफ-साफ पूछता है कि यह आजन्म हिरनियों के साथ वनवासी रहेगी या विवाह होने तक ही इसका तपस्विनी वेश रहेगा[2] ? इसका उत्तर प्रियंवदा देती है कि 'गुरो पुनरस्या अनुरूपवरप्रदाने संकल्प'[3]। मनु ने भी इस बात का समर्थन किया है कि यदि योग्य वर न मिले तो आजन्म कन्या पिता के पास रहे। किसी भी अवस्था में अयोग्य वर के हाथ पिता को कन्या नहीं सौंपनी चाहिए[4]। इन बातों से साफ व्यक्त होता है कि विवाह अवश्य ही हो ऐसा कोई नियम एवं सख्त बंधन नहीं था। कालिदास के समय में भी यह बन्धन नहीं था अन्यथा दुष्यन्त के मुख से वे इस प्रकार का वाक्य नहीं कहलवाते।

अब प्रश्न आता है कि स्त्रियों का विवाह किस अवस्था में होता था। ऋग्वेद में स्त्रियाँ अपने पति स्वयं चुनती थीं इसका स्थान-स्थान पर संकेत है[5]। काणे की सम्मति के अनुसार युवती होने से कुछ पहले या बाद में विवाह हो जाता था[6]। इसकी पुष्टि धर्मसूत्र और गृह्यसूत्र भी करते हैं। अधिकांश में सभी गृह्यसूत्रों में कहा गया है कि शादी होने के पश्चात् दम्पति यदि अधिक नहीं तो कम-से-कम तीन रात ब्रह्मचर्य अवस्था में रहें। अर्थात् तीन रात्रियों के पश्चात् संभोग करें[7]। यदि विवाह-योग्य अवस्था आठ या दस वर्ष मानी जाय

---

१ ऋग्वेद ? १७७

२ वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानाद्व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्।
अत्यन्तमेव मदिरेक्षणवल्लभाभिराहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभि ॥
—अभि १।२५

३ अभि अंक १ पृ २१ ४ मनु ९।८९, ९

५ ऋग्वेद १ २०१२ ऋग्वेद १ ८५ २६–२७

६ धर्मशास्त्र का इतिहास पृ ४४

७ पारस्कर गृह्यसूत्र १ ८ आश्वलायन गृह्यसूत्र १ ८ १ आपस्तम्ब ८ ८–९, मानव गृह्यसूत्र १ १४ १४ ..

प्रियसखी अन्यजनसंक्रमणीया न भवति तथा नियतम्'[1] उसका पूर्ण युवती होना बताता है। कण्व भी शकुन्तला की विदा के समय उनके नगर-प्रवेश पर आपत्ति करते हुए कहते हैं कि इनका भी अभी विवाह होना है[2]।

उनकी मालविका कोई भी आठ दस वर्ष की बालिका नहीं दीखती। प्रेम बाणों से बिद्ध होना आदि उनकी परिपक्व अवस्था का ही द्योतक है। अतः यदि यह मान भी लिया जाय कि विवाह छोटी अवस्था में होता था तब भी सोलह से पहले लड़की और बीस से पहले लड़के का विवाह न होता होगा। प्रमाण यद्यपि कालिदास ने क्षत्रियों के दिए हैं और उन्होंने सभी नायक-नायिकाएँ क्षत्रिय रखी हैं पर यह नियम सामान्य ही होगा। स्त्री का विवाह युवती होने पर ही होता था। कालिदास की सभी नायिकाएँ उपभोगक्षमा हैं। शकुन्तला का उठता यौवन प्रियंवदा (सहासम्)—अत्र पयोधरविस्तारयितृ आत्मनो यौवनमुपालभस्व। मा किमुपालभसे'[3] तथा अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात्पश्चात् (३।६) से व्यक्त होता है। मालविका की पूर्ण यौवनावस्था—'निविडोन्नतस्तनमुरः मध्यः पार्श्वमितो नितम्बिजघनम्'[4] स्थान-स्थान पर व्यक्त की है। 'नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना बद्धफलतयोपभोगक्षमः सहकारः'[5] वाक्य में नवकुसुमयौवना से मानसिक प्रेम होने का संकेत है और बद्धफलतया से सहकार के पुष्ट बीज फलत उपभोग की क्षमता स्पष्ट कही गई है। अर्थात् शकुन्तला का मन संभोग सुख की ओर अग्रसर हो रहा है, इस बात को कवि ने प्रकृति के व्याज से कहलवाया है। इसी प्रकार—

'तस्याः प्रविष्टा नतनाभिरन्ध्रं रराज तन्वी नवलोमराजिः'[6]

मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या वलित्रयं चारु बभार बाला।
आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम्॥[7]

अन्योन्यमुत्पीडयदुत्पलाक्ष्याः स्तनद्वयं पाण्डु तथा प्रवृद्धम्।
मध्ये यथा श्याममुखस्य तस्य मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम्॥

आदि के द्वारा पार्वती को विशेष यौवनशाली बताया है।

इससे कहा जा सकता है रजस्वला होने के बाद विवाह होता होगा अर्थात् सोलह वर्ष से पहले नहीं। कालिदास का सम्पूर्ण मालविका-वर्णन इसका प्रमाण है। स्वयंवर में लड़की काफी समझदार होनी चाहिए। यह दूसरा प्रमाण

१ अभि अंक ३ पृ ५९ — २ अभि अंक ४ पृ ७६ पूर्वोल्लेख
३ अभि अंक १ पृ ११ — ४ माल २।३
५ अभि अंक १ पृ १४ — ६ कुमार १।३८
७ कुमार १।३९ — ८ कुमार १।४०

है। मालविका और उर्वशी की प्रसवशीला और शकुन्तला का गर्भवती होना इसकी पुष्टि करता है।

अन्तर्जातीय विवाह—वैदिक साहित्य में अन्तर्जातीय विवाह का कई स्थानों पर उल्लेख है। परन्तु गृह्यसूत्र[1] अपनी ही जाति की कन्या के साथ विवाह करने के पक्ष में हैं। मनु[3] वसिष्ठ[4] आदि अपने से नीची वर्ण की कन्या—जैसे ब्राह्मण-क्षत्रिय वैश्य या शूद्र के साथ, क्षत्रिय वैश्य या शूद्र के साथ, वैश्य शूद्र के साथ भी विवाह करने की अनुमति दे देते हैं पर इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि सवर्णीय विजातीय से अच्छी मानी जाती थी। स्वयं मनु ब्राह्मण को शूद्र कन्या के साथ विवाह करने में नरक मिलेगा ऐसा कह देते हैं[5]। फिर भी कहा जा सकता है कि इतना होने पर भी ऐसे विवाह हो ही जाते होंगे। मनु स्वयं कहते हैं कि यदि शूद्र कन्या का अपने से उच्च वर्ण पुरुष के साथ विवाह हो तो उसे वर के वस्त्र का प्रान्तीय भाग (Hem) पकड़ना चाहिए[6]।

कालिदास के ग्रन्थों में भी अन्तर्जातीय विवाह का संकेत है। 'मालविकाग्निमित्र' में शुङ्ग वंश के सेनापति पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र ने जो ब्राह्मण था क्षत्रिय कन्या मालविका से विवाह किया था। शकुन्तला के पिता क्षत्रिय थे और माता अप्सरा था। दोनों समान नहीं थे फिर भी दुष्यन्त ने जो क्षत्रिय था शकुन्तला के साथ विवाह किया। यही नहीं राजा शकुन्तला को देखकर सन्देह करता है कि ऋषि-कन्या कहीं दूसरे वर्ण की स्त्री से तो नहीं उत्पन्न हुई[7]। यह भी इसी बात की पुष्टि करता है कि अन्तर्जातीय विवाह होते अवश्य थे चाहे निम्न दृष्टि से देखे जाते हों। विदूषक स्वयं राजा से कहता है कि अच्छा तुम इससे विवाह कर लो नहीं तो यह किसी तपस्वी के हाथ जा पड़ेगी[8]। अतः उसका विवाह किसी तपस्वी के साथ भी सम्भव था।

---

१ गणपत पाठक (धर्मशास्त्र का इतिहास पृ ४८२)
२ आपस्तम्ब धर्मसूत्र २ ६ १३ १ और ३, मानव गृह्यसूत्र १ ७ ८
—गौतम धर्मसूत्र ४ १ धर्मशास्त्र का इतिहास पृ ४४८
३ मनु ३.१२ १३
४ वसिष्ठ धर्मसूत्र १ का २५ बौधायन १ ८ २
५ मनु ३.१७ ६ मनु ३.४४
७ अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसम्भवा स्यात्।—अभि १ पृ १५
८ तेन हि लघु परित्रायतामेनां भवान्।
मा कस्यापि तपस्विन इंगुदीतैलमिश्र चिक्कणशीर्षस्य हस्ते पतिष्यति॥
—अभि पृ १४

मालविकाग्निमित्र में (अंक १) 'अस्ति देव्या वर्णावरो भ्राता वीरसेनो नाम । स भर्त्रा नर्मदातीरे अन्तपालदुर्गे स्थापितः' वर्णावरो शब्द भी प्रमाणित करता है, कि निम्नवर्ण या दूसरे वर्ण की स्त्री से साथ विवाह हो जाता होगा ।

बहु विवाह—एक पुरुष के कई विवाह के अनेक वृत्तान्त वैदिक साहित्य में ही नहीं कालिदास के ग्रंथों में भी हैं पर किसी स्त्री ने एक ही समय अनेक पति नहीं किए। रघुवंश में राजा दिलीप के कई रानियाँ थीं[१]। राजा दशरथ के भी तीन रानियाँ थी[२]। शकुन्तला में भी दुष्यन्त कि कई रानियाँ थीं इसका भी स्पष्ट संकेत है 'बहुवल्लभा राजान श्रूयन्ते'[३] किमन्तःपुरविरहपर्युत्सुकस्य राजर्षेरुपरोधेन'[४]। मालविकाग्निमित्र म इरावती और धारिणी दो रानियाँ थीं पुत्र वसुमित्र भी था तब भी अग्निमित्र ने मालविका से विवाह किया। 'विक्रमोर्वशी' में काशी-नरेश की पुत्री पुरूरवा की रानी थी दूसरी उर्वशी उसकी प्रेमिका थी ।

परन्तु स्त्री का एक ही पति होता था[५]। एकपत्नी व्रत की व्याख्या ही मल्लिनाथ ने इस प्रकार की है—'एक पतिर्यस्या सैकपत्नी पतिव्रता'[६]।

विवाह के प्रकार—गृह्यसूत्र धर्मसूत्र और स्मृतियों के समय से ही विवाह के आठ प्रकार कहे गए[७]—ब्राह्म प्राजापत्य आर्ष दैव गान्धर्व आसुर राक्षस और पैशाच । आपस्तम्ब आठ के स्थान पर केवल छ का ही उल्लेख करता है—ब्राह्म दैव आर्ष गान्धर्व क्षात्र और मानुष (क्षात्र और मानुष राक्षस और आसुर के ही पर्यायवाची हैं)। इन सब विवाहों की विशेषता सब ग्रन्थों में लगभग एक-सी ही है। मनु ने भी इनकी परिभाषा और विशेषता इस प्रकार वर्णित की है । वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कन्या को विद्या और आचारवान् व्यक्ति को देना ही ब्राह्म है। वस्त्राभूषणों से अलङ्कृत कन्या का यज्ञ आदि

---

१ कलत्रवन्तमात्मानमवरोधे महत्यपि
तया मेने मनस्विन्या लक्ष्म्या च वसुधाधिप ।—रघु १।३२

२ रघु सर्ग १ ३ अभि अंक ३ पृ ९१ ४ अभि अंक ३ पृ ९१

५ तामेकपत्नीव्रतदु खशीला काल मनस्वारतया प्रविष्टाम् ।—कुमार ३।७

६ देखिए, इसी की टीका ।

७ आश्वलायन गृह्यसूत्र १ ६ गौतम ४ ६–१३ बौधायन धर्मसूत्र १ ११ मनु ३।२१ कौटिल्य ३ १ ६९वाँ प्रकरण ।

८ आपस्तम्ब धर्मसूत्र २ का ५ ११ १७–२ २ का ५ १२ १–२

९ मनु ३।२७–३४

में ग्रहण करे, यदि वह इसे स्वीकार न करे, तो लड़की का विवाह दूसरे स्थान पर कर दिया जाय और उसे बहुत कड़ा दड दिया जाय[1]।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि होम सप्तपदी आदि विवाह चाहे किस प्रकार का भी हो आवश्यक है। स्वयं कालिदास[2] ने रघुवंश में इन्दुमती के स्वयंवर के बाद अज और इन्दुमती का विधिपूर्वक विवाह कराया था। सभी स्मृतियों का कहना है कि प्रथम चार ब्राह्म दैव आर्ष और प्राजापत्य प्रशस्त हैं। सभी इनमे पैशाच को सबसे अधम कहते हैं। मनु ने तीन सम्मतियाँ दी हैं पहली धारणा[3] यह कि प्रथम चार ब्राह्मणों के लिए उपयुक्त है। दूसरी धारणा[4] के अनुसार राक्षस और पैशाच के अतिरिक्त छ प्रकार के विवाह ब्राह्मण योग कर सकते हैं। आसुर, गान्धर्व राक्षस और पैशाच क्षत्रिय योग्य गान्धर्व राक्षस और पैशाच वैश्य और शूद्र योग कर सकते हैं। तीसरी[5] धारणा के अनुसार प्राजापत्य गान्धर्व और राक्षस सभी वर्णों के लिए मान्य हैं परन्तु पैशाच और आसुर किसी भी वर्ण का कोई न करे। फिर भी मनु वैश्य और शूद्रों को आसुर विवाह की भी अनुमति दे देते हैं।[6] उनका यह भी कथन है कि गान्धर्व और राक्षस क्षत्रियों के लिए बहुत उत्तम है (क्षत्रियों के लिए लड़की को स्वयंवर में से हर लाना सामान्य बात थी अम्बिका अम्बालिका सुभद्रा संयुक्ता आदि-आदि ....) या दोनों का यदि मिला-जुला रूप हो अर्थात् लड़की किसी विशेष व्यक्ति से प्रेम करती हो और माता-पिता प्रस्तुत न हो ऐसी अवस्था म बलात्कार लड़की को हर लाना बुरा नही है[7]।

कालिदास ने गान्धर्व विवाह उर्वशी और शकुन्तला का दिखाया है। चाहे वे पक्ष मे न हों परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि राजघरानों मे यह एक साधारण बात थी।

संक्षेप मे विवाह के आठों प्रकारों को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम वर्ग में उस प्रकार के सभी विवाह आते हैं जिनमे पिता का समस्त उत्तर दायित्व रहता था और वह अपनी इच्छा से योग्य वर ढूढ कर उसे कन्या दे देता था—ब्राह्म प्राजापत्य आसुर दैव आर्ष। दूसरे वग में वे विवाह आते थे जहाँ पिता योग्य वर प्राप्त नहीं कर पाता था और लड़की को अपना वर ढूढने की अनुमति दे दी जाती थी या वह अपनी इच्छा से ही वर ढूढ कर विवाह कर लेती थी या कोई हर ले जाता था। इसमें गान्धर्व विवाह, राक्षस विवाह, जिसमें

---

१ मनु ८।३६६ २ रघु सर्ग ७ ३ मनु ३।२४
४ मनु ३।२३ ५ मनु ३।२५ ६ मनु ३।२४ ७ मनु ३।२६

स्यमाना प्रमदामिव वनानुरूपा पञ्चानमवात्म तस्थौ' (रघु ७।११) इस श्लोक में किया है।

विवाह में प्रेम का स्थान—कालिदास ने विवाह किसी भी प्रकार का क्यों न दिखाया हो पर सबमें उन्होंने प्रेम एवं आकर्षण को प्रथम दिया। प्रेम के सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति प्रणय-व्यापार, मदन-लेख काम विरह इसी बात की पुष्टि करते हैं कि वस्तुतः विवाह से पूर्व के आकर्षण एवं प्रेम की उत्पत्ति को सफल विवाह की पहली सीढ़ी समझते थे। दुष्यन्त को देखते ही शकुन्तला प्रभावित हो गई थी[1]। उसका यह प्रभावित होना दुष्यन्त से छिपा भी नहीं था। मित्र विदूषक से वह कहता है—

> दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
> आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ॥[2]

ऐसा ही प्रभाव शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त पर भी पड़ा था। उसके विरह में शकुन्तला की तरह वह भी दिन-प्रतिदिन क्षीण होता जा रहा था[3]।

इसी आकर्षण को इन्दुमती के स्वयंवर में भी देखा जा सकता है। दासी सुनन्दा एक-एक कर सभी राजपुत्रों के शौर्य के गीत सुना रही थी परन्तु अज को देखकर उसके अनुपम सौन्दर्य से प्रभावित होकर उसके मन में आगे जाने की इच्छा नहीं हुई, जिस प्रकार षट्पदावली सहकार के पास पहुँचकर किसी अन्य वृक्ष के पास जाने की इच्छा नहीं करती[4]।

उर्वशी के सौन्दर्य को देखकर पुरूरवा कम प्रभावित नहीं हुआ। उसके शरीर का स्पर्श उसे बार-बार रोमांचित ही कर रहा था[5]। उर्वशी ठीक शकुन्तला की तरह पुरूरवा से प्रभावित हो गई थी। राजा को देखती हुई सखि-व्यास

---

१ किं नु खलु इमं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता।
—अभि अंक १ पृ १७

२ अभि २।१२

३ इदमशिशिरैरन्तस्तापाद्विवर्णमणीकृतं निशि निशि भुजन्यस्तापाङ्गप्रसारिभिरश्रुभिः।
अनभिलुलितज्याघाताङ्कं मुहुर्मणिबन्धनात् कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसार्यते॥
—अभि ३।११

४ तं प्राप्य सर्वावयवानवद्यं व्यावर्तताऽन्योपगमात्कुमारी।
न हि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदाली ॥—रघु ६।६९

५ यदिदं रथसंक्षोभादङ्गेनाङ्गं ममायतेक्षणया।
स्पृष्टं सरोमकण्टकमङ्कुरितं मनसिजेनेव ॥—विक्रम १।११

वह चली जाती है और बड़ी चाह के साथ राजा को देखकर मन में सोचती है—'अपि नामपुनरप्युपकारिणमेतं प्रेक्षिष्ये'[1]। पुरुरवा को ऐसा प्रतिभासित हुआ कि आकाश में उड़कर जाती हुई उसके मन को भी बलपूर्वक खींचे लिए जा रही है[2]।

मालविका का सौन्दर्य भी कम प्रभावशाली न था। उसको देखकर राजा को भान होता है कि चित्रकार उसकी सच्ची तस्वीर उतार ही नहीं पाया[3]। उसकी प्रत्येक मुद्रा राजा पर प्रभाव डाल देती है[4]। उसकी तिरछी चितवन राजा का हृदय समस्त रानियों की ओर से खींच लेती है[5]। राजा को देखकर मालविका का भी यही हाल होता है। अकेले में वह सोचती है—'अविज्ञातहृदयं भर्तारमभिलषन्त्या आत्मनोऽपि तावल्लज्जे। कुतो विभवः स्निग्धस्य सखीजनस्यैतं वृत्तान्तमावेदयितुम्। न जाने प्रतिकारगुरुं वेदनां कियन्तं कालं मदनो मां नेष्यतीति'[6]।

मनुष्य तो मनुष्य देवता भी इस आकर्षण और प्रेम से अपने को न बचा पाए। महादेव भी पार्वती को देखकर इतने आकर्षित हुए कि वह एक क्षण तक उनके बिम्बाफल के समान ओठों पर अपनी ललचाई दृष्टि डाले रहे और पार्वती जी फूले हुए नए कदम्ब के समान पुलकित अंगों से प्रेम व्यक्त करती हुई लजीली आँखों से अपना सुन्दर मुख कुछ तिरछा कर खड़ी रह गईं[7]।

---

१ विक्रम अंक १ पृ १६५

२ एषा मनो मे प्रसभं शरीरात्पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती।
सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रात्सूत्रं मृणालादिव राजहंसी ॥—विक्रम १।२

३ चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशङ्कि मे हृदयम्।
सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता ॥—माल २।२

४ अहो सर्वास्ववस्थासु चारुता शोभान्तरं पुष्यति तथा हि—
वामं सन्धिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामाविटपसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम्।
पादाङ्गुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम् ॥—माल २।६

५ सर्वान्तःपुरवनिताव्यापारप्रतिनिवृत्तहृदयस्य।
सा वामलोचना मे स्नेहस्यैकायनीभूता ॥—माल ३।१४

६ माल अंक ३ पृ ३५६

७ हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥
विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥—कुमार ३।६७, ६८

तन्मयता—प्रेम की तन्मयता दिखलाने में भी कवि चूका नहीं। प्रेम में जब तन्मयता आ जाती है तब व्यक्ति का हृदय उसमें स्थिर हो जाता है। 'ममात्र भावैकरसं मनः स्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते'[1]। प्रेम की धारा रुद्ध होने पर भी अपना मार्ग नहीं छोड़ती मार्ग बदल चाहे ले[2]।

शारीरिक स्पष्टीकरण—प्रेम का शारीरिक स्पष्टीकरण अपनी ही सत्ता रखता है। प्रेम के विकास के सम्बन्ध में उसका कथन है कि प्रेम-तरु का मूल प्रिया के सौन्दर्य का श्रवण गुनना है, पल्लवित होना प्रिया को देखना है उसमें कलियाँ तब आती हैं जब प्रिया के स्पर्श से रोमांच होता है[3]। हृदय से पृथक न रहनेवाली प्रिया के अभाव में व्यक्ति दुःखी ही रहता है, यद्यपि वह मन को समझाना चाहता है कि शरीर का क्षीण होना ठीक है क्योंकि उस आलिंगन का सुख नहीं प्राप्त हो पाता। नेत्र भी अश्रुपूर्ण हो सकते हैं क्योंकि प्रिया के दर्शन नहीं हो पाते परन्तु हृदय क्यों दुःखी है जब एक क्षण के लिए भी प्रिया उससे पृथक न हुई[4]।

स्वभावतः प्रेम की उत्पत्ति हो जाने पर भी पहले स्त्री कभी शब्दों द्वारा उसको व्यक्त नहीं करती उसके शारीरिक हाव-भाव ही उसकी अभिव्यक्ति कर देते हैं[5]। प्रेम की प्रारम्भिक अवस्था में स्त्री प्रेम में विभोर होकर प्रिय रूप को देखना चाहती है परन्तु वह लज्जावती अधिक होती है—'कुतूहलवतापि निसर्गशालीन स्त्रीजन'[6]। उसके शब्द सीमित ही रहते हैं—'प्रविरला इव मुग्धवधूकथा'[7] लज्जा से झुकी मुख को आधा मोड़े हुए अपने प्रेम को मधुमय दृष्टि से व्यक्त कर जाती रह जाती है[8]। लज्जा से बात न कह पाने पर भी

१ कुमार ५।८२
२ नद्या इव प्रवाहो विषमशिलासंकटस्खलितवेगः ।
विघ्नितसमागमसुखो मनसिशयः शतगुणी भवति ॥—विक्रम ७।८
३ तमाश्रित्य श्रुतिपथगतामास्थया लब्धमूलः सम्प्राप्तायां नयनविषयं रूढरागप्रवालः ।
हस्तस्पर्शैर्मुकुलित इव व्यक्तरोमोद्गमत्वात्कुर्यात्कान्तं मनसिजतरुर्मां रसज्ञं फलस्य ॥—माल ४।१
४ शरीरं क्षामं स्यादसति दयितालिङ्गनसुखे
भवेत्सास्रं चक्षुः क्षणमपि न सा दृश्यत इति ।
तया सारङ्गाक्ष्या त्वमसि न कदाचिद्विरहितं
प्रसक्ते निर्वाणे हृदय परितापं व्रजसि किम् ॥—माल ३।१
५ स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु—मेघदूत १ २४ ।
६ माल अंक ४ प ३२१ ७ रघु ९।३४
८ विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥—कुमार ३।६८

मदन-लेख एवं प्रेम-पत्र—अवश्य ही प्रेम में मदन-लेख का अति महत्त्व है। प्रेम के सूक्ष्म मर्मों पर दृष्टि रखने वाले ने इसको भुलाया नहीं। शकुन्तला का पत्र-लेखन[1] और उर्वशी का भूर्जपत्र पर लिखा प्रेमसन्देश[2] इसके प्रतीक हैं।

दूती—युगल प्रेमियों को मिलाने के लिए किसी मध्यस्थ का होना भी आवश्यक है। शकुन्तला और दुष्यन्त के सम्मिलन में अनसूया और प्रियंवदा का हाथ था। इसी प्रकार उर्वशी और पुरूरवा के संयोग में उर्वशी की सखी चित्रलेखा का योग था। स्वयं कवि ने दूती[3] शब्द का प्रयोग किया है जो प्रणय-प्रकाशन में सहायता देती थी। पार्वती ने भी शिव के पास दूती रूप में सखी भेजी थी[4]।

विवाह के पूर्व प्रणय में कवि की आस्था अवश्य थी। पर इस सम्बन्ध में एक बात सदा याद रखनी चाहिए—कवि प्रेम हो जाने पर भी विधिपूर्वक सबके सम्मुख विवाह हो जाने के पक्ष में है। शिव-पार्वती का आकर्षण और प्रेम विधिपूर्वक विवाह के द्वारा पूर्ण किया गया। मालविका के प्रति भी अग्निमित्र का कम आकर्षण और प्रेम नहीं था। इसकी भी समाप्ति विवाह में धारिणी और इरावती के सम्मुख हुई। शकुन्तला के प्रेम और गुपचुप काम की कवि ने निन्दा ही की है[5]।

विवाह-संस्कार—विवाह संस्कार के तीन भाग किए जा सकते हैं—(१) विवाह से पूर्व प्रारम्भिक क्रियाएँ (Preliminaries) (२) मूल संस्कार, पाणिग्रहण होम अग्नि-प्रदक्षिणा और सप्तपदी (३) कुछ अन्य बातें—यथा ध्रुव तारे की ओर देखना लोकाचार आदि।

विवाह के पूर्व की प्रारम्भिक क्रियाएँ—इसमें वर-वधू की गुण-परीक्षा कन्या के पिता के पास वर की ओर से किसी का जाना और कन्या के साथ

हर्म्येऽस्मिन्नवतीय साध्वसवशात्सव्याममाना बलात्
आनीयेत यथास्वयं अनुरया सख्या ममोपान्तिकम् ॥—विक्रम ३।१५

१ अभि अंक ३ ३।२४ मन्मथ लेख

२ स्वामिन्संभाविता यथाहं त्वया अज्ञाता तथानुरक्तस्य यदि नाम तवोपरि
किं मे ललितपारिजातशयनीये भवन्ति नन्दनवनवाता अत्युष्णका शरीरके।
—विक्रम २।१२

३ ता प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः।
प्रवालशोभा इव पादपानां शृङ्गारचेष्टा विविधा बभूवुः ॥—रघु ६।१२

४ अथ विज्ञाप्यते गौरी संदिदेश शिवं सखीम्।
दाता मे भूभृतां नाथः प्रमाणीक्रियतामिति ॥—कुमार ६।१

५ अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्संगतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरी भवति सौहृदम् ॥—अभि ५।२४

स्वयंवर—राजपुत्री के साथ विवाह करने को आतुर राजकुमार अपनी ओर आकर्षित करने के लिए तरह-तरह की शृंगार चेष्टाएँ करते थे[1]। सखी राजपुत्री को एक एक राजपुत्र के पास बारी-बारी से ले जाती थी और प्रत्येक के गुण और वंशादि के विषय में विस्तारपूर्वक बताती जाती थी[2]। जो राजपुत्र उसे जंच जाता था उसके पास पहुँच कर वह फिर आगे नहीं जाती थी[3]। निश्चय करते ही अपनी सखी के हाथों से उसके गले में स्वयंवर की माला पहनवा देती थी[4]। यह माला वन में गुँथी महुए के फूलों की होती थी[5] और इसके डोरे में रोली लगी रहती[6] थी। माला पहनाने के पश्चात् वर निश्चित हो जाता था। निश्चित वर और उसका पक्ष प्रमुदित हो जाता था शेष सब उदास[7]।

वैवाहिक मांगलिक क्रियाएँ—स्वयंवर हो चुकने के बाद शेष सभी राजा अपने-अपने सेनानिवेश में चले जाते थे[8]। वर और कन्या को लेकर कन्यापक्ष का कर्ता-धर्ता नगर में प्रवेश करता था[9]।

नगर की सजावट—सत्कारार्थ सारा नगर भली भाँति सजाया जाता था। इन्द्रधनुष के समान रंग-बिरंगे तोरण स्थान-स्थान पर लगाए जाते थे[10]। स्थान-स्थान पर झंडियाँ लगाई जाती थीं[11]। वर कन्या के नगर में प्रवेश करते

---

१ रघु ६।१२-१९ २ रघु ६।२ –७९

३ तथागतायां परिहासपूर्वं सख्यां सखी वेत्रभृदाबभाषे ।
आर्ये व्रजामोऽन्यत इत्यथैनां वधूरसूयाकुटिलं ददर्श ॥—रघु ६।८२

४ स चूर्णगौरं रघुनन्दनस्य धात्रीकराभ्यां करभोपमोरुः ।
आसञ्जयामास यथाप्रदेशं कण्ठे गुणं मूर्तमिवानुरागम् ॥—रघु ६।८३

५. एवं तयोक्ते तमवेक्ष्य किंचिद्विस्रंसिदूर्वाङ्कमधूकमाला ।—रघु ६।२५

६ देखिए, पादटिप्पणी नं ४

७ देखिए पृष्ठ नं १ ४ की पादटिप्पणी ३

८ सेनानिवेशान्पृथिवीक्षितोऽपि जग्मुर्विभातग्रहमन्ददीप्ताः ।—रघु ७।२

९ अथोपयन्त्रा सदृशेन युक्तां स्कन्देन साक्षादिव देवसेनाम् ।
स्वसारमादाय विदर्भनाथः पुरप्रवेशाभिमुखो बभूव ॥—रघु ७।१

१० तावत्प्रकीर्णाभिनवोपचारमिन्द्रायुधद्योतिततोरणाङ्कम् ।
वरः स वध्वा सह राजमार्गं प्राप ध्वजच्छायनिवारितोष्णम् ॥—रघु ७।४

११ देखिए, पादटिप्पणी नं १

चौक में से जाकर सिंहासन पर बिठा देते थे[1]। वहाँ उसे माता को दुकूलयुग्म रत्नयुक्त अर्घ्य और मधुपर्क भेंट दी जाती थी[2]। इसके पश्चात् विवाह-संस्कार के लिए वर को कन्या के पास ले जाया जाता था[3]।

विवाह-संस्कार

(अ) कन्यादान—जैसा पहले कहा जा चुका है माता पिता जब वर ढूँढने में असमर्थ होते थे तब कन्या को स्वतंत्रता दे देते थे कि वह अपना वर स्वयं ढूँढे। अतः उत्तरदायित्व स्वयंवर में माता-पिता का न होकर स्वयं कन्या का होता था। यही कारण है कि इसमें कन्यादान का कोई महत्त्व नहीं रहता। कवि ने सम्भवतः इसी कारण कन्यादान का यहाँ उल्लेख नहीं किया।

(ब) अग्नि स्थापन और होम[4]—कन्यादान के पश्चात् या पूर्व पुरोहित घी आदि सामग्रियों से हवन कर उसी अग्नि को साक्षी बनाकर वर वधू को संयुक्त कर देता था। अग्नि घी और शमी के पत्तों से सुगन्धित हो जाती थी (रघु ७।२६)।

(स) पाणिग्रहण[5]—वर वधू के हाथ पकड़ता था कदाचित् स्वीकृति की सूचना भर हो।

(द) अग्नि-परिणयन[6]—वर और वधू दोनों विवाह के समय स्थापित की हुई अग्नि की प्रदक्षिणा करते थे।

(य) लाजाहोम[7]—तत्पश्चात् कन्या पुरोहित के कहने से अग्नि में खीलें डालती थी।

---

१ वैदर्भनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः।—रघु ७।१७

२ महार्हसिंहासनसंस्थितोऽसौ सरत्नमर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम्।
भोजोपनीतं च दुकूलयुग्मं जग्राह सार्धं वनिताकटाक्षैः॥—रघु ७।१८

३ दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधरक्षैः।
वेलासकाशं स्फुटफेनराजिर्नवैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः॥—रघु ७।१९

४ तत्रार्चितो भोजपतेः पुरोधा हुत्वाग्निमाज्यादिभिरग्निकल्पः।
तमेव चाधाय विवाहसाक्ष्ये वधूवरौ संगमयाञ्चकार॥—रघु ७।२

५ हस्तेन हस्तं परिगृह्य वध्वाः स राजसूनुः सुतरां चकासे।—रघु ७।२१

नोट—वर-वधू का वेश और विवाह-संस्कार प्राजापत्य विवाह हो या स्वयंवर एक-सा ही रहता था।

६ प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकासे।—रघु ७।२४

७ नितम्बगुर्वी गुरुणा प्रयुक्ता वधूर्विधातृप्रतिमेन तेन।
चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ॥—रघु ७।२५

प्राजापत्य विवाह

इस प्रकार के विवाह में समस्त उत्तरदायित्व माता-पिता का रहता है। माता-पिता विवाह निश्चित कर वर और कन्या से कहते हैं कि तुम दोनों समस्त धर्म के कार्यों को साथ एक करो।

वैवाहिक-चर्चा—विवाह निश्चित करना माता-पिता के हाथ में ही रहता है, अतः पार्वती ने यद्यपि हृदय से शिवजी को वर लिया था परन्तु फिर भी उसने अपनी सखी से कहलवाया कि मेरा विवाह करनेवाले या न करनेवाले मेरे पिता हैं। यदि आप मुझसे विवाह करना चाहते हैं उनको जाकर मना लीजिए[1]।

वरदूत प्रेषण—अतः शिवजी ने सप्तर्षियों का स्मरण किया और उनसे कहा कि आप मेरी ओर से राजा हिमालय के पास जाकर उनकी पुत्री पार्वती को माँग लीजिए[2]। प्राचीन काल में वर की ओर से ही कन्या के लिए प्रस्ताव होता था। आगे भी राज्यश्री को माँगने के लिए प्रभाकरवर्द्धन के पास राजा दूत भेजने लगे ऐसा बाण ने लिखा है[3]। विवाह का प्रस्ताव स्वीकार करते समय पिता अपनी पत्नी से भी राय लेता था

'प्रायेण गृहिणीनेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः —कुमार ६।८५

वाग्दान—वर दूत भेज कर विवाह निश्चित करा लेता था। इसके पश्चात् वाग्दान के द्वारा सब कुछ निश्चित हो जाता था[4]। इसी समय कन्या-पक्ष के लोग विवाह की शुभतिथि भी निश्चित कर लेते थे[5]। विवाह प्रस्ताव के तीन दिन बाद भी विवाह हो सकता था।

वैवाहिक तैयारियाँ

नगर की सजावट—नगर की सड़कों का सिंचन बन्दनवारों और फूलों से अच्छी तरह सजाया जाता था। राजा के घर यदि शादी है तो सम्पूर्ण नगर

---

१ कुमार ५।११ पूर्वोल्लेख   २ कुमार ६।२९ पूर्वोल्लेख

३ 'आगमने च निर्विशेषं महत्यमना कन्या प्रार्थयितुं प्रहितस्य पूर्वमेवस्यैव प्रधान दूतपुरुषस्य करे ... दुहितृदानमसमकरोत्

—हर्षचरित ४था उच्छ्वास

४ इदमत्रोत्तरं न्याय्यमिति बुद्ध्या विमृश्य सः।
आददे वचसामन्ते मङ्गलालङ्कृतां सुताम्॥
एहि विश्वात्मने वत्से भिक्षासि परिकल्पिता।
अर्थिनो मुनयः प्राप्तं गृहमेधिफलं मया॥—कुमार ६।८७ ८८

५ वैवाहिकीं तिथिं पृष्टास्तत्क्षणं हरबन्धुना।
ते त्र्यहादूर्ध्वमाख्याय चेरुश्चीरपरिग्रहाः॥—कुमार ६।९३

आरूढ़ थे। आगे-आगे मंगल-वाद्य बजते रहते थे[1]। वर के ऊपर छत्र[2] रहता था। आस-पास चँवर[3] डुलाए जाते थे। विवाह कराने के लिए पुरोहित वर पक्ष का ही रहता था[4]।

वर-पक्ष का स्वागत—कन्या-पक्ष के लोग वर-पक्ष की आगे बढ़कर अगवानी करते थे[5] और सजे हुए नगर में वर तथा उसके पक्ष के लोगों को प्रविष्ट करवाते थे[6]। नगर में बारात के प्रवेश करते ही स्त्रियाँ गवाक्षों से बारात देखने दौड़ पड़ती थीं[7]।

मधुपर्क—कन्या-पक्ष के द्वार पर बारात के पहुँच जाने के पूर्व स्त्रियाँ लाजमुष्टि[8] डालती थीं। वर को वाहन से उतार कर सम्मान के साथ महल अथवा घर के अन्दर ले जाया जाता था। वहाँ वर को कन्या-पक्ष के पिता रत्न, अर्घ्य, मधु, दही और नवदुकूल मधुपर्क-रूप में भेंट करते थे[9]। इसके पश्चात् दुकूल पहने हुए वर को कन्या के पास वैवाहिक-संस्कार के लिए ले जाते थे[11]।

विवाह-संस्कार—अग्नि-स्थापन[12] और होम के पश्चात् जैसा स्वयंवर

---

१ ततो गणैः शूलभृतः पुरोगैरुदीरितो मंगलतूर्यघोषः ।—कुमार ७।४
२ तमन्तरे तस्य सहस्ररश्मिस्त्वष्ट्रा नवं निर्मितमातपत्रम् ।—कुमार ७।४१
३ मूर्ते च गंगायमुने तदानीं सचामरे देवमसेविषाताम् ।—कुमार ७।४२
४ विवाहयज्ञे विततेऽत्र यूयमध्वर्यवः पूर्ववृता मयेति ।—कुमार ७।४७
५ तमृद्धिमद्बन्धुजनाधिरूढैर्वृन्दैर्गजानां गिरिचक्रवर्ती ।
प्रत्युज्जगामागमनप्रतीतः प्रफुल्लवृक्षैः कटकैरिव स्वैः ॥—कुमार ७।५२
६ स प्रीतियोगाद्विकसन्मुखश्रीर्जामातुरग्रेसरतामुपेत्य ।
प्रावेशयन्मन्दिरमृद्धमेनमागुल्फकीर्णापणमार्गपुष्पम् ॥—कुमार ७।५५
७ तस्मिन्मुहूर्ते पुरसुन्दरीणामीशानसंदर्शनलालसानाम् ।
प्रासादमालासु बभूवुरित्थं त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥—कुमार ७।५६
८ केयूरचूर्णीकृतलाजमुष्टिं हिमालयस्यालयमाससाद ।—कुमार ७।६९
९ तत्रावतीर्याच्युतदत्तहस्तः शरद्घनाद्दीधितिमानिवोक्ष्णः ।
क्रान्तानि पूर्वं कमलासनेन कक्ष्यान्तराण्यद्रिपतेर्विवेश ॥—कुमार ७।७०
१० तत्रेश्वरो विष्टरभाग्यथावत्सरत्नमर्घ्यं मधुमच्च गव्यम् ।
नवे दुकूले च नगोपनीतं प्रत्यग्रहीत्सर्वममन्त्रवर्जम् ॥—कुमार ७।७२
११ दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधरक्षैः ।—कुमार ७।७३
१२ प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकासे ।—कुमार ७।७९

था। संक्षेप में कौतुकगृह उस कमरे को या घर को कहा जा सकता है जहाँ वर वधू आकर अपनी सुहागरात मनाते हैं।

काम-क्रीड़ा—रति के प्रधान तीनों अंगों का (आलिंगन चुम्बन एवं संभोग) कवि ने सम्यक् विवेचन किया है। नई ब्याही वधू का घबराते हुए पति के निकट जाना और पति का प्रारम्भ में सदय रति का प्रश्रय लेना जिससे कि वह घबराए नहीं पति का बल के द्वारा बाधित होने पर भी अधूरे रस का तृप्ति के साथ पीना धीरे-धीरे मन्मथ रस के ज्ञात हो जाने पर वधू की रतिगु वधीस्ता का विकल्प हो जाना तत्पश्चात् निदयरति—केशों का अस्त-व्यस्त हो जाना अधर का दाढ दंशन नखक्षत से शरीर भर जाना आदि-आदि प्रत्येक बात का कवि की कृतियों में पूर्ण उल्लेख है[1]।

गान्धर्व विवाह

गांधर्व विवाह प्रेम-विवाह था। इसमें किसी प्रकार का कोई संस्कार नहीं होता था। वर-कन्या आप ही एकान्त में अपना विवाह निश्चित कर लेते थे। माता-पिता अथवा गुरुजनों की कोई सम्मति नहीं लेता था[2]।

इस प्रकार के विवाह में काम भावनाओं की सन्तुष्टि ही प्रधान उद्देश्य थी। आवेग मात्र में काम हो जाता था अतः बाद में अपनी भूल मालूम होने पर पश्चात्ताप होता था[3]। गुरुजन भी इसे अच्छा नहीं समझते थे और इस प्रकार के विवाह की निन्दा करते थे। शकुन्तला के गान्धर्व विवाह पर गौतमी और शारंगरव ने उसे फटकारा था कि बिना सोच-समझ जो काम किया जाता है उससे ऐसा ही दुःख मिलता है। गुप्त प्रेम बहुत समझ-बूझ कर करना चाहिए। किसी अपरिचित के साथ बिना उसके स्वभाव आदि को समझे हुए यदि मित्रता की जाती है तो वह शत्रुता ही बन जाती है। अतः शीलवती कन्याएँ अपनी

---

१ विशेष विवरण के लिए देखिए परिशिष्ट २ कालिदास के समय में काम भावना के अन्तर्गत प्रथम-मिलन तथा रति क्रीड़ा।

२ नापेक्षितो गुरुजनोऽनया त्वया पृष्टो न बन्धुजनः।
एकैकमेव चरिते भणामि किमेकमेकस्य ॥—अभि ५।१६

३ किं परदारमंडेयो वक्ष प्रति विमुक्ता कृतावाण।—अभि ५।१८
—गुप्तं रहस्य स्वच्छन्दचारिणो कृतास्मि याऽहमस्य
पुरुवंशप्रत्ययेन मुखमधोहृदयस्थितविषस्य हस्ताभ्यासमुपगता।
—अभि अंक ५, पृ ९२

४ अभि ५।२४ पूर्वोल्लेख

मांगलिक शुभ सामग्री थी[1]। चरणों में महावर[2] और शरीर के अंगों में आभूषण[3] शोभायमान रहते थे। वस्त्र में क्षौमयुगल[4] का प्रयोग होता था। इसके ऊपर उत्तरीय भी रहता था। इसी का अवगुंठन समयानुसार प्रयुक्त किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि पर्दे की प्रथा न रहने पर भी गुरुजनों के सम्मुख पति के सम्मुख स्त्रियाँ मुख नहीं खोलती थीं[5]।

विदा के समय की कुछ रीतियाँ—विदा के समय घर के सभी गुरुजन कन्या को आशीर्वाद देते थे। आशीर्वाद में प्राय पति के अगाध प्रेम को प्राप्त करो[6] 'अखण्डितं प्रेम लभस्व' (कुमार ७।२८) आप भर्तु बहुमानपूर्वक महादेवी पदं लभस्व (अभि अंक ४ पृ ६५) तथा यदि वह गर्भवती होती तो 'वीरप्रसविनी भव' आशीर्वाद दिया जाता था। चलने से पूर्व सद्याहुति से युक्त अग्नि की प्रदक्षिणा कन्या करती थी[8]। कन्या का मार्ग कल्याणकारी हो ऐसी ही शुभकामना और आशीर्वाद दिया जाता था।

कन्या को पहुँचाने उसके सम्बन्धी कुछ दूर तक जाते थे। इन्दुमती को पहुँचाने विदर्भराज गए थे[10]। कण्व और शकुन्तला की सखियाँ भी शकुन्तला की विदा के समय कुछ दूर तक पहुँचाने गई थीं। संभवत जलाशय तक प्रिय जनों को विदा करने के लिए सम्बन्धी-गण जाया करते थे[11]।

---

१ अभि अंक ४ पृ ६८   २ अभि ४।४   ३ अभि ४।५

४ इन्दुपाण्डुतरुणा क्षौमं—क्षौम सफेद था विदा के समय प्रयोग।—अभि ४।५

५ अपसारयामि तावदवगुण्ठनम् ततस्त्वां भर्ताऽभिज्ञास्यति।

—अभि अंक ५ पृ ८८

६ भर्तुर्बहुमता भव—अभि ४।७ अंक ४ पृ ६५

७ अभि अंक ४ पृ ६५

८ वत्से इत सद्योहुताग्नीन्प्रदक्षिणीकुरुष्व —अभि अंक ४ पृ ६६

९ अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरियं वनवासबन्धुभि।
परभृतविरुतं कलं यथा प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम्॥
रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभिश्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः।
भूयात्कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्था॥

—अभि ४।१० ११

१० पूर्वोक्त

११ ओदकान्तात् स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्य इति श्रूयते।
तदिदं सरस्तीरम् अत्र संदिश्य प्रतिगन्तुमर्हसि।—अभि अंक ४ पृ ७१

कन्या की विदा के समय उपहार और आशीर्वाद (दहेज)— अपनी सामर्थ्य के अनुसार धन, सुवर्ण, रत्न, आभूषण, वस्त्र देना उस समय भी प्रचलित था। विदर्भराज अपनी बहन इन्दुमती के विवाह के पश्चात् अज को अपनी सामर्थ्य के अनुसार धन देकर विदा करता है[1]। स्वयंवर में आए राजा भी भेंट देते थे[2]। कुमारसम्भव में भी विवाह से पूर्व सुन्दर रत्न और सुवर्णाभूषणों से पार्वती सजाई जाती है[3]। पार्वती को परिवार की सभी स्त्रियाँ गहने और आशीर्वाद देती हैं[4]। शकुन्तला की विदा के समय भी—

> क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
> निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित्।
> अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-
> र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः॥[5]

आशीर्वाद— पति के प्रेम को प्राप्त करना स्त्री का सौभाग्य था। इसी का आशीर्वाद सर्वत्र है।

(१) अखण्डितं प्रेम लभस्व पत्युः ।[6]
(२) भर्तुर्बहुमानसूचकं महादेवी शब्दं लभस्व ।[7]
(३) वत्से भर्तुर्बहुमता भव ।

— —

---

१ भर्तापि तावत् क्रथकैशिकानामनुष्ठितानन्तरजाविवाहः ।
सत्त्वानुरूपाहरणीकृतश्रीः प्रास्थापयद्राघवमन्वगाच्च ॥—रघु ७।३२
२ वैदर्भमामन्त्र्य ययुस्तदीयां प्रत्यर्प्य पूजामुपदाच्छलेन ।—रघु ७।३
३ सा सम्भवद्भिः कुसुमैर्लतेव ज्योतिर्भिरुद्यद्भिरिव त्रियामा ।
सरिद्विहङ्गैरिव लीयमानैरामुच्यमानाभरणा चकासे ॥—कुमार ७।२१
४ [illegible] ।
[illegible] ।—कुमार ७।२
५ अभि ४।५ ६ कुमार ७।२८
७ अभि अंक ४ पृष्ठ ६६ ८ अभि ४।३

परन्तु प्रायः स्त्रियाँ पातिव्रत निभाती थीं। पुरुषों को विवाह-पर-विवाह करते देखकर कुढ़ती, खीझती और उपालम्भ देती थी[1]। अवश्य ही वे मन-ही मन दुःखी रहती थी, परन्तु पति के सुख के लिए दूसरी स्त्री से विवाह करने की अनुमति भी दे दिया करती थी। पुरूरवा की रानी काशी-नरेश की पुत्री तथा धारिणी के चरित्र (माल) इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं।

पुरुष अपनी स्त्री के अतिरिक्त अन्य ललनाओं से भी सम्पर्क रखते थे। इस प्रकार की स्त्रियों और भावनाओं के लिए कवि ने पारिभाषिक शब्दों का अनेक स्थानों पर व्यवहार किया है। अवश्य ही यह प्रथा और यह लोकरुचि समकृति कवि के समय प्रचलित होगी। यदि किसी स्त्री ने अकस्मात् एक बार समागम किया रहता था तो उस सकृत्कृतप्रणय[2] शब्द से व्यक्त किया जाता था। अगाकलत्र[3] शब्द भी कुछ ऐसे ही प्रसंगों के लिए प्रचलित था। वृद्धों के हृदय भी तरुणों के समान शृंगार-चेष्टा करने से विमुख नहीं हुआ करते थे[4]। सुन्दर स्त्री को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए वे भी एँड़ी से चोटी तक का जोर लगाया करते थे। इस प्रकार की शृंगार-चेष्टा को प्रणयप्रवृत्ति समझा जाता था[5]। एक ही समय कई स्त्रियों से प्रेम करना और उन्हें निबाह ले जाना पुरुष नागरिक का काम समझा जाता था। नागरिक वृत्ति[6] और दाक्षिण्य[7] इसी अर्थ में शब्द थे। दो स्त्रियों से एक साथ प्रेम करने वाला और दोनों को ही प्रसन्न रखने

---

१ अभि माल विक्रम तीनों नाटकों में इसके दृष्टान्त हैं।
२ सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः—अभि अंक ५ पृ ८
३ तौ निदेश वसतिप्रतापभि मायमाथमतरत्वमाश्रम् ।
मैव लोकवसत परिग्रहो कामवत्तलवलयता ययौ ॥—रघु ११।३३
४ कुरोपयात्राप्रतलन कतिचित्करेण रैलाव्यवसायमान ।
रत्नापुरीयप्रमयानुविद्यानुरीरयामास सलीलमयात् ॥—रघु ६।१८
—रघु ६।१२-१६ तक सभी शृंगार चेष्टाओं के प्रमाण हैं।
५ तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः ।
प्रवालशोभा इव पादपानां शृंगारचेष्टा विविधा बभूवुः ॥—रघु ६।१२
६ अभिनवमधुलोलुपो भवांस्तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम् ।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽस्येनां कथम् ॥—अभि ५।१
—गच्छ नागरिकवृत्त्या संज्ञापयैनाम्—अभि अंक ५, पृ ८
७ अपि मुग्धे अन्यसंक्रान्तप्रेमाणो नागरिका मायामाचिरे दक्षिणा भवन्ति ।
नागरि भवानन्यपुरुषेण दाक्षिण्यमधरं पक्ष्मं ववृध ॥
—विक्रम अंक १ पृ २८

छठा अध्याय

गृहस्थ जीवन

दाम्पत्य जीवन—दाम्पत्य जीवन का सुख पति-पत्नी के प्रेम पर आश्रित था। दाम्पत्य प्रेम का आदर्श रूप चकवा चकवी था। कवि 'रथाङ्गनाम्नोरिव भावबन्धनम्' कह कर अपने हृदय का उद्गार व्यक्त कर देता है[1]। पति-पत्नी का अत्यन्त अधिक घुल-मिल जाना एक-दूसरे की बड़ाई करते भी सन्तुष्ट न होना क्षण भर के लिए भी पृथक होने पर एक-दूसरे के लिए तड़पना गूढ़ प्रेम का रहस्य था[2]। इस दाम्पत्य सुख में सन्तति-प्रेम अटूट शृंखला बन जाती थी। दोनों का पारस्परिक प्रेम यद्यपि सन्तान पर बँट जाता था परन्तु इससे प्रेम में गहराई आती थी[3]।

वास्तविक जगत् में इन आदर्शों का लोप हो चला था। जीवन में पर्याप्त विलासिता आ चली थी और पातिव्रत तथा पत्नीव्रत निभाना कठिन हो चला था। कवि ने अनेक प्रसंगों में इसकी पुष्टि की है। पुरुष अपनी कामवासना की तृप्ति के लिए विवाह-पर-विवाह करते जाते थे। दुष्यन्त पुरूरवा अग्निमित्र आदि सब इसके प्रमाण हैं। रघुवंशी अग्निवर्ण की कामवासना-तृप्ति और कामुकता का कवि ने नग्न चित्र उपस्थित किया है। इसके व्यभिचार में स्त्रियों का भी बहुत उत्तरदायित्व था। दूती दासियाँ सभी यथावसर अपनी प्यास की शान्ति अग्निवर्ण से कर लेती थीं[4]।

---

१ रथाङ्गनाम्नोरिव भावबन्धनं बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम् ।
विभक्तमप्येकसुतेन तत्तयोः परस्परस्योपरि पर्यचीयत ॥—रघु ३।२४

२ भावसूचितमदृष्टविप्रियं चाटुमत्क्षणवियोगकातरम् ।
कैश्चिदेव दिवसैस्तदा तयोः प्रेम रूढमितरेतराश्रयम् ॥—कुमार ८।१५

३ देखिए, पादटिप्पणी नं १ ऊपर

४ रघुवंश सर्ग १९ सम्पूर्ण । विशेषकर—
[illegible] ।
[illegible] ॥—रघु १९।२३

परन्तु प्राय स्त्रियाँ पातिव्रत निभाती थीं। पुरुषों को विवाह-पर-विवाह करते देखकर कुढ़ती खीझती और उपालम्भ देती थी[1]। अवश्य ही वे मन-ही मन दुखी रहती थीं परन्तु पति के पुत्र के लिए दूसरी स्त्री से विवाह करने की अनुमति भी दे दिया करती थीं। पुरूरवा की रानी काशी-नरेश की पुत्री तथा धारिणी के चरित्र (माल) इसके अकाट्य प्रमाण हैं।

पुरुष अपनी स्त्री के अतिरिक्त अन्य ललनाओं से भी सम्पर्क रखते थे। इस प्रकार की स्त्रियों और भावनाओं के लिए कवि ने पारिभाषिक शब्दों का अनेक स्थानों पर व्यवहार किया है। अवश्य ही यह शब्द और यह लोकको संस्कृति कवि के समय प्रचलित होगी। जब किसी स्त्री से केवल एक बार प्रसंग किया रहता था तो उसे 'सकृत्कृतप्रणय'[2] शब्द से व्यक्त किया जाता था। सपत्नीजन[3] शब्द भी कुछ ऐसे ही प्रसंगों के लिए प्रचलित था। वृद्धों के हृदय भी तरुणों के समान शृंगार-चेष्टा करने से विमुख नहीं हुआ करते थे[4]। सुन्दर स्त्री को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए वे भी ऐड़ी से चोटी तक का जोर लगाया करते थे। इस प्रकार की शृंगार चेष्टा को प्रणयप्रवृत्ति समझा जाता था[5]। एक ही समय कई स्त्रियों से प्रेम करना और उन्हें निबाह ले जाना कुशल नागरिक का काम समझा जाता था। नागरिक वृत्ति[6] और दाक्षिण्य[7] इसी अर्थ में रूढ़ थे। दो स्त्रियों से एक साथ प्रेम करने वाला और दोनों का ही प्रसन्न रखने

---

१ अभि माल विक्रम तीनों नाटकों में इसके दृष्टान्त हैं।

२ सकृत्कृतप्रणयोऽयं जन —अभि अंक ५ पृ० ८

३ तं शिश्रियुर्वसतिपतस्वमि भावमासमसरत्वागाद्यात्।
येपु योपनस परिग्रहो बासवसणककमती मयी ॥—रघु ११।३३

४ वृद्धोऽपयासाभरतेन करिचत्करेण रैखाम्बुजमाणेन।
रत्नांगुलीयप्रभयानुविद्धानुदीरयामास सलोकमयान् ॥—रघु ६।१८
—रघु ६।१२-१९ तक सभी शृंगार चेष्टाओं के प्रमाण हैं।

५ तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथाना महीपतीना प्रणयाग्रदूत्य।
प्रवालशोभा इव पादपाना शृंगारचेष्टा विविधा बभूवु ॥—रघु ६।१२

६ अभिनवमधुलोलुपो भवांस्तथा परिचुम्ब्य चूतमंजरीम्।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽस्यनां कथम् ॥—अभि ५।१
—गच्छ नागरिकवृत्त्या संज्ञापयैनाम्—अभि अंक ५, पृ ८

७ अपि मुग्धे अन्यसंक्रान्तप्रेमाणो नागरिकाभार्यायामधिकं दाक्षिण्य भवन्ति।
नार्हसि भवामन्तु गुरस्थिन दाक्षिण्यमवपरे पृष्ठत बन्धुम् ॥
—विक्रम अंक ३ पृ २६४

वाले चतुर पुरुष की उपमा कवि ने दक्षिण पवन से देकर दाक्षिण्य शब्द को भली भाँति समझा दिया है। इस वायु का दक्षिण कहलाना ही ठीक है क्योंकि माधवी लता को सींचता हुआ और कुन्द लता को नचाता हुआ यह पवन ऐसा प्रतीत होता है मानों सबसे प्रेम करने वाला और सबको प्रसन्न करता हुआ कोई कामी हो[1]। यदि किसी विवाहित पुरुष की किसी अन्य स्त्री में आसक्ति उत्पन्न हो जाती थी तो वह नई प्रेयसी से प्रायः ऐसा कहा करता था मैं तो केवल कहने के लिए उसका पति हूँ मेरा यथार्थ प्रेम तो तुमसे है[2]। कालिदास ने खंडिता नायिकाओं की चर्चा की है जो एक ओर पुरुषों की धृष्टता और कामुकता प्रदर्शित करती है और दूसरी ओर स्त्रियाँ पुरुषों के इन कामों को अच्छी तरह जानती थीं इसका भी परिचय दिया है। दूसरी स्त्री के पास से तत्काल आए हुए पति को 'आर्द्रापराधी'[4] और ऐसे अपराध को 'आर्द्रापराध'[5] की संज्ञा दी गई है। यदि किसी पुरुष की किसी कुमारी या स्त्री के साथ अफवाह उड़ जाती थी तो इसे कौलीन[6] कहा जाता था। स्त्रियाँ अवश्य ही पुरुषों की बनावटी बातों को पहचानती थीं[7]। इस प्रकार की बनावटी और फुसलाने वाली बातें 'उपचार' कहलाती थीं[8]।

---

१ निर्विशन्माधवीं लक्ष्मीं लतां कौन्दीं च नाटयन्।
स्नेहदाक्षिण्ययोर्योगात्कामीव प्रतिभाति मे ॥—विक्रम २।४

२ ननु शब्दपतिः क्षितेरहं त्वयि मे भावनिबन्धना रतिः।—रघु ८।५२

३ प्रातरेत्य परिभोगशोभिना दर्शनेन कृतखण्डनव्यथाः।
प्राञ्जलिः प्रणयिनीः प्रसादयन्सोऽधुनोत्प्रणयमन्थरः पुनः ॥—रघु १९।२१

—भूयश्चाह त्वमपि शयने कण्ठलग्ना पुरा मे।
निद्रां गत्वा किमपि रुदती सस्वनं विप्रबुद्धा ॥
सान्तर्हासं कथितमसकृत्पृच्छतश्च त्वया मे।
दृष्टः स्वप्ने कितव रमयन्कामपि त्वं मयेति ॥—उत्तरमेघ ५४

४ ५ नवकिसलयरागेणाग्रपादेन बाला स्फुरितनखरुचा द्वौ हन्तुमर्हत्यनेन।
अकुसुमितमशोकं दोहदापेक्षया वा प्रणिहितशिरसं वा कान्तमार्द्रापराधम् ॥
—माल अंक ३ १२

६ अथ मालविकागतं कौलीनं कीदृशं श्रूयते।—माल अंक ३ पृ २११

७ निसर्गनिपुणाः स्त्रियः। कथमन्यसंक्रान्तहृदयमुपचारानुवृत्तमपि ते सखी न मां लक्षयिष्यति।—माल अंक ३ पृ २५४

८ दयिते प्रणयो वरं विहर्तुं बहुधा वल्लभयोषितो हि दृष्टाः।
उपचारविधिर्मनस्विनीनां न तु पूर्वाभ्यधिकोऽपि भावशून्यः ॥
—माल अंक ३ पृ २५४

उपरोक्त वर्णित पत्रावली तथा अभिसारिका नर्तकी अप्सरा आदि की ग्रन्थों में भरमार, इस बात की साक्षी है कि गार्हस्थ्य जीवन भीतर से खोखला हो रहा था परन्तु आदर्श अभी भी परम्परागत वही पुराना था। दूसरे की स्त्री की ओर दृष्टिपात न करना उसके विषय में न सोचना उच्च चरित्र के प्रतीक थे[1]। दूसरे की स्त्री का स्पर्श पाप समझा जाता था (परस्त्रीस्पर्शपांसुल —अभि ५।२९)। ऐसा जान पड़ता है कि दाम्पत्य जीवन का मुख्य उद्देश्य काम-सुख ही था। 'प्रजायै गृहमेधिनाम्'[2] सन्तान की कामना से स्त्री-सम्भोग की चर्चा भी अवश्य पर सम्पूर्ण मेघदूत अजविलाप रतिविलाप विक्रमोर्वशीय मालविकाग्निमित्र आदि में स्त्री-पुरुष के काम संसार के अतिरिक्त गृहस्थ के किसी उच्च उद्देश्य की व्यंजना नहीं है। एक-दूसरे के अभाव को याद करना सम्पर्कजन्य सुख को याद कर रोना आदि कामक्रीडा सुख ही है। अवश्य ही हृदय की उदारता और प्रेम की प्रगाढ़ता के दर्शन होते हैं पर काम-सुख से ऊपर उठकर व्यापक जीवन को सामने रखकर कोई पात्र कुछ कहता हुआ कभी नहीं दिखाई पड़ता। कालिदास के ग्रन्थों में दाम्पत्यजीवन का विलासमय पक्ष धार्मिक एवं सामाजिक पक्ष से कहीं प्रबल और व्यापक है। तत्कालीन भारतीय संस्कृति धर्म की अपेक्षा कला और सौन्दर्य में मस्त हो रही थी। कला और सौन्दर्य दोनों का अधिष्ठान युवती नारी थी। दुष्यन्त के 'तापसवृद्धे'[3] में वृद्धा की उपेक्षा की पर्याप्त व्यंजना है। जहाँ गृहिणी कामपूर्ति में असफल रहती थी वहाँ उसका अप्सरा आदि से नर तृप्ति कर लिया करता था।

पत्नी का कर्तव्य और उत्तरदायित्व—पत्नी का प्रमुख क्षेत्र गृह था। अतः गुरुजनों की सेवा करना गृहस्थी के कामों में संलग्न रहना और सन्तान की उत्पत्ति करना उसका मुख्य कर्तव्य था[4]। पति ही उसका देवता अधिष्ठाता तथा

—हृदये वससीति मत्प्रियं यदवोचस्तदवैमि कैतवम्।
उपचारपदं न चेदिदं त्वमनंग कथमक्षता रतिः ॥—कुमार ४।९

१ मम परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति।—रघु १६।८ वनिता हि परपरिग्रहसंदर्शने पराङ्मुखी वृत्तिः।—अभि १।२८ अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्।
—अभि अंक ५ पृष्ठ ८५

२. अध्यर्थे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्।—रघु १।७

३ तापसवृद्धे।—अभि अंक ४ पृष्ठ ९१

४ शुश्रूषस्व गुरून्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
पत्युर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥—अभि ४।१८

समस्त था। उसकी सन्तुष्टि के लिए बड़े-से-बड़ा त्याग करना उसका ध्येय था[1]। वे सौत लाने के लिए भी तैयार हो जाती थी। पत्नी का पति के सम्मुख अति उच्च स्थान था। गृहिणी पद पर शोभित सभी वस्तुओं का उत्तरदायित्व उस पर था। उस उत्तरदायित्व में वह अपने पिता एवं अन्य सम्बन्धियों के बिछुड़ने का दुख भूल जाया करती थी[2]। पति के लिए पत्नी न केवल गृहिणी ही थी अपितु सचिव भी थी एकान्त-सखी थी ललितकलाओं में शिष्या थी[3]। पत्नी सच्ची सहधर्मचारिणी थी। धार्मिक-क्रियाएं बिना पत्नी के सम्पन्न नहीं हो सकती थीं[4]। पति पत्नी से गृहस्थी के कार्यों में सलाह लिया करते थे। कन्या का सम्बन्ध कहीं स्थिर करते समय पत्नी की सम्मति का बहुत ध्यान रखा जाता था[5]। स्त्रियाँ पति की इच्छा से बाहर कभी कार्य नहीं किया करती थीं[6]।

अतिथि का स्वागत करना प्रधान-कर्तव्य था। कण्व की अनुपस्थिति में अतिथि-सत्कार का सम्पूर्ण भार शकुन्तला पर आ पड़ा था[7]। पार्वती भी शिवजी के ब्रह्मचारी के वेष में आने पर उनका उचित सत्कार करने से पीछे नहीं हटतीं[8]। गृहस्थ होने का सच्चा फल अतिथि को प्रसन्न करना था[9]।

---

१ अद्य प्रभृति यां स्त्रियमार्यपुत्रः प्रार्थयते या चार्यपुत्रस्य
समागमप्रणयिनी तया सह मया प्रीतिबन्धेन वर्तितव्यम्।
—विक्रम, अंक ३ पृष्ठ २५
—अहं खलु आत्मनः सुखावसानेनार्यपुत्रं निर्वृतशरीरं कर्तुमिच्छामि।
—विक्रम अंक ३ पृष्ठ २६

२ अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे
विभवगुरुभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला।
तनयमचिरात्प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं मम
विरहजां न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि॥—अभि ४।१९

३ गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।—रघु ८।६७

४ क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्।—कुमार ६।१३

५ प्रायेण गृहिणीनेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः।—कुमार ६।८५

६ भवन्त्यव्यभिचारिण्यो भर्तुरिष्टे पतिव्रताः।—कुमार ६।८६

७ इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय
नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः।—अभि अंक १ पृ ९

८ तमातिथेयी बहुमानपूर्वया सपर्यया प्रत्युदियाय पार्वती।
भवन्ति साम्येऽपि निविष्टचेतसां वपुर्विशेषेष्वतिगौरवाः क्रियाः॥
—कुमार ५।३१

९ एहि विश्वात्मने वत्से भिक्षास्मि परिकल्पिता।
अर्थिनो मुनयः प्राप्तं गृहमेधिफलं मया॥—कुमार ६।८८

स्त्री पति की सम्पत्ति थी अतः पति को अपनी पत्नी के सम्बन्ध में प्रत्येक प्रकार के अधिकार प्राप्त थे[1]। स्त्रियों के लिए भी अच्छा यही समझा जाता था कि विवाह होने के पश्चात् पति द्वारा तिरस्कृत होने पर भी उसके पास दासीवृत्ति में रहे। पिता के घर रहने से कहीं अधिक श्रेयस्कर समझा जाता था[2]।

बाह्यक्षेत्र—गृह के बाहर भी पत्नी पति का साथ दिया करती थी। पति के आमोद-प्रमोद में उद्यान-क्रीड़ा जल-विहार उत्सवादि देखने में वे पति की सहभोगिनी थीं[3]। साधारण घरों की स्त्रियाँ खेत[4] उद्यानादि में भी काम किया करती थीं। पुष्पलावी[5] शब्द उद्यान में काम करने वाली स्त्रियों अर्थात् मालिनों के अर्थ में ही प्रयुक्त किया गया है। उद्यान-पालिका शब्द का भी यही आशय है[6]।

राजा के अन्तःपुर में स्त्री परिचारिकाएँ, यवनी आदि का उल्लेख है। इसके

---

१ उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ।—अभि ५।२६

२ अतः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः ।—अभि ५।१७
—अथ तु वेत्सि शुचिव्रतमात्मनः पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम् ।
—अभि ५।२७

३ रघु १६।६८ १६ ७ जलक्रीडा ।
इच्छाम्यार्यपुत्रेण सह दोलाधिरोहणमनुभवितुमिति । भगवत्यास्यै प्रतिज्ञातम् ।
तत्प्रमदवनमेव गच्छाव ।—माल अंक ३ पृ २९१ उद्यानक्रीडा ।
जयतु जयतु भर्ता । देवी विज्ञापयति—तपनीयाशोकस्य कुसुमसंदर्शनेन
समारम्भ सफलं क्रियतामिति ।—माल अंक ५ पृ १४२ उत्सव

४ त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः ।
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः ॥
सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं ।
किंचित्पश्चाद् व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ॥—पूर्वमेघ १६
—इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम् ।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः ॥—रघु ४।२

५ गण्डस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानां
छायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम् ।—पूर्वमेघ २८

६ ततः प्रविशत्युद्यानपालिका—माल अंक ३ पृ २६
—अस्मदीयैवोद्यानपालिकाभिरपरिगम्यमाणी —अभि अंक ६ पृ १२

अतिरिक्त बन्दीगृह की अध्यक्षा भी स्त्रियाँ हुआ करती थीं । मालविकाग्निमित्र की माधविका के ऊपर बन्दिनी मालविका का भार था[१] ।

विरह की अवस्था में पत्नी—स्त्रियों का सौन्दर्य और शृंगार पति के लिए ही सार्थक था[२] । पति के सम्मुख रेशमी वस्त्र और विभिन्न आभूषणों से अपने शरीर को अलंकृत कर अंगराग और सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित मदिरा-पान से कुछ उन्मत्त हो वे आया करती थीं । वीणा पर गीत बजा कर पति का मनोरंजन किया करती थीं[३] । प्रत्येक ऋतु में वे पुष्प आदि से शृंगार कर पति के हृदय को आकर्षित किया करती थीं[४] । पति के अनन्य प्रेम को प्राप्त करना ही उनका परम उद्देश्य था । अतः स्वामी का अनन्य प्रेम प्राप्त करो[५] ऐसा आशीर्वाद सौभाग्यवती स्त्रियों को दिया जाता था ।

परन्तु वियोगावस्था में प्रत्येक प्रकार का शृंगार पत्नी छोड़ दिया करती थी । पति ही सौन्दर्य और यौवन का भोक्ता था अतः उसके प्रवासी हो जाने पर शृंगार की चाहना हृदय से स्वतः निकल जाती थी । अपने केश-विन्यास

---

१ यत्सारभाण्डगृहमधारिता माधविका देव्या संदिष्टा—माल अंक ४ पृ ११९

२ प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ।—कुमार ५।१

—स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः ।—कुमार ७।२२

३ सुवासितं हर्म्यतले प्रियामुखोच्छ्वासविकम्पितं मधु,
सुतन्त्रिगीतं मदनस्य दीपनं शुचौ निशीथेऽनुभवन्ति कामिनः ।—ऋतु १।३

—नितम्बबिम्बैः सदुकूलमेखलैः स्तनैः सहाराभरणैः सचन्दनैः ।
शिरोरुहैः स्नानकषायवासितैः स्त्रियो निदाघं शमयन्ति कामिनाम् ॥
—ऋतु १।४

—सचन्दनाम्बुव्यजनोद्भवानिलैः सहारयष्टिस्तनमण्डलार्पणैः ।
सवल्लकीकाकलिगीतनिस्वनैर्विबोध्यते सुप्त इवाद्य मन्मथः ॥—ऋतु १।८

४ शिरोरुहैः श्रोणितटावलम्बिभिः कृतावतंसैः कुसुमैः सुगन्धिभिः ।
स्तनैः सहारैर्वदनैः ससीधुभिः स्त्रियो रतिं संजनयन्ति कामिनाम् ॥
—ऋतु २।१८

—माला कदम्बनवकेसरकेतकीभिरायोजिता शिरसि बिभ्रति योषितोऽद्य ।
कर्णान्तरेषु ककुभद्रुममञ्जरीभिरिच्छानुकूलरचितानवतंसकांश्च ॥
—ऋतु २।२१

नोट गम्पूर्ण ऋतुसंहार म यथोपलब्ध है, स्थानाभाव के कारण एक-दो उदाहरण ही दिए गए हैं ।

५ मनु कामना मब—अभि अंक पृ ६२ अखण्डितं प्रेम लभस्व पत्युः ।
—कुमार ७।२८

बाहि की ओर से विरक्त होकर वे अतीत की याद करतीं, पति के गुणों का ध्यान करतीं और उनकी याद में जैसे-तैसे दिन काटा करती थीं।

पति के विरह में शोक पत्नी पाले से मारी हुई कमलिनी[1] के समान हो जाती थी। बिछोह में रोते-रोते उसकी आँखें सूज जाती थीं। गर्म श्वासों से ओठों का रंग फीका पड़ जाता था। चिन्ता के कारण गालों पर हाथ रखे बैठी रहती थी। बाल उसके मुख पर आ-आकर उसको ढक दिया करते थे। मेघ से घिरे चन्द्रमा के समान धुंधला और उदास उसका मुख विरहजन्य दुःख को व्यक्त किया करता था[2]। रात-दिन पत्नी भगवान् से पति की मंगलकामना के लिए प्रार्थना किया करती थी, बलि चढ़ाती, दिल बहलाने के लिए कभी पति के विशेषकर विरही रूप का चित्र बनाती, कभी पिंजड़े में बैठी सारिका से बात करती[3] और कभी मलिनवसना गोद में वीणा लेकर पति के यश भरे गीतों को गाया करती थी। पति की याद में अनायास ही प्रवाहित हुए आँसुओं से वीणा भीग जाया करती थी और याद में बेसुध स्वयं वह स्वरों के आरोह-अवरोह को भूल जाती थी।

देहली पर नित्य फूल रखकर कभी-कभी ढेरी गिनकर जानने का प्रयत्न किया करती थी कि कितने दिन व्यतीत हो गए और प्रिय से मिलने के कितने दिन और शेष रह गए[5]।

---

१ शिशिरमथिता पद्मिनी—उत्तरमेघ २१

२ नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियाया
निःश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम्।
हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति॥—उत्तरमेघ २४

३ आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति॥—उत्तरमेघ २५

४ उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती॥—उत्तरमेघ २६

५ शेषान्मासान्विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा
विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पैः।—उत्तरमेघ २७

दिन तो किसी तरह उसका व्यतीत हो जाता था परन्तु रात्रि बड़े कष्ट से बीता करती थी। वही रात्रि जो जी भर कर संभोग कर वह क्षण भर के समान बिता देती थी विछोह की चिन्ता में क्षीण सूने पलंग पर एक करवट लेटी गरम-गरम आँसुओं में बिताया करती थी[1]। धरती पर लेटी उनींदी अवस्था में प्रयत्न करती थी कि किसी प्रकार निद्रा आ जाय[2]। अतीत के दिनों की याद करती हुई वह काल्पनिक संभोग के आनन्द का मन-ही-मन रस लिया करती थी[3]। वह निद्रा का आवाहन ही इसलिए किया करती थी कि किसी प्रकार स्वप्न में ही प्रिय से संभोग हो परन्तु अनवरत रोते रहने से उसको निद्रा भी प्राप्त नहीं होती थी[4]।

विरहिणी आभूषण पहनना बिलकुल छोड़ देती थी[5]। मोतियों की करधनी आदि सब पहनना छोड़ बैठी थी (मुक्ताजालं चिरपरिचितं त्याजितो दैवगत्या—उत्तरमेघ १८)। अंजन न लगाने से उसकी आँखें रूखी हो जाती थीं मदिरापान न करने से भ्रूविलास संकुचित हो जाता था[6]। जिस दिन पति विदेश जाता था उस दिन जो वेणी बाँधी जाती थी वह प्रिय के आगमन पर ही खुलती थी। स्वयं प्रिय ही उसे खोला करता था। उसमें फूल नहीं गुँथे रहते थे और बहुत दिनों तक बँधे रहने के कारण वह वेणी कठिन रूक्ष और विषम हो जाती थी। इस रूखी और बिखरी वेणी को वह अपने बढ़े हुए नखों वाले हाथों से (विरहा

---

१ आधिक्षामां विरहशयने संनिषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः ।
नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या
तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम् ॥—उत्तरमेघ ११

२ मत्संदेशैः सुखयितुमलं पश्य साध्वीं निशीथे
तामुन्निद्रामवनिशयनां सौधवातायनस्थः ।—उत्तरमेघ २८

३ मत्संगं वा हृदयनिहितारंभमास्वादयन्ती
प्रायेणैते रमणविरहेष्वंगनानां विनोदाः ।—उत्तरमेघ २७

४ मत्संयोगः कथमुपनयेत्स्वप्नजोऽपीति निद्रा-
माकांक्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम् ।—उत्तरमेघ ११

५ सा संन्यस्ताभरणमबला पेशलं धारयन्ती
शय्योत्संगे निहितमसकृद् दुःखदुःखेन गात्रम् ।—उत्तरमेघ १५

६ रुद्धापांगप्रसरमलकैरंजनस्नेहशून्यं
प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम् ।—उत्तरमेघ १७

हो जाता था तो पत्नी आभूषणों आदि से अलंकृत कर चिता पर रख दी जाती थी[1] परन्तु विवरणों के प्रसंग और उनकी दयनीय अवस्था से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि सतीप्रथा का बहुत प्रचार नहीं था परन्तु आदर्श यही परम्परागत पुराना था। प्रशंसनीय यही मार्ग था। अतः रति कामदेव की मृत्यु के उपरान्त उसके साथ सती हो जाने की कामना करती हुई वसन्त से अपने लिए चिता चुनने का अनुरोध करती है[2]। कवि ने इस मार्ग को स्त्रियों के लिए इतना स्वाभाविक कहा है कि न केवल चेतन अपितु जड़ पदार्थों में भी यही भावना दिखाई देती है। शशि के साथ चाँदनी मेघ के साथ बिजली इसी के प्रमाण हैं[3]।

परदे की प्रथा—कालिदास के समय में परदे का आशय विनयशीलता और उच्च संस्कृति का प्रतीक था। शकुन्तला अपने गुरुजनों के सम्मुख दुष्यन्त के साथ जाने में लज्जा का भाव कर रही थी[4]। दुष्यन्त के सम्मुख राजदरबार में उसका मुख अवगुंठन से ढका था अतः राजा को कौतूहल हुआ था कि यह अवगुंठनवती कौन नारी है[5]। इसी लज्जा को सम्बोधित करते हुए गौतमी ने उससे कहा था कि क्षण-मात्र के लिए अपनी लज्जा त्याग दे आ मैं तेरा अवगुंठन खोल देती हूँ जिससे तेरा स्वामी तुझे पहचान ले[6]।

मर्यादित स्त्रियों के लिए स्वेच्छाचार अच्छा नहीं समझा जाता था परन्तु कहीं भी आने-जाने की उनके लिए रोक-टोक नहीं थी। वे बन्धु-बान्धवों के

---

१ अथ तस्य कथंचिदङ्कतः स्वजनस्तामपनीय सुन्दरीम्।
विससर्ज तदन्त्यमण्डनामनलायागुरुचन्दनैधसे॥—रघु ८।७१

२ अमुनैव कषायितस्तनी सुभगेन प्रियगात्रभस्मना।
नवपल्लवसंस्तरे यथा रचयिष्यामि तनुं विभावसौ॥
कुसुमास्तरणे सहायतां बहुशः सौम्य गतस्त्वमावयोः।
कुरु संप्रति तावदाशु मे प्रणिपाताञ्जलियाचितश्चिताम्॥—कुमार ४।३४-३५

३ शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते।
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि॥—कुमार ४।३३

४ जिह्रेमि आर्यपुत्रेण सह गुरुसमीपं गन्तुम्।—अभि० अंक ७ पृ० १३३

५ कास्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।—अभि० ५।१३

६ जाते मुहूर्तं मा लज्जस्व। अपनेष्यामि तावत्तेऽवगुण्ठनम्।
ततस्त्वां भर्ताभिज्ञास्यति।—अभि० अंक ५, पृ० ८८

गृह-उत्सव में सम्मिलित हुआ करती थीं[1] जलविहार, स्नान[2] आदि में भी पति के साथ रहती थीं। खेतों की रखवाली करती गीत गाती थीं[3]।

इन सब बातों की भी सीमा थी। स्त्रियाँ अन्तःपुर में स्वतंत्रता से रहती थीं पर वहाँ पुरुषों का प्रवेश सीमित और मर्यादित था। स्त्रियों के रहने का स्थान पुरुषों के स्थान से पृथक रहता था। अग्निमित्र मालविका को अन्तःपुर में सरलता से नहीं देख पाया था।

समाज में नारी-स्थिति—भारतीय परम्परा में नारी भोग्यपदार्थ है। धन-धान्य के साथ नारी की गणना भी होती आई है[4]। कालिदास नारी को इन्द्रियार्थ-तृप्तिसाधन मानते हैं। अतः भोग्यवस्तुओं में ही उनकी दृष्टि में नारी का स्थान है।

समाज में स्त्रियों का यथेष्ट आदर था। सुन्दर स्त्रियाँ अपने पति पर प्रभुता रखती थीं[6]। पति के समान ही स्त्रियाँ आदर और सम्मान प्राप्त करती थीं।

---

१ संबन्धिभिन्नोऽपि गिरेः कुलस्य स्नेहस्तदेकायतनं जगाम ॥—कुमार ७।५
—ततोऽवतीर्याशु करेणुकायाः स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः ।
वैदर्भनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः ॥—रघु ७।१७

२ धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या-
स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ।—पूर्वमेघ ३७
—कुश की रानियों के साथ जलक्रीडा—रघु १६।५६–७
—सौधवान्तविलासिनीस्तनक्षोभचञ्चलकमला दीर्घिका ।
गूढमोहनगृहास्तदम्बुभिः स व्यगाहत विगाढमन्मथः ॥—रघु १९।९

३ इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः ।—रघु ४।२

४ इन्द्रियार्थस्रक्चन्दनवनितादेरिन्द्रियविषयात्परमिति किमुत वक्तव्यम् ।
—टीका मल्लिनाथ रघु ७।११

५ निश्चित्य चानन्यनिवृत्ति वाच्यं त्यागेन पत्न्याः परिमार्ष्टुमैच्छत् ।
अपि स्वदेहात्किमुतेन्द्रियार्थाद्यशोधनानां हि यशो गरीयः ॥—रघु १४।३५
—आसाद्यमानं प्रमदामिषं तदावृत्य पन्थानमजस्य तस्थौ ।—रघु ७।३१
—प्रमदैवामिषं भोग्यवस्तु । 'आमिषं त्वस्त्रियां मांसे स्याद्भोग्यवस्तुनि' इति केशव ।—टीका मल्लिनाथ रघु ७।३१

६ प्रभुता रमणेषु योषिताम् ।—विक्रम ४।२६

७ तामगौरवभेदेन मुनींश्चापश्यदीश्वरः ।
स्त्रीपुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम् ॥—कुमार ६।१२

शंकर ने अरुन्धती का पुरुष समान ही आदर किया था। पति स्वयं पत्नी का बहुत अधिक आदर करता था[1]। इन्दुमती की मृत्यु पर अज का विलाप कि तुम ही मेरी एकान्त की सखी सम्मतिदाता *ललितकलाओं की शिष्या थीं* प्रेम के साथ नारी का भी स्थान व्यक्त कर देता है[2]। मेघदूत में यक्ष के विलाप से भी इसी बात की पुष्टि होती है। राम सीता से कितना स्नेह करते थे यह सीता का परित्याग कर देने पर भी लक्ष्मण के मुख से समस्त वृत्तान्त सुन अश्रु बहाना व्यक्त करता है[3]। सीता के प्रति आदर और स्नेह की पराकाष्ठा यज्ञ में सोने की मूर्ति का रखना देना है[4]।

परन्तु नारी के विषय में समाज में अपयश्य प्रचलित थे। यद्यपि पत्नी सहधर्मचारिणी धर्मपत्नी गृहिणी अनन्य-प्रेमिका सती-साध्वी कहलाती थी पर स्त्रियों के विषय में कुछ विशेष प्रकार की उक्तियाँ भी सुनने को मिल जाती हैं यथा स्त्रियों की सेवा का काम बहुत टेढ़ा है,[5] स्त्रियों का स्वभाव बहुत कठोर होता है[6] स्त्रियाँ स्वभाव से ही बड़ी चालाक होती हैं[7] स्त्रियाँ जब अधिक कामासक्त हो जाती हैं तब उनको ज्ञान नहीं रहता कि हमको क्या करना चाहिए, क्या नहीं[8]? स्त्रियों की प्रकृति ही धूर्तता की है। शकुन्तला के ऊपर दुष्यन्त ने यथेष्ट कटाक्ष किया है, जैसे 'इसे कहते हैं स्त्रियों की प्रत्युत्पन्नमति'[9] अपना काम साधनेवाली स्त्रियों के मीठे वचनों में कामी लोग ही आते हैं[1] स्त्रियाँ बिना सिखाए ही बहुत चतुर हो जाती हैं तब जो समझदार हैं उनका क्या कहना!

---

१ महिषी तस्य कौसल्या प्रिया कैकयवंशजा।—रघु १।५५

२ गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।—रघु ८।६७

३ बभूव रामः सहसा सबाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः।—रघु १४।८४

४ सीतां हित्वा दशमुखरिपुर्नोपयेमे यदन्यां
तस्या एव प्रतिकृतिसखो यत्क्रतूनाजहार।—रघु १४।८७

५ देवाकारा परिचर्तिरमूस्त्रीषु दण्डोऽधिकारः।—विक्रम ४।१

६ कठिना खलु स्त्रियः।—कुमार ५।५

७ निसर्गनिपुणाः स्त्रियः।—माल अंक १ पृ २६४

८ अप्राकृतो हि नारीणामनात्मज्ञो मनोभवः —रघु १२।३१

९ इदं तत्प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणमिति यदुच्यते।—अभि अंक ५ प ९

१ गगनपरिसरप्रबन्धनिवर्तितमीनामनृतमयवाङ्मधुभिराव्यासे विनयस्य।
—अभि अंक ५ पृ ९१

जब तक कोयल के बच्चे उड़ना नहीं सीखते तब तक वह दूसरे पक्षियों से ही अपने बच्चों का पालन करवाती है, आदि-आदि[1]।

परन्तु यह सब कटाक्षमात्र ही है। किसी दुष्टा स्त्री का चरित्र उनके ग्रन्थ में नहीं मिलता अत अवश्य ही उन्हें समाज में उच्च स्थान प्राप्त था। पत्नी माँ पुत्री सबके प्रति ही आदर की भावना थी। पराई स्त्री पर आँख न डालने का आदर्श था[2]। इसके अतिरिक्त स्त्री का आदर बिना किसी भेदभाव के होता था। उदाहरण के लिए शंकर का अरुन्धती के प्रति सद्भाव[3] पार्वती की तपश्चर्या के समय बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों का उससे मिलने आना[4] मेना का मुनियों द्वारा सम्मान[5] आदि। विदुषी स्त्रियाँ समान आदर की पात्री होती थीं। उनका निर्णय सबको मान्य होता था। कौशिकी का निर्णय सबने ही स्वीकार किया[6]। यद्यपि एक-दो उदाहरण यथा दुष्यन्त का शकुन्तला के प्रति स्त्रियों की स्वाभाविक धृष्टता कहकर आरोप लगाना[7] तथा अग्निमित्र को मालविका से दिल बहलाते देख कर इरावती का रशना से ताड़ित करने का प्रयत्न करना है, तथापि ये अपवाद ही हैं। पति को विश्वासघात करते देख और दासी से दिल बहलाते देख क्रोध आ जाना स्वाभाविक है, पर जैसा बाद में देखा गया पत्नी स्वयं स्वामी को

---

१ स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः ।
प्रागन्तरिक्षगमनात्स्वमपत्यजातमन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति ॥
—अभि ५।२२

२ अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम् —अभि अंक ५ पृ ८९

३ तामगौरवभेदेन मुनीश्चापश्यदीश्वरः ।
स्त्रीपुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम् ॥—कुमार ६।१२

४ अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग्ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा ।
विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा ॥—कुमार ५।३०

५ मेना मुनीनामपि माननीयाम् ...—कुमार १।१८

६ मध्यस्था भगवती नौ गुणदोषतः परिच्छेत्तुमर्हति ।—माल अंक १ पृ २७२

७ स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु संदृश्यते ...—अभि अंक ५ पृष्ठ ९
—एवमादिभिरात्मकार्यनिर्वर्तिनीनामनृतमयवाङ्मधुभिराकृष्यन्ते विषयिणः ।
—अभि अंक ५ पृष्ठ ९१
—स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः ।
प्रागन्तरिक्षगमनात्स्वमपत्यजातमन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति ॥
—अभि ५।२२

८ इति रशनामादाय गतार्त ताडयितुमिच्छति ।—माल अंक ३ पृष्ठ ३११

और प्रियंवदा दोनों जानती थी[१]। मालविका नृत्य-संगीत-विशारदा थी। परि-व्राजिका न केवल संगीतकला की ममज्ञा थी अपितु वैद्यकशास्त्र का भी अच्छा ज्ञान उसे था[२]। यक्ष-पत्नी का पति-वियोग मे चित्र बनाना[३] वीणा पर गाते-गाते मूर्च्छना आदि भूल जाना[४] उसके ललितकला-सम्बन्धी ज्ञान का परिचायक है।

कर्तव्य—शकुन्तला का नित्यप्रति वृक्ष सींचना[५] पार्वती का पूजा के निमित्त पुष्प चुनना वेदी को धोना पोंछना नित्यकर्म के लिए जल और कुश लाना[६] व्यक्त करता है कि लड़कियों को प्रत्येक प्रकार का काम सिखाया जाता था। अतिथि-सत्कार उनका सबसे बड़ा कर्तव्य था। शकुन्तला की सखियों का दुष्यन्त का सत्कार शिष्ट-भाषण उनकी उच्च शिक्षा और संस्कृति की अभिव्यक्ति है। कण्व ने शकुन्तला पर अतिथि-सत्कार का भार छोड़ा था[७]। पार्वती का ब्रह्मचारी वेष मे आए शिव का सत्कार भी अतिथि-सेवा के कर्तव्य को व्यक्त करता है[८]। राजा हिमालय ने अपनी पत्नी और कन्या को सप्तर्षियों के आगमन पर अतिथि-सत्कार के लिए अर्पित किया था ।

---

१ अये अनुपयुक्त भूषणोऽयं जन ।
चित्रकर्मपरिचयनाभेषु ते आभरणविनियोगं कुरु ।—अभि अंक ४ पृ १७

२ छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतेर्वा रक्तमोक्षणम् ।
एतानि दष्टमात्राणामायुष्या प्रतिपत्तय ।।—माल ४।४

३ मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्य लिखन्ती ।—उत्तरमेघ २५

४ उत्संगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणा
मद्गोत्राङ्क विरचितपद गेयमुद्गातुकामा ।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलै सारयित्वा कथंचिद्
भूयो भूय स्वयमपि कृता मूर्च्छना विस्मरन्ती ।।—उत्तरमेघ २६

५ त्वत्तोऽपि तातकण्वस्याश्रमवृक्षका प्रियतरा इति तर्कयामि येन
नवमालिकाकुसुमपेलवा त्वमप्येतेषा आलवालपूरणे नियुक्ता ।—अभि
अंक १ पृष्ठ १२

६ अवचितबलिपुष्पा वेदिसंमार्गदक्षा नियमविधिजलानां बर्हिषां चोपनेत्री ।
गिरिशमुपचचार ।—कुमार १।६

७ शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य ......—अभि अंक १ पृ ८

८ तमातिथेयी बहुमानपूर्वया सपर्यया प्रत्युदियाय पार्वती—कुमार ५।३१

९ त्वं वयममी दारा कन्येयं कुलजीवितम् ।
बूत यमात्र व कार्यमनास्था बाह्यवस्तुषु ।।—कुमार ६।६३

कुमारी-जीवन के आदर्श—भारतीय आदर्श नारी का चित्रण वाल्मीकि के अतिरिक्त किसी कवि ने पूर्णरूप से नहीं किया। कुमारसम्भव की उमा आदर्श बालिका है। बालकों की बाल्यावस्था से उसका बड़ी अधिक मनोहारी रूप दर्शाया गया है। जहाँ वह उसकी बालक्रीड़ाओं का उल्लेख करता है वहाँ उसके नित्य प्रति उपचीयमान सौन्दर्य और छवि का वर्णन साहित्य की अभिनव वस्तु है। अतः हिन्दू बालिकाओं के जन्म से घृणा करते हैं यह इनके कथन से असत्य सिद्ध होता है। बालकों का महत्त्व आध्यात्मिक आदर्श के कारण है। प्रेम की सुकुमारता और सुरम्यता पुत्री के जन्म से ही पूर्ण होती है। पुत्री ही पिता में कोमल अनुभूति उत्पन्न करती है, क्योंकि वह कुछ समय के लिए ही परिवार को आनन्द दे पाती है। बसन्त की मादकता जहाँ उसके तरुण गात से टकराई वह दूसरे गृह की ही सुषमा बन जाती है। जब कण्व जैसे वनवासी और विरागी मनुष्य भी शकुन्तला को विदा करते समय 'आज शकुन्तला चली जाएगी' सोचकर और दुःखभरे अश्रुओं से इतने अवसन्न हो रहे थे तब उन गृहस्थों का कितना कष्ट होगा जो पहले-पहल अपनी कन्याओं को विदा करते होंगे। इसका अनुमान पाठकों को दुःख से दुखा देता है। कन्या दूसरे का धन है, अतः पति के गृह में भेजकर पिता को हार्दिक सन्तुष्टि होती है[2]। कन्या के सम्बन्ध में इन विचारों ने पिता और पुत्री के पारस्परिक सम्बन्ध में प्रेम के जिस सुकुमार, कोमल उच्च तथा मधुरतर रूप की सृष्टि की अवश्य ही वह कालिदास का आदर्श था।

युवती : पत्नीरूप

कर्तव्य और आदर्श—समाज में युवती नारी का स्नेहमय सम्मान था। कुमारत्व और यौवन के बीच की अवस्था अत्यन्त स्पृहणीय थी[3]। यह सौन्दर्य

---

१ यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥—अभि ४।६

२ अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ॥—अभि ४।१२

३ अग्रे स्त्रीनखपाटलं कुरबकं श्यामं द्वयोर्भागयो
रक्ताशोकमुपोढरागसुभगं भेदोन्मुखं तिष्ठति।
ईषद्बद्धरजः कणाग्रकपिशा चूते नवा मंजरी
मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्रीः स्थिता ॥—विक्रम २।७

पुरुष के लिए सबसे अधिक आकर्षक वस्तु थी। उनके विभ्रम और प्रणय चेष्टाओं से सारा समाज मुखरित था। यौवन बीतने पर लौट कर नहीं आता अतः इसका उपभोग करना ही वांछनीय है[1] ऐसा ही युवतियों के सम्मुख आदर्श था। जो अपने यौवन का उपभोग नहीं करती थीं उन्हें 'रत्न भरी मंजूषा' की संज्ञा दी जाती थी। जैसे 'रत्न भरी पिटारी' रत्न होते भी उनका भोग नहीं करती वैसे ही बिना भोग किया हुआ यौवन भी व्यर्थ है[2]। सुन्दरी स्त्री सुन्दर गुणों से युक्त भी समझी जाती थी[3]।

पत्नी धर्म-पत्नी थी[4]। पति के मनोनुकूल आचरण करना उसका सबसे बड़ा धर्म था। स्वेच्छाचारिता उसके लिए अच्छी नहीं समझी जाती थी[5]। के प्रत्येक कार्य में सहायता देना[6] गुरुजनों की परिचर्या करना गृह-संचालन करना उसका परम कर्तव्य था[7]। पति ही उसका सर्वस्व था। उसके घर में दासवृत्ति भी पिता के घर रहने से कहीं श्रेयस्कर थी[8]। पति का पत्नी पर पूर्ण अधिकार था पर पत्नी अपने अनन्य प्रेम से उसको जीत लेती थी। पति के लिए ही उसका समस्त शृंगार था[10]। पति के अखण्ड प्रेम को प्राप्त करना ही उसका चरम ध्येय था[11]। पति के प्रेम को प्राप्त करने के लिए वे

---

१ त्यजत मानमलं बत विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः ।—रघु ९।४७
२ मुधैवासी मञ्जूषेव रत्नभाण्डं यौवनमद्य वहसि ।—माल अंक ४ पृ १२५
३ यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः ।
तथा हि ते शीलमुदारदर्शने तपस्विनामप्युपदेशतां गतम् ॥
—कुमार— ५।३६
४ क्रियेषु भर्त्रा सह धर्मचर्या कार्या त्वया मुक्तविचारयेति ।—कुमार ७।८३
—किं न वेत्सि सहधर्मचारिणं चक्रवाकसमवृत्तिमात्मनः ।—कुमार ८।११
५ किं पुरोभागे स्वाच्छन्दमवलम्बसे ?—अभि अंक ५ पृ ९४
६ मतयोऽव्यभिचारिण्यो भर्तुरिष्टे पतिव्रता ।—कुमार ६।८६
७ शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
पत्युर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥—अभि ४।१८
८ पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम् ।—अभि ५।२७
९ उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ।—अभि ५।२६
१० स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः ।—कुमार ७।२२
—प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ।—कुमार ५।१
११ अवाप्तिं प्रेम समस्तं पत्युः—कुमार ७।२८

सब कुछ त्याग करने को प्रस्तुत हो जाती थीं यहाँ तक की भीख माँगने को भी तैयार हो जाती थी[1]। वे सती-साध्वी और सच्चरित्रा होती थीं। पति उनके लिए देवता थे[2]। उनके पाप पर ध्यान न देती हुई वे अपने को ही अपराधिनी समझ अपने भाग्य की निन्दा किया करती थी। सीता ने राम द्वारा परित्यक्त होने पर राम की निन्दा न करते हुए अपने भाग्य को ही कोसा[3]। वे दूसरे जन्म में भी उसी पति को पतिरूप में प्राप्त करना चाहती थी[4]। पति का अनादर उनको असह्य था। उनके पातिव्रत का यही सच्चा आदर्श था। सती ने पिता द्वारा पति के लिए अपमानसूचक शब्दों को सुन योग से अपना शरीर छोड़ दिया[5]।

पति की प्रसन्नता और सन्तोष उनके जीवन का सच्चा सुख था। अपना अहंकार और सर्वस्व छोड़कर प्रिय जिसे प्यार करे उसे प्यार करने को प्रस्तुत हो जाना उनके त्याग की पराकाष्ठा थी[6]। यह सब सैद्धान्तिक नहीं अपितु व्यावहारिक था। वे सपत्नियों के साथ स्नेहपूर्ण और आदरपूर्ण व्यवहार करती थीं इसके दृष्टान्त मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय में हैं[7]। सपत्नी के

---

१ प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः
अन्यसरितामपि जलं समुद्रगाः प्राप्नुवन्त्युदधिम्। माल ५।१९

२ तमलभन्त पतिं पतिदेवताः।—रघु ९।१७

३ न चावदद् भर्तुरवर्णमार्या निराकरिष्णोर्वृजिनादृतेऽपि।
आत्मानमेवास्थिरदुःखभाजं पुनः पुनर्दुष्कृतिनं निनिन्द॥—रघु १४।५७

४ साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः॥—रघु १४।६६

५ यथैव पूर्वे जनने शरीरं सा दक्षरोषात्सुदती ससर्ज।
तदाप्रभृत्येव विमुक्तसंगः पतिः पशूनामपरिग्रहोऽभूत्।—कुमार १।५३
—अथावमानेन पितुः प्रयुक्ता दक्षस्य कन्या भवपूर्वपत्नी।
सती सती योगविसृष्टदेहा तां जन्मने शैलवधूं प्रपेदे॥—कुमार १।२१

६ अद्यप्रभृति यां स्त्रियमार्यपुत्रः प्रार्थयते या चार्यपुत्रस्य समागमप्रणयिनी तया सह मया प्रीतिबन्धेन वर्तितव्यम्।—विक्रम अंक ३ पृ २ ?
—अहं खलु आत्मनः सुखावसानेनार्यपुत्रं निभृतशरीरं कर्तुमिच्छामि।
—विक्रम अंक ३ पृ २१

७ देखिए, पादटिप्पणी नं १
—प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः।—माल ५।१९

आदर के कारण ही उसको अपने पुत्र से बड़ी माँ को प्रणाम करने को कहती है[1]। पति के लिए प्रियानुप्रसादन व्रत भी किया करती थी[2]। स्त्रियाँ अपने पति के मार्ग का अनुसरण करती हैं यह कथन में नहीं अपितु जड़ पदार्थों में भी है[3] इससे उनके प्रेम की गहराई व्यक्त होती है। अतः पति के घर जाती शकुन्तला को तापस स्त्रियाँ यही आशीर्वाद देती हैं कि वह पति के सम्मान और स्नेह की प्राप्ति में सफल हो[4]। उर्वशी को भी यही आशीर्वाद मिलता है[5]।

कवि के मतानुसार नारी का आदर्श पत्नीत्व और मातृत्व है, अतः पति और पुत्रवती स्त्रियों का बहुत सम्मान होता था। सुयोग्य पति को दी गई कन्या दूसरे गृह को भी ज्योति प्रदान करती है, साथ ही अपने पूर्व गृह को भी आलोकित करती है[6]। स्त्री और पुरुष दोनों ही समान हैं। धर्मादि के सम्बन्ध में यह स्त्री है, अतः इसका सम्मान न किया जाय ऐसा नहीं होता था। सप्तर्षियों ने अरुन्धती को उतना ही सम्मान दिया था जितना उनके स्थान पर कोई पुरुष होता तो उसे देते। पार्वती का सम्मान सभी मुनिगण करते थे यद्यपि वह अवस्था में बहुत छोटी थी[8]। मेना भामिनी तपस्वियों आदि के द्वारा भी पूजी जाती थी। पूजा और आदर चरित्र के कारण होता है, जाति के कारण नहीं।

विवाहादि मामलों में पत्नी की सलाह लेना[1] स्त्री को गृहिणी सचिव

१ ज्योष्ठमातरमभिवादयस्व ।—विक्रम अंक ५ पृ २५१

२ किं नामधेयमेतद्व्रतम् ? मान प्रियानुप्रसादनं नाम ।
—विक्रम अंक ३ पृ २ ४

३ शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते
प्रमदा पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि ।—कुमार ४।३३

४ भर्तुर्बहुमानसूचकं महादेवीशब्दं लभस्व ।—अभि अंक ४ पृ ६५

५ विक्रम अंक ५, पृ २४२

६ अनेकया हि शिशु कन्या सुवृत्तु प्रतिपादिता ।—कुमार ६।७६

७ स्त्रीपुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम् ।—कुमार ६।१२

८ तथाभिवन्द्य कुमारजनेस्तमं त्वमुपाध्यायभवनीमपि नीतिमीम् ।
विवृताक्षस्तामुपयोऽनुयागमन्न धर्मवृद्धेषु वय समीक्ष्यते ।।—कुमार ६।१६

९ स मानसी मेरुसख पितृणा कन्या कुलस्य स्थितये स्थितिज्ञ ।
मेना मुनीनामपि माननीयामात्मानुरूपा विधिनोपयेमे ।।—कुमार १।१८

१० देखिए, पादटिप्पणी न ७

११ प्रोक्त इत्यनपत्योऽपि मनागुत्कण्ठितः ।
प्रायेण गृहिणीनेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः ।।—कुमार ६।८५

१

सखी प्रियशिष्यादि कहना[1] उसके प्रति पति के सम्मान को व्यक्त करता है। यही नहीं धार्मिक अनुष्ठानों का उसके बिना न होना[2] दूसरा विवाह करने के पूर्व ज्येष्ठ पत्नी से मन्त्रणा करना उसकी अनुमति पर ही विवाह करना[3] (Kalidas his genius Ideals & Influence by Ram Swami Shastri Page 222) इसका पुष्ट प्रमाण है।

यह कहना कि उस समय नारी का कोई व्यक्तित्व नहीं था उसका यही काम था कि वह जैसा पति कहे करती जाय ठीक नहीं। कालिदास ने कहा है कि स्त्रियों का अधिकार है कि वे आवश्यकता समझें तो पति को किसी बात से रोकें[4]। स्त्रियाँ किसी कारण से ही पति पर क्रोध करती हैं[5]। यह उनके अधिकार और स्वतन्त्र व्यक्तित्व की पुष्टि करता है परन्तु अहंकार का समावेश किसी अवस्था में न होना चाहिए[6]। शकुन्तला को पिता का यही सबसे बड़ा उपदेश है कि अहंकार न करना[7]।

स्त्रियाँ पति के अतिरिक्त अपनी सास के प्रति भी विनयशील थीं। सासें भी बहुओं से प्रेम करती थीं[8]। पत्नी की स्नेहशीलता और विनय प्रशंसनीय थी।

---

१ गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।—रघु ८।६७

२. क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम् ।—कुमार ६।१४

३ धारिणी (मालविका हस्ते गृहीत्वा) स्वमार्यपुत्र प्रियनिवेदनानुरूपं पारितोषिकं प्रतीच्छतीति । मालविकामवगुण्ठनवती कृत्वा आर्यपुत्र इदानीमिमां प्रतीच्छतु । राजा—लज्जावनतमुख एव वयम् ।—माल अंक ५, पृ १४८–१४९

४ राजा की मालविका के प्रति अनुरक्ति देखकर देवी कहती है—यदि राजकार्येषु ईदृश्युपायनिपुणतार्यपुत्रस्य तदा शोभनं भवेत् ।
—माल अंक १ पृ २०६

५ अनिमित्तमिन्दुवदने किमत्र भवतः पराङ्मुखी भवसि ।
प्रभवन्त्योऽपि हि भर्तृषु कारणकोपाः कुटुम्बिन्यः ।।—माल ३।१८
कथमुचितं वरतनु कारणात्कृते तथागतं समप्रति कोपपात्रताम् ।—माल ४।१६

६ भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी—अभि ४।१८
—अनुत्सेकः खलु विक्रमालंकारः —विक्रम अंक १ पृ १११

७ देखिए, पादटिप्पणी नं ६

८ क्लेशावहा भर्तुरलक्षणाहं सीतेति नाम स्वमुदीरयन्ती
स्वर्गप्रतिष्ठस्य गुरोर्महिष्यावभक्तिभेदेन वधूर्ववन्दे ।
उत्तिष्ठ वत्से ननु सानुजोऽसौ वृत्तेन भर्ता शुचिना तवैव
कृच्छ्रं महत्तीर्ण इति प्रियार्हां तामूचतुस्ते प्रियमप्यमिथ्या ।—रघु १४।५६

वे स्वाभाविक लज्जा से ओतप्रोत होती थीं। गुरुजनों के सम्मुख पति के साथ जाने में संकुचित होती थीं[१]। पति को वे आर्यपुत्र कह कर सम्बोधित करती थीं।

मनोरञ्जन के साधन—मनोरञ्जन के लिए वे उपवन में विहार करतीं[२] झूला झूलतीं[३] जल-क्रीडा करतीं[४] वीणा या गीत गातीं[५] चित्र बनातीं[६] कथा सुनतीं[७] तथा नदी किनारे बालू में टीले बनाकर खेल खेला करतीं[८]। मदिरा-पान भी कभी-कभी करती थीं[९]।

मातृ-रूप—पति के वंश को चलाने के लिए पत्नी ही एकमात्र कारण थी। वीर पति के समान स्त्रियाँ वीर पुत्र की माता बनने को भी लालायित रहती

---

१ इच्छाम्यार्यपुत्रेण सह गुरुसमीपं गन्तुम्।—अभि अंक ७ पृ १४१

२ राजा के प्रेम से संतप्त मालविका मन बहलाने के लिए उपवन में जाती है। वहाँ अपने मन में छिपे प्रेम को अस्फुट शब्दों में व्यक्त कर मन को हल्का करती है। प्रमदवन का उद्देश्य उपवन-विहार ही था। प्रमदवन सभी नाटकों में आया है।

३ नववसन्तावतारव्यपदेशैरभरसत्या निपुणिकामुखेन प्रार्थितो भवान्—
इच्छाम्यार्यपुत्रेण सह दोलाधिरोहणमनुभवितुमिति।
—माल अंक ३ पृ २११
—मालविके गौतमचापलादस्थानपरिभ्रष्टाया सख्यौ मम चरणौ।
—माल अंक ३ पृ २११

४ कुश की रानियों के साथ जलक्रीड़ा—रघु १६।५६-७

५. उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।—उत्तरमेघ २६

६ मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।—उत्तरमेघ २५

७. भगवति! रमणीयं कथावस्तु। ततस्तत। प्रमदवने देवी निषण्णा रक्तचन्दनधारिणा परिजनहस्तगतेन चरणेन भगवत्या कथाभिर्विनोद्यमाना तिष्ठति।—माल अंक ४ पृ ११७

८. तत्र खलु मन्दाकिन्याः पुलिनेषु सता सिकतापर्वतकैः क्रीडन्ती विद्याधरदारिकोदयवती नाम तेन राजर्षिणा निर्ध्यातेति कुपिता उर्वशी।
—विक्रम अंक ४ पृ २११

९. हञ्जे निपुणिके शृणोमि बहुशो मदः किल स्त्रीजनस्य विशेषमण्डनमिति। (अवस्थासदृशं परिक्रम्य) हञ्जे मदेन कदाम्यपागमनमात्मनमार्यपुत्रस्य दर्शने हृदयं त्वरयति चरणौ पुनर्न मम प्रसरतः।—माल अंक ३ पृ ३ १

नोट यथास्थान इसका विस्तृत वर्णन किया जायगा।

थीं।[1] अतः पुत्रवती होने का ही उनको आशीर्वाद दिया जाता था[1]। वीर पुत्र की माँ बनने में वे गौरव अनुभव करती थीं। मालविकाग्निमित्र में वसुमित्र की विजय पर परिव्राजिका धारिणी को बधाई देती है, तब धारिणी यही कहती है कि मुझे यही सुख है कि मेरा पुत्र पिता के समान पराक्रमी निकला[2]। माँ अपने पुत्र की विजय के लिए व्रत रहती थी, दक्षिणादि देती थी[3]। कौशल्यादि अपने पुत्रों की चोट देखकर इतनी कातर हो गई कि उनको माँ कहलाना अच्छा नहीं लगा। यह उनके पुत्र-प्रेम की पराकाष्ठा है[4]। पुत्र-प्रेम से उनके स्तनों से दूध की धार टपक-टपक कर चोली को भिगो देती थी[5]।

मातृ-पद का समाज में यथेष्ट सम्मान था। पति पत्नी के दोहद की पूर्ति यत्न-पूर्वक से करता था[6]। सन्तान के प्रति ममता किस प्रकार की होती है,

---

१ वत्से ! वीर प्रसविनी भव ।—अभि०, अंक ४ पृ० ६५
—अस्यापि वीरप्रसवा भव ।—कुमार० ७।८७
—तमश्रु नेत्रावरणं प्रमृज्य सीता विलापाद्विरता ववन्दे ।
तस्यै मुनिर्दोहदलिङ्गदर्शी दाश्वान्सुपुत्राशिषमित्युवाच ॥—रघु० १४।७१

२ मन्ये सि वीरपत्नीनां श्लाघ्यानां स्थापिता धुरि ।
वीरसूरिति शब्दोऽयं तनयात्त्वामुपस्थितः ॥—माल० ५।१६
—भगवति ! परितुष्टास्मि यत्पितरमनुजातो मे वत्सकः ।
—माल० अंक ५, पृ० १२१

३ अतः प्रभृति सेनापतिर्यज्ञतुरगरक्षणे नियुक्तो मद्दारको वसुमित्रस्तत्प्रभृति तस्यायुर्निमित्तं निष्कसुवर्णपरिमाणां देवी दक्षिणीयं परिग्राहयति ।
—माल० अंक ५, पृ० ११६
—देव्याज्ञाप्तमस्ति आगामिनि चतुर्थदिवसे प्रवृत्तपारणो मे उपवासो भविष्यति ।
तत्र दीर्घायुषावश्यं संभावितव्येति ।—अभि० अंक २ पृ० ३६

४ ते पुत्रयोर्नैर्ऋतशस्त्रमार्गानार्द्रानिवाङ्गे सदयं स्पृशन्त्यौ ।
अपीप्सितं क्षत्रकुलाङ्गनानां न वीरसूशब्दमकामयेताम् ॥—रघु० १४।४

५ इयं ते जननी प्राप्ता त्वदालोकनतत्परा ।
स्नेहप्रस्रवनिर्भिन्नमुद्वहन्ती स्तनांशुकम् ॥—विक्रम०, अंक ५, १२

६ न मे ह्रिया शंसति किंचिदीप्सितं स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी ।
इति स्म पृच्छत्यनुवेलमादृतः प्रियासखीरुत्तरकोसलेश्वरः ॥—रघु० ३।५
—उपेत्य सा दोहददुःखशीलतां यदेव वव्रे तदपश्यदाहृतम् ।
न हीष्टमस्य त्रिदिवेऽपि भूपतेरभूदनासाद्यमधिज्यधन्वनः ॥—रघु० ३।६
—तामङ्कमारोप्य कृशाङ्गयष्टिं वर्णान्तराक्रान्तपयोधराग्राम् ।
विलज्जमानां रहसि प्रतीतः पप्रच्छ रामां रमणोऽभिलाषम् ।—रघु० १४।२७

खान - पान

भोज्य पदार्थों के प्रकार—खान-पान के सम्बन्ध में कालिदास की कृतियों में पर्याप्त चर्चा नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि उन दिनों की सभ्यता के अनुसार खान-पान की चर्चा काव्य में करना ग्राम्य माना जाता था। वैसे ही नाटकों में भोजनादि को रंगमञ्च पर दिखाने का निषेध था। अतः सामाजिक मनोरञ्जन के लिए ही विदूषक के पेटू होने की अभिव्यक्ति है।

पाणिनि के समय में भोज्य और भक्ष्य में भेद माना जाता था परन्तु पतञ्जलि (२१ ई पू) के समय में यह भेद टूट चला था। जैसा कि महाभाष्य के निम्न अवतरण से ज्ञात पड़ता है—

'भक्षिरयं खरविशदे एव वर्तते तेन अपो न प्राप्नोति। नायमस्ति नियमः खरविशदे एव वर्तते। किं तर्हि। अन्यत्रापि वर्तते। तद्यथा वायुभक्ष। —महाभाष्य ७।१।११

अर्थात् यह कहना कि भक्ष शब्द का प्रयोग जो खर विशद हो उसी के साथ होता है, जो द्रव या पेय हो उसके साथ नहीं ठीक नहीं है क्योंकि जो खर विशद नहीं है, उसके लिए भी भक्ष शब्द का प्रयोग होता है जैसे अब्-भक्षण वायु-भक्षण। आज भी बंगाली 'जल खाबो' कहते हैं।

कालिदास के पक्ष में कोई बात निर्णय कर नहीं कही जा सकती।

कात्यायन ने सम्पूर्ण खान-पान को एक पंक्ति के द्वारा 'अभ्यवहारस्य पञ्चविधित्वं भक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्यपानीयभेदेन' पूर्णरूपेण स्पष्ट कर दिया है। कालिदास भी कात्यायन के ही पक्षपाती हैं। उन्होंने स्वयं 'पञ्चविधस्याभ्यवहारस्य'[1] पद इसी कारण प्रयुक्त किया है। इस दृष्टिकोण से सम्पूर्ण खाद्य पदार्थ पाँच वर्गों में विभाजित हो जाते हैं। भक्ष्य वर्ग में वे पदार्थ आते हैं जिनको काटकर खाना होता है, जैसे मोदक रोटी। भोज्य में वे पदार्थ आते हैं जिनमें दाँतों को बहुत परिश्रम नहीं करना पड़ता जैसे पकाया हुआ चावल। लेह्य में चटनी

---

१ ततः पञ्चविधस्याभ्यवहारस्योपनतसंभारस्य भोजना
प्रेक्षमाणाभ्यां वयस्यमुखाभ्यां मिलितुम्।—विक्रम अंक २ पृ १७१

मधु आदि चाटकर खानेवाले पदार्थ आते हैं चोष्य में गन्ना आदि चूस कर खाने वाली वस्तुएँ और पानीय में पेय-पदार्थ ।

कालिदास ने यद्यपि प्रत्येक खाने योग्य छोटी-छोटी वस्तुओं का वर्णन नहीं किया तथापि जौ चावल तिल आदि अनाज दूध दही मक्खन मधु, गुड़ तथा मोदक मत्स्यण्डिका आदि मिठाइयों का परिचय दिया है । 'रसोईघर में पाँच प्रकार के पकवानों को देखने-भर से हमारी उदासी दूर हो जायेगी '[1]— विदूषक के इस कथन से आभास होता है कि कालिदास के समय में मनुष्य खाने-पीने के शौकीन थे । कालिदास ने अपने समस्त नाटकों में विदूषक को खाने की वस्तुओं से रुचि रखने वाला दिखाया है यह केवल नितान्त हास्य के निमित्त नहीं अपितु तत्कालीन जनसाधारण की रुचि-प्रदर्शन के हेतु ही किया । विदूषक एक स्थान पर कहता है कि मेरा पेट हलवाई की कड़ाई की भाँति जला जा रहा है[2] । इस उपमा से यह कहा जा सकता है कि तरह-तरह की मिठाइयाँ पकवान आदि हलवाई की दूकान पर निरन्तर बनते रहते होंगे तभी उसकी कड़ाई सदा जलती रह सकती है ।

निरामिष तथा सामिष दोनों प्रकार के भोजनों का प्रचलन था । उस समय के ब्राह्मण तक मांसाहारी थे अत मांस खाना बुरा नहीं समझा जाता था । इस पर यथास्थान प्रकाश डाला जाएगा ।

सुविधा के लिए समस्त खाद्य-पदार्थों को अनाज दूध तथा दही मधु आदि नाना मिष्ठान्न गोरस फल इलायची काली मिर्च लौंग नमक आदि मसाले पान सुपारी आदि वर्गों म विभाजित किया जा सकता है ।

अनाज—मुख्य रूप से कालिदास जौ चावल और तिल तीन ही अनाजों का नाम लेते हैं । मुख्य अनाज गेहूँ तक का कहीं संकेत नहीं है । सम्भव है उनके वर्णित प्रदेशों और स्थानों में गेहूँ की उत्पत्ति नहीं होती हो इसी कारण कहीं प्रसंग नहीं आ पाया ।

यव—यव का कवि ने अनेक स्थानों पर प्रयोग किया है । विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर इसका प्रयोग बहुधा किया जाता था । कानों में लटकते जौ के अंकुर न केवल विवाह की शोभा थे[3] अपितु वसन्त ऋतु में

---

१ देखिए पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० १

२ दृढ़ चिन्ताचिन्तुरिव मे उदराभ्यन्तरं दह्यते ।—माल० अंक २ पृ० २८९

३ तस्याः करोति परभागलाभाद् यवाङ्कुरोऽपि यवप्ररोहः ।—कुमार० ७।१७

—बभूवुर्न ... ।—कुमार० ७।८२

—... यवाङ्कुराः ... ।—रघु० ७।२७

विलासी पुरुषों के आकर्षण-केन्द्र भी थे[1]। राज्याभिषेक के समय यव को दूब और दूर्वादल के साथ यवांकुर भी आरती उतारने के लिए शुभ समझे जाते थे[2]।

चावल—चावलों के कई प्रकारों का कवि ने वर्णन किया है। जिनमें—शालि, नीवार, कलम और श्यामाक मुख्य हैं।

(१) शालि[3]—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार यह एक प्रकार का चावल है, जो जाड़ों में पैदा हुआ करता है और जिसे जड़हन भी कहते हैं[4]।

(२) नीवार[5]—यह भी चावल का एक प्रकार है परन्तु निकृष्ट श्रेणी में आता है। यह जंगलों में अधिक पैदा होता था। अतः तपोवन-वर्णन में ही इसका प्रसंग अधिकता से देखा जाता है[6]।

(३) कलम[7]—मल्लिनाथ की टीका के अनुसार यह शालि का ही प्रकार-विशेष है[8]।

---

१ अवनम्य निवेशिभिरंशुकैः भवनकम्पपरैश्च यवांकुरैः ।
परभृताभिरुतैश्च विलासिनः स्मरबलैरबलैकरसाः कृताः ॥—रघु ९।४१

२ दूर्वायवाङ्कुरप्लक्षत्वगभिन्नपुटोत्तरान् ।
ज्ञातिवृद्धैः प्रयुक्तान्स भेजे नीराजनाविधीन् ॥—रघु १७।१२

३ सम्पूर्ण ऋतुसंहार में इसके अनेक उदाहरण हैं ३।१ १ १६ ४।१ ८ १६ ५।१ १६

—वनान्तस्तवकोकपाकप्रतिविशुद्धपयस ।
तस्यत्सेऽभ्याशमुखा सर्वे फलिता इव शालयः ॥—रघु १५।७८

—गर्भशालिसधर्माणस्तस्य गूढं विपेचिरे ।—रघु १७।५३

४ A kind of rice growing in winter which is replanted and called Jadahan.

—India as known to Panini, Page 102–103.

५ नीवार षष्ठभागमस्माकमुपहरन्तिवति ।—अभि अंक २ पृ ११

—प्रतिष्ठितनीवारमुष्टिभिः स्वस्तिवाचनिका
विस्तारयन्तीभिरभिनन्द्यमाना शकुन्तला तिष्ठति ।—अभि अंक ४ पृ ५१

६ यमसौष्यति मम शोकं कथं नु वत्से त्वया रचितपूर्वम् ।
उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः ॥—अभि ४।२१

—अपर्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः —रघु १।५०

७ आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम् ।
फलैः संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः ॥—रघु ४।३७

—अपेक्ष्यते च एककल्पितनीवारबलिः कपोलदेशे कलमाग्रपिशङ्गा ।—कुमार ५।४७

८ कलमा शालिविशेष —टीका रघु ४।३७ कुमार ५।४७

(४ इयामाक[1]—टीकाकार राघव भट्ट इसको 'धान्यविशेष' कहते हैं[2]।
तिल—धान तथा चावल के अतिरिक्त अनाजों में तिल का नाम भी कवि देता है। मृत्यु होने पर तिल की अञ्जलि देने की प्रथा थी[3]।

लाज—विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर लाजाञ्जलि और लाजाहोम किया जाता था[4]। लाज को साधारण भाषा में आजकल 'खील' कहते हैं। राजा के सत्कार के उपलक्ष्य में पौर कन्याएँ उन पर खीलें बरसाती थीं[5]।

दाल—पाणिनि का समय ईसापूर्व ६ठी शताब्दी माना जाता है। कम-से-कम वे कालिदास के पूर्व अवश्य हुए। पाणिनि मुद्ग और माष दो दालों का प्रयोग करते हैं[6]। यद्यपि कालिदास के ग्रन्थों में किसी दाल का संकेत और प्रसंग नहीं है परन्तु उनके समय में इसका प्रयोग अवश्य होता होगा।

दूध तथा इसकी परिवर्तित आकृति

कालिदास के समय में दूध दही और मक्खन का प्रचार बहुतायत से था। उस समय गौ की पूजा ही इसी कारण की जाती थी कि इससे दूध दही मक्खन आदि की प्राप्ति हुआ करती है। दिलीप और सुदक्षिणा को नन्दिनी की सेवा करनी पड़ी थी क्योंकि पूर्वजन्म में दिलीप ने कामधेनु को प्रणाम नहीं किया था।

इस वर्ग में कवि के वर्णित प्रसंगों में सबसे पहले हम दूध[7] का नाम ले

१ यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते॥
—अभि ४।१४
२ श्यामाको धान्यविशेष।
३ अस्यया अवश्यं सिञ्चति मे तिलोदकम् —अभि अंक ३ पृ ४६
४ चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ।—रघु ७।२५
—केयूरचूर्णीकृतलाजमुष्टिं हिमालयस्यालयमाससाद।—कुमार ७।६९
—स कारयामास वधूं पुरोधास्तस्मिन्समिद्धार्चिषि लाजमोक्षम्।—कुमार ७।८
५ अवाकिरन्बाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः।—रघु २।१०
—विवेश मौलोद्धृतलाजवर्षी मुतोऽग्नानामनवद्यनयानाम्।—रघु ११।१
६ India as known to Panini by Sri V S Agrawal Page 104 मुद्ग (Mudga) (IV 4 25) Masha (V 1 7; V 2 4)
७ दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं भेजे भुजोच्छिन्नरिपुर्निषण्णाम्।—रघु २।२३
—अवेहि मां प्रीतिमतीं ... तथा प्रीतास्मि ते पुत्र वरं वृणीष्व।
न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुघां प्रसन्नाम्॥—रघु २।६३

सकते हैं । दूध के साथ इसकी निर्मित वस्तुओं में रघुवंश में क्षीर[1] का प्रसंग है । मक्खन के लिए कवि नवनीत[2] और हैयंगवीन[3] शब्द का प्रयोग करता है । दही[4] भी उस समय मनुष्य शौक से खाते थे । दही से शिखरिणी खाद्य-पदार्थ बनाया जाता था ।

मधु तथा मिष्ठान्न—मधु का प्रयोग मधुपर्क में किया जाता था । वैवाहिक अवसरों अथवा किसी अतिथि के आ जाने पर उसके स्वागत के उपलक्ष्य में अर्घ्य अथवा मधुपर्क भेंट में दिया जाता था । मधुपर्क में मधु, चावल और दूर्वा रहते थे ।

गन्ने का प्रसंग ग्रन्थों में बहुधा मिलता है । इससे शक्कर अथवा गुड़ की उत्पत्ति होती होगी । गुड़-विकार को टीकाकार मल्लिनाथ शब्द शर्करादि कहता है । गुड़-विकार गुड़ की बनी कोई वस्तु होगी । इसी प्रकार मालविकाग्निमित्र में मत्स्यंडिका[5] शब्द का प्रयोग हुआ है । मत्स्यंडिका को टीकाकार शर्कराविशेष कहता है । आकार में नाम से ऐसा आभासित होता है कि मछली के आकार की होगी ।

मिष्ठान्न में कवि मोदक का नाम बहुधा लेता है । चावल अथवा गेहूँ के आटे में शक्कर मिला कर घी में भून कर बाल-गोल लड्डू बना लिए जाते होंगे । कवि इनको स्वयं एक स्थान पर चन्द्रमा की तरह गोल वर्णित करता है[6] ।

मांस तथा मछली—कालिदास के समय मनुष्य मांसाहारी होते थे । अथवा यह कहना चाहिए कि उस समय मांस खाना बुरा नहीं समझा जाता था ।

—यो हनिष्यति वध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षिष्यति द्विजम् ।
हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः ॥ —अभि ६।२८

१ हैमपात्रगतं दोर्भ्यामादधानं पयश्चरुम् —रघु १ ।५१
मल्लिनाथ के अनुसार—पयश्चरुं पायसान्नं 'अनवस्रावितोऽन्तरूष्मपक्व ओदनश्चरु इति याज्ञिका । स तेजो वैष्णवं पत्न्योर्विभेजे चरुसंज्ञितम् ।
—रघु १ ।५४

२ अहो नवनीतकल्पहृदय आर्यपुत्र । —माल अंक १ पृ १ ६

३ हैयंगवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान् —रघु १।४५

४ तत्रेश्वरो विष्टरभाग्यथावत्सरत्नमर्घ्यं मधुमच्च गव्यम् ।—कुमार ७।७२

५ अयस्य एतत्तत्तु मोदकामोदैर्मिश्रस्य मत्स्यण्डिकोपनता ।—माल पृ १११

६ ही ही भो एवं ननु गोळमोदकसश्रीकं चरितं राज्ञा द्विजातीनाम् ।
—विक्रम अंक ३ पृ ११७

विदूषक को हरिणी का मांस अच्छा लगना[1] प्रमाणित करता है कि ब्राह्मण भी मांस खाया करते थे। क्षत्रिय राजा शिकार के शौकीन होते थे। राजा दुष्यन्त मृग सूअर सिंह के शिकार के शौकीन थे[2]। राजा दशरथ के शिकार का कवि ने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। हिरन सूअर जंगली भैंसा बारहसिंगा सिंह, चामरमृग आदि पशुओं का दशरथ ने शिकार किया था[3]। हाथी को मारना शास्त्र के विरुद्ध था[4]। हाथियों को राजा पकड़वा मँगवाते थे और उनको युद्ध के लिए सुरक्षित रखते थे[5]। अभिज्ञानशाकुन्तल में शकुनिलुब्धक[6] का प्रसंग आया है। चिड़िया आदि भी मार कर खाई जाती थीं।

मछली का समाज में आम प्रचलन था। यदि ऐसा न होता तो मुहावरों के रूप में इसका प्रयोग न होता— भिन्नहस्ते मत्स्ये पलायिते निर्विण्णो धीवरो

---

१ अहमपि प्राप्यमाणो मया शिखण्डहरिणीमांसभोजनं न लभे तदीदसंकीर्तयन्ना-श्वासयाम्यात्मानम्।—विक्रम अंक ३ पृ २१

२ एतस्य मृगयाशीलस्य राज्ञो वयस्यभावेन निर्विण्णोऽस्मि।
अयं मृगोऽयं वराहोऽयं शार्दूल इति मध्याह्नेऽपि ग्रीष्म
विरलपादपच्छायासु वनराजीष्वाहिण्ड्यतेऽटवीतोऽटवी
पत्रसंकरकषायाणि कटूनि गिरिनदीजलानि पीयन्ते।
—अभि अंक २ पृ २६

३ तं वाहनादवनतोत्तरकायमीषद्विध्यन्तमुद्धतसटाः प्रतिहन्तुमीषुः।
नात्मानमस्य विविदुः सहसा वराहा वृक्षेषु विद्धमिषुभिर्जघनाश्रयेषु॥
—रघु ९।६

—तेनाभिघातरभसस्य विकृष्य पत्री वन्यस्य नेत्रविवरे महिषस्य मुक्तः।
निर्भिद्य विग्रहमशोणितलिप्तपुङ्खस्तं पातयां प्रथममास पपात पश्चात्॥
—रघु ९।६१

—प्रायो विषाणपरिमोक्षलघूत्तमाङ्गान्खड्गांश्चकार नृपतिर्निशितैः क्षुरप्रैः।
शृङ्गं स दृप्तविनयाधिकृतः परेषामत्युच्छ्रितं न ममृषे न तु दीर्घमायुः॥
—रघु ९।६२

—व्याघ्रानभीरभिमुखोत्पतितान्गुहाभ्यः फुल्लासनाग्रविटपानिव वायुरुग्णान्।
शिक्षाविशेषलघुहस्ततया निमेषात्तूणीचकार शरपूरितवक्त्ररन्ध्रान्॥
—रघु ९।६३

४ नृपतेः प्रतिषिद्धमेव तत्कृतवान्पङ्क्तिरथो विलङ्घ्य यत् —रघु ९।७४

५. ते सेतुवार्तागजबन्धमुख्यैरभ्युच्छ्रिताः कर्मभिरप्यवन्ध्यैः —रघु १६।२

६ ततो महत्येव प्रत्यूषे दास्याः पुत्रैः शकुनिलुब्धकैर्वनग्रहणकोलाहलेन प्रतिबोधितोऽस्मि।—अभि अंक २ पृ २७

मनसि गच्छ धर्मो मे भविष्यतीति (विक्रम० अंक ४ पृ० २ १)। पशुओं और पक्षियों के अतिरिक्त मछलियाँ भी उस समय के आहार में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थीं। मछुआ एक जाति-विशेष था जिसका पेशा ही मछलियाँ पकड़ना[1] और उनको बेचना था। रात-दिन यही काम करने से उनके शरीर सदा मछलियों की दुर्गन्ध से भरे रहते थे[2]। मांस खाने की विधि का एक स्थान पर संकेत है। आज भी सलाइयों में मांस के छोटे-छोटे टुकड़े पिरोकर ऊपर रख दिए जाते हैं नीचे आग जलती है। ये खाने में बहुत स्वादिष्ट समझे जाते हैं। इस प्रकार के मांस पकाने का संकेत 'शूल्यमांस' में मिलता है। (अभि० अंक २ पृ० २१)। मछलियाँ कई प्रकार की होती थीं। इनमें रोहू[3] का नाम कवि ने अभिज्ञानशाकुन्तल में लिया है। इसी के पेट में अंगूठी मिली थी।

मांस के प्रकार—अब मांस के प्रकार के नाते तीन पक्ष हो जाते हैं। पशुओं का मांस, पक्षियों का मांस और मछली। पशुओं में हिरन, सिंह, सूअर, जंगली भैंसा, बारहसिंगा का मांस खाया जाता था। पक्षी प्रत्येक प्रकार के ही खा *लिए जाते होंगे। मछलियाँ तो सभी खाद्य-पदार्थ थीं। हाथी को छोड़ कर सभी* भक्ष्य थे। यहाँ तक कि गाय का मांस भी। मधुपर्क में किसी समय इसका विशेष स्थान था[4]। मछली की गन्ध पहचानना, बाजार में बेचना आदि मछलियों के व्यापार का साक्षात् प्रमाण है।

---

१ अहं जालोद्गालादिभिर्मत्स्यबन्धनोपायैः कुटुम्बभरणं करोमि।
—अभि० अंक ६ पृ० ९७

२ आमुक विस्रगन्धी गोधादी मत्स्यबन्ध एव निःसंशयम्।
—अभि० अंक ६ पृष्ठ ९८

३ एकस्मिन् दिवसे खण्डशो रोहितमत्स्यो मया कल्पितो यावत् तस्योदराभ्यन्तर इदं रत्नभासुरमङ्गुलीयकं दृष्ट्वा पश्चादहं तस्य विक्रयार्थं दर्शयन् गृहीतो भावमिश्रैः।
—अभि० अंक ६ पृ० ९८

४ The Manava gr 1 9 22 says that the veda declares that Madhuparka must not be without flesh and so it recommends that if the cow is let loose goat s meat may be offered. Baud. gr says when the cow is let off the flesh of a goat or ram may be offered or some forest flesh (of a deer etc.) may be offered as there can be no madhuparka without flesh.
—History of Dharmashastra, Page 545

नोट—इससे मालूम होता है कि पहले गाय का मांस भी खाया जाता था। गाय को पवित्र मानने के कारण इसके स्थान पर बकरे और हिरन का मांस खाया जाने लगा।

प्राप्ति स्थान—शिकार के द्वारा ही मांस की प्राप्ति नहीं होती थी अपितु दूकानें भी थीं जहाँ मांस बिकता था। ये दूकानें बहुधा एक ही स्थान पर होती थीं। अतः इन पर गीध मँडराते रहते थे[1]।

फल—अतिथि-सत्कार के लिए अथवा किसी से भेंट करते समय यदि और कुछ न मिले तो फलों का ही व्यवहार उत्तम समझा जाता था[2]। तपोवन में तो फल आहार के विशेष पदार्थ थे। अतिथियों का सत्कार फलों से ही किया जाता था। दुष्यन्त का सत्कार फलों से ही किया गया था[3]। इसी प्रकार रघुवंश कुमारसम्भव[4] में भी तपोवन में अतिथियों का सत्कार फलों से किया जाता था ऐसा प्रसंग कवि ने दिया है। इन फलों में आम[5]

---

१ भवानपि सूनापरिसरचर इव गृध्र आमिषलोलुपो भीरुकश्च।
—माल अंक २ पृष्ठ २८९

२ सखि! अयमपरमाप्यमति। अरिक्तपाणिनास्माकृशजनेन तत्र भवती देवी दृष्टव्या। तद्बीजपूरकेण शुश्रूषितुमिच्छामीति।—माल अंक १ प २६

३ हला शकुन्तले! गच्छोटजम् फलमिश्रमर्घमुपहर।—अभि अंक १ पृष्ठ १७

४ विरोधिसत्त्वोज्झितपूर्वमत्सरं द्रुमैरभीष्टप्रसवार्चितातिथि।—कुमार ५।१७

५. कान्तावियोगपरिखेदितचित्तवृत्तिर्दृष्ट्वाध्वगः कुसुमितान्सहकारवृक्षान्।
—ऋतु ६।२८

—विसृज सुन्दरि संगमसाध्वसं तव चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे।
परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि॥—माल ४।१३

—नवकुसुमयौवना नवमल्लिका बद्धपल्लवतयोपभोगक्षमः सहकारः।
—अभि अंक १ पृष्ठ १४

—सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति।
क इदानीं सहकारमन्तरेणातिमुक्तलतां पल्लवितां सहते॥
—अभि अंक १ पृष्ठ ४७

—चूतपादपस्य पार्श्व ईषत्परिभ्रान्तेवालिखिता सा शकुन्तला।
—अभि अंक ६ पृष्ठ ११५

—आताम्रहरितपाण्डुर जीवितसर्वं वसन्तमासस्य
दृष्टोऽसि चूतकोरक ऋतुमङ्गल त्वां प्रसादयामि।—अभि ६।२

—मधुरिके! चूतकलिकां दृष्ट्वोन्मत्ता परभृतिका भवति।
—अभि अंक ६ पृष्ठ १ २

—यावदवलम्ब्य स्थिता चूताङ्कुरं गृह्णाति।—अभि अंक ६ पृष्ठ १ १

—परलोकविधौ च माधव स्मरमुद्दिश्य विलोलपल्लवा।
निवपेः सहकारमञ्जरी प्रिय चूतप्रसवो हि ते सखा॥—कुमार ४।३८

जम्बु[1] (जामुन) द्राक्षा[2] (अंगूर) खजूर,[3] नारियल[4] बीजपूरक[5] (नीबू) का नाम कवि के ग्रन्थो मे मिलता है। आम का वर्णन सबसे अधिक है।

मसाले—मसालों मे इलायची[1] काली मिर्च[2] लौंग नमक[3] का प्रयोग

—छन्नोपान्त परिणतफलद्योतिभि काननाम्रै
 त्वय्यारूढे शिखरमचल स्निग्धवेणीसवर्णे।—पूर्वमेघ १८

१ अये इममासन्नपादपं संवृक्षितमदा जम्बूविटपमध्यास्ते।
 परमता विहंगमेष पक्षिता वातिरेका।—विक्रम अंक ४ पृ २२
 —महदपिपरदुःखं शीतलं सम्यगाहु प्रणयमगणयित्वा यन्ममापन्नुदस्त्वम्।
 अधरमिव मदान्धा पातुमेषा प्रवृत्ता फलमभिमुखपाकं राजजम्बूद्रुमस्य॥
 —विक्रम ४।२७

२. विनयन्ते स्म तद्योधा मधुभिर्विजयश्रमम्।
 आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु॥—रघु ४।६५

३. खजूरी स्कन्धनद्धाना मदोद्गारसुगन्धिषु।
 कटेषु करिणां पेतु पुंनागेभ्य शिलीमुखा॥—रघु ४।५७
 —यथा कस्यापि पिण्डखजूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो
 भवेत् तथा स्त्रीरत्न परिभाविनो भवत इयमभ्यर्थना।
 —अभि अंक २ पृ ३३

४ ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचितापानभूमय।
 नारिकेलासवं योधा शात्रवं च पपुर्यश॥—रघु ४।४२

५. समाहितिके देवस्योपवनस्य बीजपूरकं गृहीत्वागच्छेति।—माल अंक १ पृ २१
 —तद्बीजपूरकैरुपं सुभूषितुमिच्छामीति।—माल अंक १ पृ २१
 —ननु सन्निहितं बीजपूरकम्।—माल अंक १ पृ २११

१ ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगास्वेलालतालिङ्गितचन्दनासु,—रघु ६।६४
 —ससम्भ्रमैरावणभुग्नानामेलानामुत्पतिष्णव।
 तुल्यगन्धिषु मत्तेभकटेषु फलरेणव॥—रघु ४।४७

७ भसैरम्बुनिपातस्तत्र विविधैर्गोर्णतामस्य।
 मारीचोद्भ्रान्तहारीता मलयाद्रेरुपत्यका॥—रघु ४।४६

८. तस्य जातुमलमस्वच्छीरते मूर्धबन्धनकृत प्रियाम्लम्।
 आचचाम सलवंगकेसरश्चाटुकार इव दक्षिणानिल॥—कुमार ८।२५

९ दीर्घेष्वमी नियमिता पटमण्डपेषु निद्रा विहाय वनजाक्ष वनायुदेश्या।
 वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति पुरोगतानि लेह्यानि सैन्धवशिलाशकलानि वाहा॥
 —रघु ५।७३

के नयनों को विभ्रम सिखा देने में दक्ष है[1]—ऐसा उनका कहना है। मद के कारण उनकी आँखें घमने लगती थी वाणी की गति स्खलित होने लगती थी।

नयनान्यरुणानि घूर्णयन्वचनानि स्खलयन्पदे पदे।
असति त्वयि वारुणीमदः प्रमदानामधुना विडम्बना ॥—कुमार ४।१२

मधु प्रभाव-जन्य असहज सौन्दर्य से विभूषित युवतियों के मुख को कामीजन पहले आँख से ही देर तक पीते थे[2]। मधु-जन्य विक्रिया केवल मनचले रसिकों को ही नहीं सज्जनों के लिए भी सुखद होती थी। मधुपान से रमणीयता बढ़ जाती है ऐसा उस समय का विश्वास था[3]। कालिदास ने मधुपान से बढ़ी रमणीयता को आम्रता का सहकारता में परिणत हो जाना माना है[4]।

स्त्रियाँ अपने मुख को सुवासित करने के लिए मधुपान करती थी[5]। इससे उनके मुख से ताज मौलसिरी के फूल-सी सुगंधि आती थी[6]। अपने एक श्लोक में कालिदास ने मधु की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कर दिया है। चितवन आदि मधुर-विलास में दक्ष एवं सहायक बकुल की सुगन्ध को भी पराजित करनेवाले काम के मित्र (काम को उकसानेवाला) मधु को स्त्रियों ने इतनी मात्रा में पीया जिससे पति-प्रेम के रस में किसी प्रकार की बाधा न पड़े।

---

१ वासश्चित्रं मधुनयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं
पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पम्।
लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्या-
मेकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः ॥—उत्तरमेघ १२
—मन्मथोऽपरमपि च मधुनो विभ्रमनिरतम्—उत्तरमेघ १७
२ घूर्णमाननयनं स्खलत्कथं स्वेदबिन्दुमदकारणस्मितम्।
आननेन न तु तावदीश्वरश्चक्षुषा चिरमुमामुखं पपौ ॥—कुमार० ८।८
३ देखिए, पादटिप्पणी नं ४ और पिछले पृ की पादटिप्पणी नं ६।
४ तावतो वपुषयोगसम्भवा विक्रियामपि सतां मनोहराम्।
अप्रतर्क्यविधियोगनिर्मिताम्रतेव सहकारतां ययौ ॥—कुमार ८।७८
५ पुन्नागवासोत्सुगन्धिवक्त्रो निश्वासवातैः सुरभीकृतांग .... —ऋतु ५।१२
—सुवासितं हर्म्यतलं मनोहरं प्रियामुखोच्छ्वासविकम्पितं मधु।—ऋतु० १।३
—सुगन्धिनिःश्वास विकम्पितोत्पलं मनोहरं कामरतिप्रबोधकं।
निशासु हृष्टा सह का[illegible] ....   —ऋतु ६।१
६ [illegible] ते मुखं [illegible] स्वमावत।
[illegible] ...... ॥—कुमार ८।७१
७ [illegible] रघु १।१६

रति-प्रसंग में ग्रीष्म ऋतु में प्रायः पुराने सराब जिसको कवि पुराण सीधु कहता है, पी जाती थी। यह सहकार की मंजरी के टुकड़े और ताजे पाटल के फूल से सुवासित रहती थी। नारियों मे पुष्पासव[२] पी जाती थी। अतः स्पष्ट है कि मदिरा कई प्रकार की होती थी। वैसे कवि ने मदिरा के लिए मद्य[३] आसव[४] मधु[५] वारुणी[६] कादम्बरी[७] सीधु मदिरा[८] शब्दों का प्रयोग किया है। अवश्य ही इनमें इसकी तेज एवं रस और प्रकार आदि का अन्तर रहा होगा। कवि के ग्रन्थों में चार प्रकार विशेष आए हैं।

---

१ मनोज्ञगन्धं सहकारभंगं पुराणसीधुं नव पाटलं च।
संबध्नता कामिजनेषु दोषाः सर्वे निदाघावधिना प्रमृष्टाः ॥—रघु १६।५२
—यस्य कम्रसहकारमासवं रक्तपाटलसमागमं पपौ।
तेन तस्य मधुनिर्गमात्कृशश्चित्तयोनिरभवत्पुनर्नवः ॥—रघु १९।४६

२ पुष्पासवामोदसुगन्धिवक्त्रो निःश्वासवातैः सुरभीकृताङ्गः।
परस्पराङ्गव्यतिषङ्गशायी शेते जनः कामरसानुविद्धः ॥—ऋतु ४।१२
—गृहीततांबूलविलेपनस्रजः पुष्पासवामोदितवक्त्रपङ्कजाः। —ऋतु ५।५

३ निशासु हृष्टा सह कामिभिः स्त्रियः पिबन्ति मद्यं मदनीयमुत्तमम्।
—ऋतु ५।१

४ ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचितापानभूमयः।
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः ॥ —रघु ४।४२
—तामिरभ्युपहृतं मुखासवं सोऽपिबद्बकुलतुल्यदोहदः। —रघु १९।१२
—पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं किंपुरुषश्चुचुम्ब। —कुमार ३।३८
—अथ विरोपितपल्लवमुपनीतं प्रियकरेणुहस्तेन अभिलषतु
तावदासवसुरभिरसं पल्लवमिभपम् ॥—विक्रम ४।४४

५ मदिरासि मदानमर्पितं मधु पीत्वा रसवत्कथं नु मे।
अनुपास्यसि बाष्पदूषितं परलोकोपनतं जलाञ्जलिम् ॥—रघु ८।६८
—विनयन्ते स्म तद्योधा मधुभिर्विजयश्रमम्।
आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु ॥—रघु ४।६५

६ नयनान्यरुणानि घूर्णयन्वचनानि स्खलयन्पदे पदे।
असति त्वयि वारुणीमदः प्रमदानामधुना विडम्बना ॥—कुमार ४।१२

७ देखिए, पादटिप्पणी नं ७ पृ १६२। ८ देखिए, पादटिप्पणी नं १

९ देखिए, पादटिप्पणी नं ५, मदिरा —उत्पक्ष्मया मम सखी मदिरेक्षणाया तस्याः समागतमिवाननमाननेन। —विक्रम २।११ —मधुकरमदिरास्या वंश तस्याः प्रवृत्ति........—विक्रम ४।४२

(ब) नारिकेलासव[1]—यह नारियल से बनाई जाती होगी। इसी कारण इसका नाम नारिकेलासव पड़ा।

(च) फूलों के पराग से बनी मदिरा जिसको पुष्पासव[2] की संज्ञा दी गई है।

(छ) अंगूर की बनी शराब[3]।

(ज) सीधु[4]—मल्लिनाथ की टीका के अनुसार यह गन्ने से बनाई जाती थी। सहकार की मंजरी के टुकड़े और लाल पाटल के फूलों से यह सुवासित रहती थी[5]। प्रधानतः उच्च कुल के मनुष्य सुवासित मदिरा का प्रयोग किया करते थे।

मदिरा से उन्मत्त मनुष्य को और भी उन्मत्त करने वाली वस्तु मत्स्यण्डिका थी[6]।

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल 'रति-फल'[7] को मदिरा का पर्यायवाची शब्द मानते हैं तथा उनके मतानुसार कादम्बरी[8] जिसका उल्लेख अभिज्ञानशाकुन्तलम् में किया गया है, एक विशेष प्रकार की मदिरा है[9]।

---

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ४।

२ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं २—ऋतु ५।१२ ऋतु ६।५ —नं ४ कुमार ३।३८

३ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ५,—रघु ४।६५

४ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं १

५. 'सीधु गन्नेक्षुरसप्रकृतिक सुराविशेष' —टीका मल्लिनाथ —रघु १६।५२

६ वयस्य पर्युत्सुकु सीधुपानोद्वेजितस्य मत्स्यण्डिकोपनता।—माल अंक ३ पृ २६६

७ आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं।—उत्तरमेघ ५

८. पूर्व उल्लेख।—अभि अंक ६ पृ ११

९. On page 197 In the names of wines known to kalidasa 'Rati-phal' (Megh Duta II) is left out. Similarly Kadambari mentioned in Shakuntala was not a phrase for wine but a particular kind of wine.

—Book Reviews (India in Kalidasa) by V S. Agarwala. Taken from the Journal of the U. P Historical Society Vol XXII, 1949

कालिदास की सौन्दर्य-प्रतिष्ठा

स्त्री-सौन्दर्य—कवि के अनुसार सौन्दर्य वही है जिससे नित्यप्रति आनन्द मिले। इसके साथ-ही-साथ इसकी प्रतिष्ठा और सार्थकता पति द्वारा प्रशंसा और उसके प्रेम को प्राप्त करना है[1]। कवि सच्चे सौन्दर्य के[2] लिए किसी उपकरण की आवश्यकता नहीं समझता। कमल सेवार से घिरा होने पर भी सुन्दर लगता है, चन्द्रमा का कलंक भी उसकी शोभा को बढ़ाता ही है। रूप में पवित्रता कवि का उद्देश्य प्रतिभासित होता है। वे इसकी तुलना बिना सूँघे हुए फूल, नखों से अछूते पल्लव, बिना बिंधे हुए रत्न, बिना चखा हुआ नवीन मधु और बिना भोगे हुए पुण्य के फल से करते हैं[3]।

कदाचित् कवि को सुकुमारता प्रिय है, क्योंकि उनकी चित्तवृत्ति जितनी नारी-सौन्दर्य-वर्णन में रमी उतनी पुरुष-सौन्दर्य में नहीं। पुरुष-सौन्दर्य में कठोरता और वीरता ही उभर मिलती है परन्तु लावण्य, कमनीयता, सलोनापन स्त्री-सौन्दर्य का प्रतीक है। स्त्री के एक-एक अंग में उन्होंने लावण्य और सुकुमारता के दर्शन किए। प्रतीत होता है उन्होंने स्त्री के शारीरिक-सौन्दर्य को देखा और खूब देखा। सौन्दर्य की चरमप्रतिष्ठा को दो-चार पंक्तियों में कहना वे अच्छी तरह जानते थे। यक्ष की पत्नी के सौन्दर्य को वे एक ही श्लोक में व्यक्त कर सौन्दर्य का आदर्श प्रस्तुत कर देते हैं।

> तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
> मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
> श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
> या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥[4]

---

१ निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।—कुमार ५।१

२ सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥
—अभि १।१९

—यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहैर्जटाभिरप्येवमभूत्तदाननम्।
न षट्पदश्रेणिभिरेव पङ्कजं सशैवलासंगमपि प्रकाशते॥—कुमार ५।९

३ अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥—अभि २।११

४ उत्तरमेघ १२

अनन्य सुन्दरी उर्वशी कवि के शब्दों में—

> सुरसुन्दरी जघनभरालसा पीनोत्तु जघनस्तनी
> स्थिरयौवना तनुशरीरा हंसगति ।
> गगनोज्ज्वलकानने मृगलोचना भ्रमन्ती
> दृष्टा त्वया तहिँ विरहसमुद्रान्तरादुत्तारय माम् ॥[1]

इसी प्रकार उनकी मालविका भी सौन्दर्य का आदर्श है—

> दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्ति वदनं बाहू नतावंसयो
> संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्ट इव ।
> मध्य पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालांगुली
> छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसि श्लिष्टं तथास्या वपु ॥[2]

ऋतुसंहार की नायिकाएँ भी ऐसी ही सुन्दरी हैं। 'गुरुनितम्ब निम्ननाभि सुमध्या कनककमलकान्ति चारुताम्राधरोष्ठ श्रवणतटनिषक्त पाटलोपान्तनेत्र अंससंसक्तकेश वदनबिम्ब पृथुजघनभरार्त किंचिदानम्रमध्या स्तनभरपरिखेदात् मन्दमन्दं व्रजन्त्य ..[3]

सौन्दर्य के उसी आदर्श को वे बार-बार कहते हैं—

> नेत्रेषु लोलो मदिरालसेषु गण्डेषु पाण्डु कठिन स्तनेषु ।
> मध्येषु निम्नो जघनेषु पीन स्त्रीणामनंगो बहुधा स्थितोऽद्य ॥[4]

कवि कृत्रिमाभरणपुष्ठित सौन्दर्य की अपेक्षा नैसर्गिक सौन्दर्य को ही श्रेष्ठ एवं उत्तम समझता है। शकुन्तला का लावण्य जितना दुष्यन्त को प्रभावित कर सका उतना किसी और रानी का नहीं। शकुन्तला के अंग प्रकृति के तत्त्वों के समान हैं। उसके अधर किसलयवत्, कोमल विटप का अनुकरण करने वाली बाहु अंगों में सन्नद्ध यौवन कुसुमवत् लोभनीय है[5]। केसर के वृक्ष के निकट खड़ी हुई वह लता के सदृश प्रतीत होती है[6]। यह विशेषता निसर्ग-कन्या शकुन्तला की ही नहीं है पार्वती भी अपनी विलास-चेष्टाओं को तन्वी लताओं के पास और विलोलदृष्टि हरिणांगनाओं के पास धरोहर के रूप में रख देती है[7]। यथा

---

१ विक्रम ४।२२ २ माल २।३

३ ऋतुसंहार ६।१२ ११ १४ ४ ऋतुसंहार, ६।१२

५. अधर किसलयराग कोमल विटपानुकारिणौ बाहू ।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमंगेषु संनद्धम् ॥—अभि १।२

६ लता सनाथ इवायं केसरवृक्षक प्रतिभाति ।—अभि अंक १ पृ० ११

७ लतासु तन्वीषु विलासचेष्टितं विलोलदृष्टं हरिणांगनासु च ।—कुमार ५।१३

अपनी प्रियतमा के अंगों के सौन्दर्य को प्रकृति में देखने की चेष्टा करता है। प्रियंगु की लता में शरीर, डरी हुई हिरणी की आँखों में चितवन, चन्द्रमा में मुख, मोर के पंखों में केश, नदी-वीचियों में भ्रूविलास की झलक देखकर उसे विरह में कुछ शान्ति मिलती है[1]।

वर्ण—शारीरिक सौन्दर्य में सबसे प्रथम वर्ण आता है। कवि स्त्रियों के सम्बन्ध में गोरे रंग[2] का ही वर्णन करता है[3]। इन्दुमती गोरोचन के समान गौरवर्ण की वर्णित है। इन्दु के समान कान्ति स्त्री-वर्ग की विशेषता है[4]। पुरुष के लिए वर्ण की कोई कैद नहीं। स्वयंवर के समय पाण्ड्य देश के राजा नीलकमल के समान साँवले कहे गए हैं[5]। राजा रामचन्द्र जी भी साँवले थे। परन्तु उनके सौन्दर्य के सम्मुख सब कुछ तुच्छ था। कवि के अनुसार तो पुरुष का सारा सौन्दर्य वीरता का प्रतीक था। अतः अंग-अंग में वीरता और कठोरता का व्यक्तीकरण है। इस प्रसंग में एक बात बहुत महत्त्वपूर्ण है। कवि गौर शरीर-यष्टि वाली कन्या को साँवले वर्ण वाले पुरुष के साथ विवाह करने का महत्त्व देता है। घन के साथ बिजली की जो छवि है वही इस प्रकार की युवती की छटा भी प्रस्फुटित होती है[6]।

शरीरयष्टि—युवावस्था में शरीरयष्टि में अनुपम लावण्य स्वतः ही आ जाता है। मदिरा के अभाव में भी अद्भुत मस्ती आ जाती है। इसी कारण स्थिरयौवना[7] उर्वशी का प्रभाव पुरूरवा पर इतना अधिक था। बाल्यावस्था के

---

१ श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ॥—उत्तरमेघ ४६
—कनककमलकान्ति ..... —ऋतु ६।१२

२ कनककमलकान्ति .... —ऋतु ६।१२

३ त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः —रघुवंश ६।६५ नितान्तगौरे —कुमार ७।१७

४ इन्दुप्रभा—रघुवंश ६।७ शशिबिम्बकान्तिवदनं—माल २।३
—'कनककमलकान्ति' भी गौरवर्ण का प्रतीक है—ऋतु ३।११

५. इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽसौ—रघुवंश ६।६५

६ इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः।
अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु ॥ —रघु ६।६५

७ सुरसुन्दरी जघनभरालसा पीनोत्तुङ्गघनस्तनी
स्थिरयौवना तनुशरीरा हंसगतिः ।—विक्रम ४।६६

व्यतीत हो जाने पर पार्वती की शरीरयष्टि बिना किसी मदिरा के शरीर को मतवाला बना देने वाले यौवन के प्रवेश मात्र से उसी प्रकार खिल उठा जैसे तूलिका से उन्मीलित चित्र अथवा सूर्य की किरणों से कमल[1]।

सौन्दर्य के दृष्टिकोण से शरीरयष्टि लता के सदृश लहराती हुई उत्तम मानी जाती है। अतः तनु शरीरा कवि की नायिकाओं की विशेषता है[2]। 'सन्नतांगि' और 'सन्नतगात्रि' शब्दों से ऐसा आभासित होता है कि शरीरयष्टि का कुछ झुका हुआ रहना श्रेष्ठ माना जाता है[3]। वैसे भी लज्जीली प्रकृति की होने के कारण युवतियाँ बहुधा झुकी हुई-सी ही रहती हैं[4]।

शारीरिक अंगों में कवि की दृष्टि हर स्थान पर पहुँची है। उसकी सूक्ष्म दृष्टि से कोई अंग भी अछूता नहीं रह सका। नखशिख वर्णन में कवि की समता में अन्य कोई ठहर ही नहीं पाता।

केश—लम्बे घने घुँघराले एवं काले बाल सौन्दर्य की चरम प्रतिष्ठा हैं। पार्वती के केश इतने सुन्दर थे कि यदि पशुओं में भी मनुष्यों के समान लज्जा होती तो चमरी अपने बालों पर इतराना भूल जाती[5]। केश के यथार्थ सौन्दर्य से

---

१ असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य ।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साथ वयः प्रपेदे ॥—कुमार १।३१
—उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम् ।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥
—कुमार १।३२

२ तन्वी श्यामा शिखरिदशना —उत्तरमेघ २२
—तनुशरीरा —विक्रम ४।१९

३ संनतांगी—सा राजहंसैरिव संनतांगी गतेषु लीलाञ्चितविक्रमेषु ।
—कुमार १।३४
संनतगात्रि—अत सता संनतगात्रि संगतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते ।
—कुमार ५।३९
अवनतांगि—अद्यप्रभृत्यवनतांगि तवास्मि दासः —कुमार ५।८६

४ चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ ।—रघु ७।२५
—प्राचीनतया —रघु ६।८१

५. लज्जा तिरश्चां यदि चेतसि स्यादसंशयं पर्वतराजपुत्र्याः ।
तं केशपाशं प्रसमीक्ष्य कुर्युर्बालप्रियत्वं शिथिलं चमर्यः ॥—कुमार १।४८

मयूर के प्रसारित पंख अधिक सादृश्य रखते हैं। वियोगावस्था में इसी शिखीबर्हभार को देखकर उसे (यक्ष को) अपनी पत्नी के केशों का अनायास स्मरण हो जाता है[1]।

नितम्ब तक लटके हुए बाल वाली युवती सुन्दरी मानी जाती है[2]। बाल लम्बे होने पर भी यदि सीधे हों तो सौन्दर्य में वृद्धि नहीं होती। इसी कारण कवि कहीं अराल-केश कहीं कुटिल-केश कहीं विकुञ्चिताग्रान् आदि शब्दों का प्रयोग करता है[3]। पार्वती इन्दुमती इरावती आदि सभी के अराल-केश थे।

घुँघराली के साथ-ही-साथ घनी एवं काली लटें भी केश-सौन्दर्य को अभिवृद्धि कर देती हैं। नितान्त घन नील कवि का प्रिय उपमान है[4]।

भ्रू—सबसे लहर ही भ्रू का उपमान माना है। अतः कहा जा सकता है कि लहर के समान अराल अथवा कुछ वक्र भ्रू ही सुन्दर मानी जाती थी[5]। लहरों के अतिरिक्त भ्रू की उपमा धनुष से भी दी गई। कामदेव के धनुष को भी परास्त करने वाली लम्बी तथा मनोहर भ्रू ही सौन्दर्य की पराकाष्ठा का प्रतीक थी। यक्ष की पत्नी नदीवीचि के समान भ्रूयुक्ता थी और पार्वती की लम्बी और मनोहर भ्रू ऐसी प्रतीत होती थी मानो किसी ने तूलिका लेकर बना दी हो। यही नहीं कामदेव के धनुष की सुषमा भी उसके सम्मुख फीकी पड़ गई थी[6]। अतः धनुष के

---

१ श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्। —उत्तरमेघ ४१

२ शिरोरुहैः श्रोणितटावलम्बिभिः
स्त्रियः रतिं संजनयन्ति कामिनाम्—ऋतु २।१८

३ अरालकेशा—रोमाञ्चलक्ष्येण स गात्रयष्टिं भित्त्वा निराक्रामदरालकेश्याः।—रघु ८१
—कुटिलकेश—रक्तपीतकपिशाः पयोमुचां कोटयः कुटिलकेशि भान्त्यमूः।
—कुमार ८।४५
—अपराधिनि मयि दण्डं संहरसि किमुद्यतं कुटिलकेशि।—माल० ३।२२

४ नितान्तनीलान्तघनीकृताङ्कुञ्चिताग्रानापूरयन्ति वनिता नवमालतीभिः।
—ऋतु ३।१९
—नितम्बबिम्बपरिमुक्तमनोज्ञबन्धं मूर्ध्नोऽवसीय घननीलशिरोरुहान्ता।
—ऋतु ४।१९

५. आवर्तशोभा नतनाभिकान्तेर्भङ्गो भ्रुवां द्वन्द्वचरास्तनानाम्। रघु १६।६३
—पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्।—उत्तरमेघ ४१
—भ्रूविभ्रमाश्च चटुलास्तनुमिस्तरङ्गैः।—ऋतु ३।१७

६ तस्याः शलाकाञ्जननिर्मितेव कान्तिर्भ्रुवोरायतलेखयोर्या।
तां वीक्ष्य लीलाचतुरामनङ्गः स्वचापसौन्दर्यमदं मुमोच॥—कुमार १।४७

समान भ्रू नहीं अपितु भ्रू के सदृश उसका अनुप था[1]। निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है कि बंकिम भ्रू में ही अपार सौन्दर्य निहित था। वक्रता के अतिरिक्त स्यायत् (अर्थात् तनु) होना तथा भौंरों की भी श्यामलता को चुरा लेना सुन्दर भ्रू की विशेषता थी[2]। संक्षिप्त रूप में कहा जा सकता है कि लम्बी पतली काली तथा कुछ वक्र भ्रू अनुपम लावण्य का आधार मानी जाती थी।

नेत्र—आकार में बड़ी-बड़ी तथा अति आयत यदि अपाङ्गतट-निपतत भी हो ऐसी आँखें कवि को प्रिय हैं। उनकी उर्वशी के अपांग दीर्घ एवं श्वेत हैं यह आयताक्षि है[3] मालविका के नेत्र आयायत और दीर्घ हैं[4] ऋतुसंहार की कामिनियों के नेत्र अपाङ्गतट-निपतत तथा उपान्त-लोहित हैं[5]। पार्वती के नेत्र भी दीर्घ हैं। आकार में कमल के समान खिले हुए हैं। यह कमल का उपमान अन्य स्थानों पर भी देखा जाता है। उत्पलाक्षि कवि का प्रिय सम्बोधन है[6]।

---

१ अथ स ललितयोषिद्भ्रूलताचारुशृङ्गं रतिवलयपदाङ्के चापमासज्य कंठे।
—कुमार २।६४

२ तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां
पक्ष्मोत्क्षेपादुपरि विलसत्कृष्णसारप्रभाणाम्।—पूर्वमेघ ५१
—भ्रूलता—अथ स योषिद्भ्रूलताचारुशृङ्ग........—कुमार २।६४
—विकुञ्चितभ्रूलतमाहिते तया विलोचने —कुमार ५। ७४
—उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्या पदानि रचयन्त्या।—अभि ३।१३

३ दीर्घापाङ्गा सितापाङ्गा दृष्टा दृष्टिक्षमा भवेत्।—विक्रम ४।२१
—यदिदं रथसंक्षोभादंगेनांगं ममायतेक्षणया स्पृष्ट— —विक्रम १।११
—उरोजयुग्मीकम चक्षुरायतं निघातयामे मक्खीव पङ्कजम्।—विक्रम १।५
—प्रियमाचरितं लते त्वया मे गमनेऽस्या आननविभ्रमाचरन्त्या
यदियं पुनरप्यपाङ्गनेत्रा परिवृत्तार्धमुखी मया हि दृष्टा।—विक्रम १।१८

४ आयतार्धं नयनयोमम जीवितमेतदायाति।—माल ३।७
—कमे दीर्घाक्षि मे प्राणास्ते त्वदाधानिबन्धना।—माल ४।१४

५. अपाङ्गतटनिपतने पाटलोपान्तनेत्रे।—ऋतु ५।१३

६ दीर्घनयने—कुमार ८।५५, उत्पलाक्षि—य उत्पलाक्षिप्रचलैर्विलोचनैस्तवाक्षि सादृश्यमिव प्रयुज्यते।—कुमार ५।३५, अम्भोजमुखीकपुष्पकान्त्या —कुमार १।४ तस्या मुखातोत्पलपत्रकान्ते प्रसाधिकाभिर्नयने निरीक्ष्य। —कुमार ७।२ मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यति।—उत्तरमेघ ३७ पुष्पमीनोत्पलाक्षि—ऋतु ३।२८ नीलोत्पलैर्मदकलानि विलोचनानि—ऋतु ३।१७। विलोचनेन्दीवरवारिबिन्दुभिर्निषिक्तबिम्बाधरचारुपल्लवा।
—ऋतु २।१२

विस्तृत आकार में नेत्र तभी सुहावने हो सकते हैं जब उनमें कोई भाव भी हो। अतः कवि नेत्र के साथ चितवन प्रत्येक स्थान में लेता है। चितवन की दृष्टि से सरलता, भोलापन तथा हल्का-सा आलस्य कवि को अभिप्रेत है। यह असंभव न होगा कि यह गुण मृगों में अत्यधिक पाये जाते हैं। अतः कवि ने मृग उपमान का कमल से कहीं अधिक प्रयोग किया है। राजा दिलीप जब सुदक्षिणा को लेकर वन जाते हैं तब हरिणों की सरल चितवन को वे सुदक्षिणा के नेत्रों के समान समझते हैं[1]। पार्वती के नेत्र आकार में कमलवत् थे परन्तु चितवन चंचल मृग की-सी थी[2]। उनकी चितवन को देख कर कवि को यह भ्रम हो जाता है कि हरिण ने उसके नेत्रों का गुण लिया है या पार्वती ने हरिण के नेत्रों का[3]। यही नहीं तपस्या करते समय वे हरिण के नेत्रों से अपनी आँखें नापा करती थीं[4]। उन्होंने जिस प्रकार अपनी विलास चेष्टाओं को लताओं के पास धरोहर के रूप में रख दिया था उसी प्रकार अपनी विलोल दृष्टि हरिणांगनाओं के पास[5]। यक्ष की पत्नी के नेत्र चकित हरिणी के सदृश थे। अथवा वियोगावस्था में यक्ष को अपनी पत्नी के नेत्र इतने अधिक सुन्दर लगते हैं कि चकित हरिणी के नेत्र भी उस सौन्दर्य के सम्मुख फीके लगते हैं[6]। इन्दुमती की मृत्यु के पश्चात् अज को ऐसा लगता है कि उसने पति के मन को बहलाने के लिए अपनी मीठी बोली कोयलों को, चाल हंसिनियों को और चंचल-चितवन हरिणियों

---

१ परस्पराक्षिसादृश्यमदूरोज्झितवर्त्मसु ।
मृगद्वन्द्वेषु पश्यन्तौ स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु ॥—रघु १।४

२ अपि प्रसन्नं हरिणेषु ते मनः ... ..
यः उत्पलाक्षि प्रचलैर्विलोचनैस्तवाक्षिसादृश्यमिव प्रयुञ्जते । —कुमार ५।१५

३ प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या ।
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः ।—कुमार १।४६

४ अरण्यबीजाञ्जलिदानलालितास्तथा च तस्यां हरिणा विशश्वसुः ।
यथा तदीयैर्नयनैः कुतूहलात्पुरः सखीनाममिमीत लोचने ॥ —कुमार ५।१५

५ पुनर्ग्रहीतुं नियमस्थया तया द्वयेऽपि निक्षेप इवार्पितं द्वयम् ।
लतासु तन्वीषु विलासचेष्टितं विलोलदृष्टं हरिणाङ्गनासु च ॥—कुमार ५।१३

६ चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः —उत्तरमेघ २१
—श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् । ....
हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ॥ —उत्तरमेघ ४६

को दे दी थी[1]। राजा दशरथ मृग पर बाण चलाने ही वाले थे परन्तु उनके नेत्रों को देखकर उन्हें अपनी प्रियतमा के नेत्र स्मरण हो आए, अतः उनके हाथ ढीले पड़ गए। उन्होंने बाण चलाने के विचार को अपने हृदय से निकाल दिया[2]। स्त्रियों को यह भोली चितवन मृग ही सिखाते हैं[3]। कालिदास की सभी नायिकाएँ अनन्य-सुन्दरी और मृगनयनी हैं। शकुन्तला और मालविका दोनों ही सारंगाक्षी थीं[4]। यक्षपत्नी मृगाक्षी[5] उर्वशी मृगलोचनी[6] ऋतुसंहार की कामिनियाँ 'हरिणशावाक्ष्य' थीं[7]।

जिस प्रकार मृग का भोलापन कुछ चञ्चलता और कुछ आश्चर्य का भाव नेत्रों की सुषमा की वृद्धि करता है, उसी प्रकार चकोर की मस्ती भी नयनों को सुभावना बना देने में समर्थ है, परन्तु इतना फिर भी कहा जा सकता है कि मृग का सौन्दर्य इसमें नहीं है और भोलापन तथा आश्चर्यमिश्रित चपलता इसकी तुलना में कहीं अधिक सलोनी है। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि जहाँ कवि

---

१ कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम्।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः॥ —रघु ८।५९
—त्रिदिवोत्सुकयाप्यवेक्ष्य मां निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया।
विरहे तव मे गुरुव्यथं हृदयं न त्ववलम्बितुं क्षमाः॥ —रघु ८।६

२ तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोः कर्णान्तमेत्य बिभिदे निबिडोऽपि मुष्टिः।
त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरतः सुनेत्रैः प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि॥ —रघु ९।५८

३ न नमयितुमधिज्यमस्मि शक्तो धनुरिदमाहितसायकं मृगेषु।
सहवसतिमुपेत्य यैः प्रियायाः कृत इव मुग्धविलोकितोपदेशः॥ —अभि २।३

४ प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम्
अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं सम्प्रति विबुद्धम्॥ —अभि ६।७
—तथा सारंगाक्ष्या त्वमसि न कदाचिद्विरहितं
प्रसक्ते निर्वाणे हृदय परितापं व्रजसि किम्। —माल ३।१

५ त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के मृगाक्ष्या
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति। —उत्तरमेघ ३७

६ मयाप्तार्त मृगलोचना निशाचर कोऽपि
हरति यावन्नु नव तडिल्लतामसौ धाराधरो वर्षति। —विक्रम ४।८

७ वनेऽस्ममाना हरिणशावाक्ष्यः प्रलोभयन्तीव मनोरथानि। —ऋतु ४।१

असंख्य बार 'सारंगाक्षि' और 'मृगाक्षि' शब्द का प्रयोग करता है, वहाँ चकोर के समान नेत्र दो ही स्थानों पर वर्णित हैं[1]।

परन्तु स्त्री के मदभरे नेत्र देखकर ही पुरुष अपनी सुध-बुध बिसार देता है। मदिरा से मतवाले नेत्र बड़े ही सुहावने लगते हैं[2]। कवि को जितना 'मृगाक्षि' शब्द प्रिय है, उतना ही 'मदिराक्षि' शब्द भी। इसी शब्द को उसने कई स्थानों पर थोड़ा-बहुत रूपान्तर कर प्रस्तुत किया है[3]। उनकी इन्दुमती शकुन्तला उर्वशी सभी के नेत्र मदभरे थे जो पति की वियोगाग्नि को उद्दीप्त ही अधिक कर रहे थे।

बरौनियाँ—बड़ी-बड़ी बरौनियाँ सौन्दर्य की प्रतिष्ठा हैं। शकुन्तला के न केवल नेत्र ही दीर्घ थे अपितु बरौनियाँ भी बड़ी-बड़ी थीं[4]।

अधर—कवि के मतानुसार नाक नीचे और ऊपर का ओठ केवल एक रेखा के द्वारा निचले ओष्ठ से विभक्त सौन्दर्य का लक्षण है[5]। इसकी लाली

---

१ त्वमचकोराक्षि विलोकयेति पूर्वानुशिष्टां निजगाद भोज्याम्।—रघु ६।६६
—चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ।—रघु ७।२५

२ पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं किंपुरुषश्चुचुम्बे।—कुमार ३।३८

३ मदिराक्षि मदाननार्पितं मधु पीत्वा रसवत्कथं नु मे।
अनुपास्यसि बाष्पदूषितं परलोकोपनतं जलाञ्जलिम्॥—रघु ८।६८
—अयमेव मदिरेक्षणवल्लभाभिराहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः।
—अभि १।२५
—अनिशमपि मकरकेतुर्मनसो रुजमावहन्नभिमतो मे
यदि मदिरायतनयनां तामधिकृत्य प्रहरतीति।—अभि ३।४
—उत्सवमस्मा मम सखे मदिरेक्षणाया तस्याः समागतमिवाननमाननेन।
—विक्रम २।११
—मधुकर मदिराक्ष्याः शंस तस्याः प्रवृत्तिं वरतनुरथवासौ नैव दृष्टा त्वया मे।
—विक्रम ४।४२

४ उत्पक्ष्मणोर्नयनयोरुपरुद्धवृत्तिं बाष्पं कुरु स्थिरतया विहतानुबन्धम्।
—अभि ४।१५

५ रेखाविभक्तः सुविभक्तगात्र्याः किंचिन्मधूच्छिष्टविमृष्टरागः।
कामप्यभिख्यां स्फुरितैरपुष्यदासन्नलावण्यफलोऽधरोष्ठः॥
—कुमार ७।१८

कहीं विद्रुम[1] कहीं बिम्बाफल[2] अथवा प्रवाल[3] के समान वर्णित हैं। मदन की पत्नी के अधर पके बिम्बाफल के समान हैं। पार्वती और मालविका दोनों ही की बिम्बाफलवत् अधरकान्ति ने महादेव और अग्निमित्र को अतिशय प्रभावित किया। संयमी देवताओं के भी पूज्य शंकर जी की दृष्टि तपस्या के टूटने पर सबसे प्रथम पार्वती के अधर पर ही पड़ी। पल्लव के सदृश सुकुमार और बिम्बा के समान चारु अधर[4] वाली कामिनियाँ हर ऋतु में पुरुषों के धैर्य को विलुप्त कर देती हैं[5]। इसका सौन्दर्य मार्जन में ही है[6]। अतः इसकी कान्ति की उपमा रक्ताशोकवत्[7] और कहीं बन्धूक[8] के पुष्प के समान भी दी गई है। शरद् ऋतु में बन्धूक की कान्ति पुष्प को छोड़ कर स्त्री के अधरों में पहुँच जाती है।

---

१ पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥
—कुमार १।४४

२ सुरभिनिश्वासविवृद्धतृष्णं बिम्बाधरासन्नचरं द्विरेफम् ।
प्रतिक्षणं संभ्रमलोलदृष्टिर्लीलारविन्देन निवारयन्ती ॥ —कुमार० ३।५६
—हरस्तु किंचित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥
—कुमार ३।६७
—दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि नायकानां कुलव्रतं
तन्मे दीर्घाक्षि ये प्राणास्ते त्वदाशानिबन्धना ॥—माल० ४।१४
—तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा— – ।—उत्तरमेघ २२

३ देखिए, पादटिप्पणी नं० १

४ विलोचनेन्दीवरवारिबिन्दुभिर्निषिक्तबिम्बाधरचारुपल्लवाः —ऋतु २।१२

५ अधररुचिरशोभां बन्धुजीवे प्रियाणां पथिकजन इदानीं रोदिति भ्रान्तचित्तः ।
—ऋतु ३।२६

६ कनककमलकान्तैश्चारुताम्राधरोष्ठैः श्रवणतटनिषक्तैः पाटलोपान्तनेत्रैः ।
उषसि वदनबिम्बैरंससंसक्तकेशैः श्रिय इव गृहमध्ये संस्थिता योषितोऽद्य ॥
—ऋतु ३।२१

७ रक्ताशोकविकल्पिताधरमधुर्मत्तद्विरेफस्वन-
मदनप्रियं दिशतु वः पुष्पागमार्मंगलम् ॥—ऋतु ६।३६

८ बन्धूककान्तिमधरेषु मनोहरेषु क्वापि प्रयाति सुभगा शरदागमश्री ॥
—ऋतु ३।२०

प्रवासी पथिक तो बन्धुजीव के पुष्प देख कर अपनी पत्नी के अधरों को याद कर रो भी देते हैं।

दशन—परन्तु निर्जीव सौन्दर्य में कोई आनन्द नहीं। अधर कितने ही सुन्दर हों यदि उन पर मुस्कराहट न हो तो उनकी सुषमा व्यर्थ, नीरस एवं फीकी ही है। सुन्दर मुस्कराहट स्त्री में प्राण फूँक देती है, इसीलिए कवि 'शुचिस्मिते'[1] कह, निर्जीव सौन्दर्य को तिरस्कृत कर देता है। मुस्कराहट के समय हल्का-हल्का दाँतों का दीखना ही कवि को अभिप्रेत है। इस प्रकार के सौन्दर्य की विवेचना करता हुआ कवि उत्प्रेक्षा करता है कि वह इतनी सुन्दर लगती है जैसे मूँगे के बीच जड़ी मुक्ता अथवा लाल कोंपल में कोई श्वेत पुष्प[2]। 'शिखरिदशना'[3] शब्द से व्यक्त होता है कि छोटे-छोटे दाँत उस समय के सौन्दर्य का मापदण्ड थे। दाँतों की उपमा कुन्द की कली से भी दी गई है[4]। मुस्कान पर चमक उठने वाले यह कुन्द की कली के समान दाँत न केवल कवि को ही प्रिय हैं अपितु वसन्त ऋतु भी इनके सौन्दर्य को परास्त करने का प्रयास करता है[5]।

मुख-गन्ध—मदिरा से सुवासित मुख-सौन्दर्य में मद की सृष्टि करता है। स्वयं कवि को मदिरा-सुवासित मुख अति प्रिय है। अनेक स्थानों पर मुख की

---

१ शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा ।
विजित्य नेत्रप्रतिघातिनीं प्रभामनन्यदृष्टिः सवितारमैक्षत ॥
—कुमार ५।२

—ध्रुवमस्मि शठः शुचिस्मिते विदितः कैतववत्सलस्तव ।
परलोकमसंनिवृत्तये यदनापृच्छ्य गतासि मामितः ॥—रघु ८।४९

२ पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥
—कुमार १।४४

३ तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः ।—उत्तरमेघ २२

४ रक्ताशोकविकल्पिताधरमधुर्मत्तद्विरेफस्वनः
कुन्दापीडविशुद्धदन्तनिकरः प्रोत्फुल्लपद्माननः ।
चूताभोदसुगन्धिमन्दपवनः शृङ्गारदीक्षागुरुः
कल्पान्तं मदनप्रियो दिशतु वः पुष्पागमो मङ्गलम् ॥—ऋतु ६।१९

५ परभृतकलगीतैर्ह्लादिभिः सद्वचांसि स्मितदशनमयूखान्कुन्दपुष्पप्रभाभिः ।
करकिसलयकान्तिं पल्लवैर्विद्रुमाभैरुपहसति वसन्तः कामिनीनामिदानीम् ॥
—ऋतु ६।११

आसव गन्ध का उसने वर्णन किया है। अज को देखने के लिए मदिरा से सुवासित मुख वाली झरोखों से झाँकती हुई स्त्रियाँ ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानो झरोखों में कमल खिले हुए हों[1]। ग्रीष्म ऋतु में रसिकों को प्रिया के मुख के वाष्प से सुवासित मदिरा ही प्रिय लगती है। वर्षा ऋतु में मदिरा पीकर ही अपनी सुवासित सुगन्ध से प्रमदियों के मन में प्रेम उत्पन्न करती है[2]। हेमन्त ऋतु में पुष्पों के आसव से सुवासित मुख वाले स्त्री-पुरुष अपने सुगन्धित निश्वासों से एक-दूसरे के अंगों को सुरभित करके कामरस का अनुभव करते हुए शयन करते हैं[3]। शिशिर में ताम्बूल इत्र आदि का प्रयोग कर तथा पुष्पासव से मुख को सुगन्धित कर स्त्रियाँ शयन-गृह में पति के सम्मुख जाती हैं[4]।

किसी-किसी मे यह मुखोच्छ्वाससगन्ध नैसर्गिक भी होती है। उर्वशी का मुखोच्छ्वास कमल की सुगन्ध के समान मधुर एवं आह्लादजनक है। स्वयं भौंरा तक इसको अनुभव कर लेने के पश्चात् कमल को प्यार करना छोड़ देता—ऐसा पुरूरवा अनुभव करता है[5]। यक्ष की पत्नी की मुखोच्छ्वास धरती के समान सोंधी है। अर्थात् जिस प्रकार पानी पड़ने पर पृथ्वी में से सोंधी-सोंधी गन्ध आती है, वैसी ही उसके मुखोच्छ्वास में भी थी। इसी को याद करके यक्ष दिन प्रतिदिन दुर्बल होता चला जाता है[6]। पार्वती के श्वास से कमल के समान गन्ध निकला

---

१ तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम् ।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन् ॥—रघु ७।११

२ प्रियामुखोच्छ्वासविकम्पितं मधु सुतन्त्रिगीतं मदनस्य दीपनं
शुचौ निशीथेऽनुभवन्ति कामिनः ॥—ऋतु १।३

—मधुसुरभि स्त्रियः रतिं संजनयन्ति कामिनाम् ।—ऋतु २।१८

३ पुष्पासवामोदसुगन्धिवक्त्रो निश्वासवातैः सुरभीकृताङ्गः ।
परस्पराङ्गव्यतिषङ्गशायी शेते जनः कामशरानुविद्धः ॥—ऋतु ४।१२

४ गृहीततांबूलविलेपनस्रजः पुष्पासवामोदितवक्त्रपङ्कजाः ।
प्रकामकालागुरुधूपवासितं विशन्ति शय्यागृहमुत्सुकाः स्त्रियः ॥—ऋतु ५।५

५ यदि सुरभिमवाप्स्यस्तन्मुखोच्छ्वासगन्धं
तव रतिरभविष्यत्पुण्डरीके किमस्मिन् ।—विक्रम ४।४२

६ धारासिक्तस्थलसुरभिणस्त्वन्मुखस्यास्य बाले
दूरीभूतं प्रतनुमपि मां पंचबाणः क्षिणोति ।—उत्तरमेघ ४८

करती थी। अतः आकर्षित होकर भौरे उसके आस-पास ओठों के पास आते थे जिन्हें वे घबरा कर छोटे-छोटे कमलों से मार कर भगा देती थी[1]।

वाणी—जिस प्रकार चंचल आँखों की चितवन से रमणीयता में वृद्धि होती है उसी प्रकार कोयल के समान मीठी वाणी भी सबका हृदय आकर्षित कर लेती है। पार्वती की वाणी तो कोयल से भी मधुर थी यही नहीं उनकी मधुर वाणी के सम्मुख कोयल की मीठी बोली भी बिना मिले वीणा के तार के सदृश कर्णकटु प्रतीत होती है[2]। इन्दुमती की मृत्यु के पश्चात् उसकी मीठी बोली ही कोयल को मिल जाती है। ऐसा लगता है मानो अज का दिल बहलाने के लिए वह अपना गुण कोयल में छोड़ जाती है[3]। शूर्पणखा राम को रिझाने के लिए कोयल के समान मीठी वाणी का प्रयोग करती है परन्तु सीता के हास से जल कर कर्कश एवं कठोर हो जाती है, इसी से लक्ष्मण ताड़ लेते हैं कि यह स्त्री बड़ी खोटी है[4]।

मुख-बिम्ब—मुख प्रायः दो प्रकार का पाया जाता है। चन्द्रबिम्ब की तरह अथवा कमल की तरह कुछ लम्बा। कवि गोल मुख को अधिक प्रतिष्ठा देता है। उनकी इन्दुमती पूनो के चन्द्रमा के समान गोल मुख वाली थी[5]। उनकी पूर्व

---

१ सुगन्धिनिःश्वासविवृद्धतृष्णं बिम्बाधरासन्नचरं द्विरेफम् ।
प्रतिक्षणं संभ्रमलोलदृष्टिर्लीलारविन्देन निवारयन्ती ॥—कुमार ३।५६
—मुखेन सा पद्मसुगन्धिना निशि प्रवेपमानाधरपत्रशोभिना —
—कुमार ५।२७

२ स्वरेण तस्याममृतस्रुतेव प्रजल्पितायामभिजातवाचि ।
अप्यन्यपुष्टा प्रतिकूलशब्दा श्रोतुर्वितन्त्रीरिव ताड्यमाना ॥—कुमार १।४५

३ कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम् ।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः ॥—रघु ८।५९
—त्रिदिवोत्सुकयाप्यवेक्ष्य मां निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया ।
विरहे तव मे गुरुव्यथं हृदयं न त्ववलम्बितुं क्षमाः ॥
—रघु ८।६

४ स्वरेण प्रथमं भूत्वा कोकिलामनुवादिनी
शिवाघोरस्वना पश्चाद्बुबुधे विकृतेति ताम् ।—रघु १२।३९

५ अथाङ्गदाश्लिष्टभुजं भुजिष्या हेमाङ्गदं नाम कलिङ्गनाथम् ।
आसेदुषीं सादितशत्रुपक्षं बालामबालेन्दुमुखीं बभाषे ॥—रघु ६।५३

चन्द्रमा के समान मुखवाली अनन्य सुन्दरी थी[1]। पार्वती के मुख में चन्द्रमा और कमल दोनों के ही गुण पाये जाते हैं[2]। मालविका की मुख-कान्ति शरत्कालीन इन्दु के समान थी[3]। ऋतुसंहार की कामिनियाँ चन्द्रमा से भी अधिक सुन्दर मुखवाली हैं[4]। कमल भी मनस्थान मुख का उपमान बनकर आया है[5]।

बाहु—लताके सदृश लम्बी पतली तथा सुकुमार बाहुएँ सौन्दर्य का आधार समझी जाती थीं। गहना से सजी भुजलताएँ ऐसी प्रतीत होती थीं मानो फूलों के बोझ से झुकी हुई हरी बेलों की टहनियाँ। कभी कवि को ये बाहुएँ भूत भूषण बाहुकान्ति को हरती हुई भी आभासित होती हैं[6]। पार्वती की बाहुएँ सिरस के फूल से भी अधिक कोमल थीं इसलिए कामदेव ने महादेव जी के गले में पार्वती की भुजलताओं का फन्दा डाला था[7]।

---

१ न सुलभा सकलेन्दुमुखी च सा किमपि चेदमनङ्गविचेष्टितम् ।
अभिमुखीष्विव वाञ्छितसिद्धिषु व्रजति निर्वृतिमेकपदे मनः ॥
—विक्रम २।९

—वर्हिण त्वामित्यभ्यर्थये आचक्ष्वमेतत् अत्र वने
भ्रमता यदि त्वया दृष्टा सा मम कान्ता ।
निशामय मृगाङ्कसदृशवदना हंसगति अनेन
चिह्नेन आख्यास्यामि ते मया ॥—विक्रम ४।२

२ चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम् ।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोलो द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥
—कुमार १।४३

३ दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयोः .. —माल २।३

४ वदनैर्विजितचन्द्राः कान्ति-रस्यास्तस्य रचितकुसुमगन्धि प्रायशो यान्ति वेश्म ।
.. प्रबलमदनहेतोस्त्यक्तसङ्गीतरागाः ।—ऋतु ३।२१

५ विकचकमलवक्त्रा फुल्लनीलोत्पलाक्षी... —ऋतु ३।२८
—रक्ताशोकविकल्पिताधरमधुर्मत्तद्विरेफस्वनः ।
कुन्दापीडविशुद्धदन्तनिकरः प्रोत्फुल्लपद्माननः ॥—ऋतु ६।२९
—पुंडरीकमिव पूर्वदिङ्मुखं केतकैरिव रजोभिरावृतम् ।—कुमार ८।१८

६ श्यामालता कुसुमभारनतप्रवालाः स्त्रीणां हरन्ति धृतभूषणबाहुकान्तिम् ।
—ऋतु ३।१८

७ शिरीषपुष्पाधिक सौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्कः—कुमार १।४१

कमल के समान लाल सुकुमार और सुन्दर हथेलियाँ लावण्य का चिह्न समझी जाती थीं[1]। अथवा मूँगे जैसे लाल-लाल कोमल पल्लव अथवा कोंपल के समान सुकुमार हथेलियाँ बाहुलता के सौन्दर्य को बढ़ा देती थीं[2]।

पयोधर—यौवन का प्रवेश-द्वार है पयोधर। यौवन की वृद्धि के साथ इसकी भी वृद्धि होती है। पूर्ण यौवन में सौन्दर्य खिल उठता है और उन्नत विशाल एवं पीन स्तन ही सौन्दर्य में मद प्रवाहित करते हैं। कवि की सभी नायिकाएँ यौवनवती हैं अतः सभी के स्तन पुष्ट पीवर उन्नत पीन तथा विशाल हैं[3]।

आकृति में घड़े-जैसे पयोधर स्थान-स्थान पर वर्णित हैं[4]। कदाचित् इसीलिए कवि मण्डलाकार स्तन अथवा स्तनमण्डल का प्रयोग करता है[5]। गोलाई के

---

१ मामियमभ्युत्तिष्ठति देवी विनयादनुष्ठिता प्रियया
विस्तृतहस्तकमलया नरेन्द्रलक्ष्म्या वसुमतीव।—माल १।६

२ करकिसलयकान्तिं पल्लवैर्विद्रुमाभैः उपहसति वसन्तः कामिनीनामिदानीम्।
—ऋतु ६।११

३ एता गुरुश्रोणिपयोधरत्वादात्मानमुद्वोढुमशक्नुवत्यः।
गाढाङ्गदैर्बाहुभिरप्सु बालाः क्लेशोत्तरं रागवशात्प्लवन्ते॥—रघु १६।६
—तस्य निर्दयरतिश्रमालसाः कण्ठसूत्रमपदिश्य योषितः।
अध्यशेरत बृहद्भुजान्तरं पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम्॥—रघु १९।३२
—यौवनोन्नतविलासिनीस्तनक्षोभलोलकमलाश्च दीर्घिकाः।
गूढमोहनगृहास्तदम्बुभिः स व्यगाहत विगाढमन्मथः॥—रघु १९।९
—स्तनेषु तन्वंशुकमुन्नतस्तना निवेशयन्ति प्रमदाः सयौवनाः।—ऋतु १।७
—दधति वरकुचाग्रैरुन्नतैर्हारयष्टिं प्रतनुसितदुकूलान्यायतैः श्रोणिबिम्बैः।
—ऋतु २।२६
—विपुलं नितम्बदेशे मध्यं क्षामं समुन्नतं कुचयोः।—माल १।७
—मन्दारकुसुमदाम्ना गुरुरस्याः सूच्यते हृदयकम्पः।
मुहुरुच्छ्वसता मध्ये परिणाहवतोः पयोधरयोः॥—विक्रम १।७

४ स हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः।—रघु २।३६
—अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान्घटस्तनप्रस्रवणैर्व्यवर्धयत्।
—कुमार ५।१४

५ सचन्दनाम्बुव्यजनोद्भवानिलैः सहारयष्टिस्तनमण्डलार्पणैः
प्रबोध्यते सुप्त इवाद्य मन्मथः।—ऋतु १।८
—तन्वंशुकैः कुङ्कुमरागगौरैरलंक्रियन्ते स्तनमण्डलानि।—ऋतु ६।५

अतिरिक्त उसमें कड़ापन भी होना चाहिए। 'स्तनेषु कठिन' यौवन की विशेषता है[1]। विरह अथवा किसी अन्य सन्ताप से यह कठोरता विलीन हो जाती है,[2] पयोधरों में शिथिलता के साथ कुछ झुकाव भी प्रारम्भ हो जाता है।

चकवा-चकवी के जोड़े के समान[3] युगल स्तन जितने पीन एवं उन्नत होंगे उतने ही घने होते जायेंगे[4]। वे उभर कर एक-दूसरे से सटते चले जायेंगे। इस प्रकार उनके बीच का अन्तर अल्प-अतिअल्प होता चला जाएगा[5]। यही सौन्दर्य है। पार्वती के पयोधरों के बीच यह अन्तर इतना कम हो गया कि मृणाल का सूत भी नहीं समा सकता था[6]।

एक गुण और कवि ने एक-दो स्थानों पर परिलक्षित किया है—स्तनों के भार से कुछ आगे झुका रहना[7] अथवा स्तन-भार से चाल का धीमी होना[8]।

नाभि—पानी की भँवर के समान गहरी नाभि में कवि सौन्दर्य देखता है। इन्दुमती 'आवर्तमनोज्ञनाभि' युक्त थी। कुश की रानियों की नाभियाँ भी आवर्त

---

१ नेत्रेषु लोलो मदिरालसेषु गण्डेषु पाण्डुः कठिनः स्तनेषु। —ऋतु ६।१२

२ क्षामक्षामकपोलमाननमुरः काठिन्यमुक्तस्तनं
मध्यः क्लान्ततरः प्रकामविनतावंसौ छविः पाण्डुरा।—अभि ३।८

३ आवर्तशोभा नतनाभिकान्तेर्भङ्गो भ्रुवां द्वन्द्वचराः स्तनानाम्।
—रघु १६।६३

४ सुरसुन्दरी जघनभरालसा पीनोत्तुङ्गघनस्तनी स्थिरयौवना तनुशरीरा हंसगतिः।
—विक्रम ४।२१

५ अपि वनान्तरमल्पकुचान्तरा श्रयति पर्वतपर्वसु सन्नता।
इदमनङ्गपरिग्रहमंगना पृथुनितम्ब नितम्बवती तव॥—विक्रम ४।४१

६ अन्योन्यमुत्पीडयदुत्पलाक्ष्याः स्तनद्वयं पाण्डु तथा प्रवृद्धम्।
मध्ये यथा श्याममुखस्य तस्य मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम्॥—कुमार १।४

७ श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः।—उत्तरमेघ २२
—आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव॥
—कुमार ३।५४

८ न दुग्धमोपि पयोधरास्तौ भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्यः।—कुमार १।११
—पृथुजघनभरार्ता किञ्चिदानम्रमध्या स्तनभरपरिखेदान्मन्दमन्दं व्रजन्त्यः।
—ऋतु ५।१४

शोभा को प्राप्त थी। यक्ष-पत्नी भी सुन्दरता के इस लक्षण को धारण किए हुए थी[1]। आवर्तनाभि के समान निम्ननाभि का भी प्रयोग कवि ने किया है[2]। आकार में चाहे थोड़ा परिवर्तन हो पर तात्पर्य दोनों से ही गहरी का है।

नतनाभि के बीच पतली रोमराजि जो यौवन का सोपान है, सौन्दर्य के दृष्टिकोण से उत्तम मानी जाती है। पार्वती की यह रोमराजि कमर पर बँधी रशना के बीच में स्थित नीलम की कान्ति-लहर-सी जान पड़ती थी[3]। वर्षा की जल-फुहार से यह रोमराजि आनन्दित-सी होती है, अतः रोमाञ्च हो जाने से खड़ी हो जाती है[4]।

कटि—उन्नत पीन पयोधर के पश्चात् कवि की दृष्टि कटि प्रदेश की ओर विशेष रूप से मुड़ जाती है। पयोधर जितने उन्नत, गुरु, पीन एवं विशाल हों उतने ही सुन्दर माने जाते हैं और कटि जितनी कृश और तनु हो उतनी ही उत्तम है। क्षीण तथा कृश कटि सौन्दर्य को बढ़ा देती है, कालिदास इसे कहीं नहीं भूले। उन्होंने अपनी प्रत्येक नायिका की कमर पतली बताई है और इसी पतली कमर को कहीं वे पेशलमध्या[5] कहीं वेदिविलग्नमध्या[6] कहीं मध्ये

---

१ नृपं तमावर्तमनोज्ञनाभि सा व्यत्यगादन्यवधूर्भवित्री। —रघु ६।५२
—आवर्तशोभानतनाभिकान्तेर्भङ्गो भ्रुवां द्वन्द्वचराः स्तनानाम्।
—रघु १६।६१

—वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः। —पूर्वमेघ १

२ तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः। —उत्तरमेघ २२
—स्तनति पृथुनितम्बा निम्ननाभिः सुमध्या
जनयति मदनमन्या कामिनी चारुशोभा। —ऋतु ५।१२

३ तस्याः प्रविष्टा नतनाभिरन्ध्रं रराज तन्वी नवलोमराजिः।
नीवीमतिक्रम्य सितेतरस्य तन्मेखलामध्यमणेरिवार्चिः॥ —कुमार १।३८

४ नवजलकणसेकादुद्गतां रोमराजिं ललितवलिविभङ्गैर्मध्यदेशैश्च नार्यः।
—ऋतु २।२६

५. एषा त्वया पेशलमध्ययापि घटाम्बुसंवर्धितबालचूता
आनन्दयत्युन्मुखकृष्णसारा दृष्टा —रघु १३।३४

६ मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या वलित्रयं चारु बभार बाला। —कुमार १।३९
—तथा विपुलस्य विलग्नमध्यया भविष्यसि त्वं यदि संगमाय मे।
—विक्रम ४।१७

श्यामा[1] कहीं सुमध्या[2] कहीं मध्यगता सुमध्यमा[3] कहीं तनुमध्या[4] कहीं कृशोदरि[5] कहीं पाणिमिती मध्य[6] आदि-आदि शब्दों से व्यक्त करते हैं। शकुन्तला की पतली कमर विरह में और भी पतली हो जाती है परन्तु फिर भी उसकी सुन्दरता में कोई अन्तर नहीं आता वह वायुस्पर्श से मुरझाई पत्तियों वाली माधवी लता के समान लगती है[7]।

त्रिवलय—कवि की सूक्ष्म दृष्टि से त्रिवलय की भी शोभा नहीं छूट सकी। उसकी दृष्टि के अनुसार मानो कामदेव को ऊपर स्तन आदि अंगों तक चढ़ा के जाने के लिए नवयौवन मानो यह सोपान रच देता है[8]। वर्षाऋतु में त्रिवलय पर फुहारों के पड़ने से तो रोमराजि सिहर कर खड़ी हो जाती है इस छोटी-सी बात को भी कवि अपनी सूक्ष्म दृष्टि से क्षण भर को भी न हटा सका[9]।

---

१ तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः। —उत्तरमेघ २२
—विपुलं नितम्बदेशे मध्ये क्षामं समुन्नतं कुचयोः
अत्यायतं नयनयोर्मम जीवितमेतदायाति। —माल ३।७

२ त्यजति गुरुनितम्बा निम्ननाभिः सुमध्या
उषसि शयनमन्या कामिनी चारुशोभा। —ऋतु ५।१२

३ शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा ...
—कुमार ५।२

४ अनेन तनुमध्यया मुखरनूपुराराविणा नवाम्बुरुहकोमलेन चरणेन संभावित ...
—माल ३।१७

५ स्तनाभोगकृशोदरी अनुगता त्वयानुरक्तं वनं। —विक्रम ४।५२
—विचारमार्गप्रहितेन चेतसा न दृश्यते तच्च कृशोदरि त्वयि।
—कुमार ५।४२

६ मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं —माल २।३

७ क्षामक्षामकपोलमाननमुरः काठिन्यमुक्तस्तनं
मध्यः क्लान्ततरः प्रकामविनतावंसौ छविः पाण्डुरा।
—अभि ३।८
—शोच्या च प्रियदर्शना च मदनक्लिष्टेयमालक्ष्यते।
पत्राणामिव शोषणेन मरुता स्पृष्टा लता माधवी॥ —अभि ३।८

८ मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या वलित्रयं चारु बभार बाला।
आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम्॥ —कुमार १।३९

९ नवजलकणसेकादुद्गतां रोमराजिं ललितवलिविभङ्गैर्मध्यदेशैश्च नार्यः।
—ऋतु २।२६

नितम्ब—स्त्रियाँ गजगामिनी ही सुन्दरी मानी जाती हैं। अतः विशाल पृथु नितम्ब ही सौन्दर्य का मापदण्ड है[1]। उसकी विशेषता एवं पराकाष्ठा नारी एवं भोग में है[2]। अतः एक स्थान पर उर्वशी के नितम्ब चाक के समान कहे गए हैं[3]। नितम्ब के भार से धीरे-धीरे चलना शुभ लक्षण माना गया है। कवि ने अपनी नायिकाओं में इस विशेषता को भी चित्रित किया है[4]।

नितम्ब की एक विशेषता और कवि ने शकुन्तला और उर्वशी में दिखाई है। नितम्ब के भार से एड़ी का निशान गहरा पड़ना शुभ लक्षण माना जाता है। कुंज के द्वार पर दुष्यन्त पीली रेती में भारी नितम्बगामी सखियों के पैरों के उन

---

१ एता गुरुश्रोणिपयोधरत्वादात्मानमुद्वोढुमशक्नुवत्यः
गाढाङ्गदैर्बाहुभिरप्सु बालाः क्लेशोत्तरं रागवशात्प्लवन्ते ।—रघु १६।६१
—नितम्बगुर्वी गुरुणा प्रयुक्ता वधूर्विधातृप्रतिमेन तेन ।
चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ ॥—रघु ७।२५
—हारैः सचन्दनरसैः स्तनमण्डलानि श्रोणीतटं सुविपुलं रसनाकलापैः ।
—ऋतु १।२
—स्पृशति गुरुनितम्बा निम्ननाभिः सुमध्या
उषसि शयनमन्या कामिनी चारुशोभा । —ऋतु ५।१२
—विपुलं नितम्बदेशे मध्ये क्षामं समुन्नतं कुचयोः ... —माल १।७
—पृथुनितम्ब नितम्बवती तव । —विक्रम ४।४६
२ नद्यो विशालपुलिनान्तनितम्बबिम्बा मन्दं प्रयान्ति समदाः प्रमदा इवाद्य ।
—ऋतु ३।३
—दधति वरकुचाग्रैरुन्नतैर्हारयष्टिं प्रतनुसितदुकूलान्यायतैः श्रोणिबिम्बैः ।
—ऋतु २।२१
३ रथाङ्गनामन्वियुतो रथाङ्गश्रोणिबिम्बया
अयं त्वा पृच्छति रथी मनोरथशतैर्वृतः । —विक्रम ४।१७
४ तन्वी श्यामा शिखरिदशना ...
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्याम् ॥ —उत्तरमेघ २२
—स्निग्धं वीक्षितमन्यतोऽपि नयने यत्प्रेरयन्त्या तया
यातं यच्च नितम्बयोर्गुरुतया मन्दं विलासादिव । —अभि २।२
—*नद्यो विशालपुलिनान्तनितम्बबिम्बा मन्दं [illegible] ।—कुमार १।११*
५. पश्चान्नता गुरुनितम्बतया ततोऽस्याः दृश्येत चारुपदपङ्क्तिरलक्तकाङ्का ।
—विक्रम ४।११
—अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात्पश्चात् । —अभि ३।६

चिह्नों को देखता है जो एड़ी की ओर गहरे और आगे की ओर उठे हुए हैं। पुरूरवा उर्वशी के इसी चिह्न को ढूंढने की चेष्टा करता है। इसी से उसके मार्ग का वहाँ नई भी आभास हो सकता था।

जघनप्रदेश—पृथु जघन अथवा भरा हुआ जघनप्रदेश ही स्त्री का सुन्दर बनाता है। भरे जघनप्रदेश से ही चाल धीमी होती है[1]। जिसके कारण स्त्रियाँ गजगामिनी कहलाती हैं। जाँघ चिकनी और लम्बी अच्छी मानी जाती है। अत इसके सौन्दर्य के लिए केले[2] अथवा हाथी की सूंड से[3] इसकी उपमा दी जाती है। पार्वती में ये दोनों ही गुण हैं[4]। विधाता ने उसके जघन निर्माण के लिए सुन्दरता की समस्त सामग्री एकत्र की (कुमार १।३५)।

चरण—कवि की पार्वती सौन्दर्य की प्रतिमा थीं। उनके चरणों की सुन्दरता स्वाभाविक लाल कोमल तथा पृथु ऊपर को उठे अंगुष्ठ में निहित थी[5]। इस प्रकार

---

१ रे रे हंस किं गोप्यते गत्यनुसारेण मया लक्षितो केन तव शिक्षिता एषा गतिर्लसिता सा त्वया दृष्टा जघनभरालसा।—विक्रम ४।१२

—सुरसुन्दरी जघनभरालसा पीनोत्तुङ्गघन स्तनी स्थिरयौवना तनुशरीरा हंसगतिः।—विक्रम ४।१९

—पृथुजघनभरार्ता किंचिदानम्रमध्या स्तननखपरिखेदाम्लानवमनं जघन्य।—ऋतु ५।१४

—अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात्पश्चात्।—अभि ३।९

२ मम न खलु सा रम्भोरूरस्याः स्यात्।—विक्रम अंक ४ पृष्ठ २१७

—अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु कच्चिन्मनसो रुचिस्ते।—रघु ६।३५

—संभोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनाना यास्यत्यूरु सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम्।—उत्तरमेघ ३८

३ कुर्याद् रम्भाकरभोरु पश्चात्मार्गे मृगप्रेक्षिणि दृष्टिपातम्।—रघु १३।१८

—अपि निपाय करभोरु यथासुखं ते संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ।

—अभि ३।१९

—सा चूर्णगौर रघुनन्दनस्य धात्रीकराभ्यां करभोपमोरु।

आसंजयामास यथाप्रदेशं कण्ठे गुणं मूर्तमिवानुरागम्॥—रघु ६।८३

४ करभोरु करोति मारुतस्त्वदुपावर्तनशंकि मे मन।—रघु ८।५३

—नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वादेकान्तशैत्यात्कदलीविशेषा।

—कुमार १।३६

५ अभ्युन्नताङ्गुष्ठनखप्रभाभिर्निक्षेपणाद्रागमिवोद्गिरन्तौ।

आजह्रतुस्तच्चरणौ पृथिव्यां स्थलारविन्दश्रियमव्यवस्थाम्॥—कुमार १।३३

के चरणों से चलती हुई व ऐसी प्रतीत होती थीं मानो वे पग-पग पर स्थलकमल उगाती हुई चल रही हों। शकुन्तला के पैर कमल के समान सुकुमार एवं अरुण थे[१]। चमचमाते हुए नखोंवाले तथा नई कोंपल के समान पर्वों से युक्त मालविका के चरण अग्निमित्र को अतिशय प्रभावित कर देते हैं[२]। यथार्थ में कमल के समान उसके चरणों के प्रहार से यदि अशोक में कलियाँ न फूटीं तो अग्निमित्र के अनुसार सुन्दरी के चरणाघात से फूल उठने की चाह जो मदन-प्रेमियों के मन में होती है वह अशोक के मन में व्यर्थ ही हुई[३]। पार्वती के समान मालविका की भी उँगलियाँ कुछ ऊपर को उठी थीं[४]।

चाल—गजगामिनी और हंसगति से परिलक्षित होता है कि धीरे-धीरे चलना ही शुभ माना जाता था। इन्दुमती अपनी सुन्दर चाल को अपनी मृत्यु के उपरान्त मानो कलहंसिनियों को देती है[५]। युवती पार्वती झनझनाते हुए नूपुरों से जब चलती थीं तो ऐसा प्रतीत होता था मानों राजहंसों ने नूपुर की मधुर ध्वनि को सीखने के लोभ से अपनी सुन्दर चाल पहले ही उसे सिखा दी हो[६]। स्वयं उर्वशी भी हंस की तरह गतियुक्ता थी[७]। कभी-कभी हंस भी

---

१ अंके निधाय करभोरु यथासुखं ते संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ।
—अभि ३।१८

२ नखकिसलयरागेणाक्रपादेन बाला स्फुरितनखरुचा द्वौ हन्तुमर्हत्यनेन।
—माल ३।१२

—आताम्र कनकिसलयमसाविषमन चरणमर्पयति।
उभयोः सदृशविनिमयादात्मानं वञ्चितं मन्ये॥ —माल ३।१६

३ अनेन तनुमध्या मुखरनूपुराराविणा नवाम्बुरुहकोमलेन चरणेन सम्भावितः।
अशोक यदि सद्य एव मुकुलैर्न संपत्स्यसे वृथा वहसि दोहदं ललितकामिसाधारणम्।
—माल ३।१७

४ मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालांगुली। —माल २।३

५ कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम्। —रघु ८।५९

६ सा राजहंसैरिव संनतांगी गतेषु लीलांचितविक्रमेषु।
व्यनीयत प्रत्युपदेशलुब्धैरादित्सुभिर्नूपुरसिञ्जितानि॥ —कुमार १।३४

७ निशामय मूर्तिरुद्वदृधावना हंसगतिः अनेन चिह्नेन आत्मसमानता तव मया।
—विक्रम ४।४

—यदि हंस गता न ते नतभ्रू सरसो रोधसि दर्शनं प्रिया मे।
—विक्रम ४।३३

—सुरसुन्दरी जघनभरालसा पीनोत्तुङ्गघन
स्तनी स्थिरयौवना तनुशरीरा हंसगतिः। —विक्रम ४।३९

सुन्दरियों की इस मन भावनी चाल को पराजित करने की चेष्टा करते हैं[1]।

मुद्रा—सुन्दर अंग विशेष मुद्राओं में और भी सुन्दर लगते हैं। इसके अतिरिक्त मुद्राओं से विशेष भावों की भी अभिव्यक्ति होती है। पार्वती का सुन्दर मुख को कुछ तिरछा कर खड़ा रह जाना शिव के प्रति उनके प्रेम को व्यक्त करता है[2]। शकुन्तला का कविता रचते समय भ्रू का ऊँचा करना उसकी विचार-तन्मयता के साथ दुष्यन्त के प्रति अनुराग को भी प्रमाणित करता है[3]। इसी प्रकार बाएँ गाल पर हाथ रख बैठी शकुन्तला भी दुष्यन्त की स्मृति में अपनी सुध बुध भूली हुई लगती है[4]। इसी प्रकार धनुष खींचने की मुद्रा में जब सुदक्षिण अपने शरीर का ऊपरी भाग कुछ आगे कर लेते थे बाल ऊपर बाँध लेते थे बाईं आँख मूँद लेते थे और बाल बढ़ाकर, धनुष की डोरी कान तक खींच लेते थे तब बहुत प्यारे लगते थे[5]। इसी प्रकार पार्वती के सौन्दर्य से प्रभावित होकर क्षण भर में ही संयम कर उन्होंने इधर-उधर देखा कि इस विकार को मन में लाया कौन ? उन्होंने उसी समय कामदेव को धनुष खींचकर गोल किए, दाहिनी आँख की कोर तक मुट्ठी से धनुष की डोरी खींच बाएँ कन्धे को झुकाए और बाएँ पैर का घुटना मोड़ बाण चलाने की इस मुद्रा में देखा[6]। समाधि में स्थित महादेव जी की निश्चल मुद्रा भी न केवल उनके संयम

---

१ हंसैर्जिता सुललिता गतिरंगनानामम्भोरुहैर्विकसितैर्मुखकान्तिः ।

—ऋतु० ३।१७

२. विवृण्वती शैलसुतापि भावमंगैः स्फुरद् बालकदम्बकल्पैः ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥ —कुमार ३।६८

३ उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः ।
कण्टकितेन प्रथयति मय्यनुरागं कपोलेन ॥—अभि ३।१३

४ वामहस्तोपहितवदना आलिखितेव प्रियसखी । भर्तृगतया चिन्तया आत्मानमपि नैषा विभावयति किं पुनरागन्तुकम् ॥

—अभि अंक ४ पृ ९

५ श्रुदृक्षिप्त किञ्चिदविलोलतारमुन्नतपूर्वकाय सम्यगात्मा ।
आकर्णमाकृष्टसबाणधन्वा व्यरोचतास्त्रेषु विनीयमानः ॥ —रघु १८।५१

६ स दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टिं नतांसमाकुञ्चितसव्यपादम् ।
ददर्श चक्रीकृतचारुचापं प्रहर्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिम् ॥ —कुमार ३।७०
—सर्पद्रूढास्तिरपूवकाममम्बापर्तं सम्यमितोमयानम् ।
दताममाणिप्रवश्यिषयाम्यकुम्बराबोधमिवावमध्ये ॥

को व्यक्त करती है अपितु उनके हृदय की एकाग्रता और अनन्यता को भी इससे पुष्टि होती है। इसी प्रकार नृत्य करने के पश्चात् जब मालविका अपना बाँया हाथ नितम्ब पर रख लेती है, दूसरा हाथ श्यामा की डाली के समान ढीला और मधुर प्रतीत होता है, नीचे आँखें किए अपने पैरों के अँगूठे से धरती पर बिखरे हुए फूलों को धीरे-धीरे सरकाती रहती है, उसकी यह मुद्रा नृत्य करते समय के सौन्दर्य से कहीं अधिक प्रभावशाली और लावण्य का आगार अग्निमित्र को प्रतिभासित होती है[1]। अग्निमित्र को उसकी यह क्रोध-मुद्रा भी बड़ी प्यारी लगती है, जिसमें भौंह के चढ़ने से उसके माथे की बिन्दी [illegible] जाती है और निचला ओष्ठ फड़कने लगता है[2]।

पुरुष-सौन्दर्य—कालिदास ने जितना स्त्री-सौन्दर्य का वर्णन किया उतना पुरुष-सौन्दर्य का नहीं। नारी की सुकुमारता को उन्होंने अंग-अंग में दिखाया इसलिए कि उसके लावण्य के लिए इसकी घोर आवश्यकता थी पर पुरुष-सौन्दर्य उनकी दृष्टि में वीरता का प्रतीक है। अतः अंग-अंग में उन्होंने विशालता और कठोरता के वर्णन किए। राजा दिलीप का सौन्दर्य देखिए—

व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः॥ —रघु १।१३

इसी प्रकार रघु का सौन्दर्य—

युवा युगव्यायतबाहुरंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरः।
वपुःप्रकर्षादजयद्गुरुं रघुस्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत॥ —रघु ३।३४

दृढयष्टि—कवि ऐसे ही बलवान् शरीर की प्रशंसा करता है जिसका आगे

भुजंगमोन्नद्धजटाकलापं कर्णावसक्तद्विगुणाक्षसूत्रम्।
कंठप्रभासंगविशेषनीलां कृष्णत्वचं ग्रन्थिमतीं दधानम्॥
किंचित्प्रकाशस्तिमितोग्रतारैर्भ्रूविक्रियायां विरतप्रसंगैः।
नेत्रैरविस्पन्दितपक्ष्ममालैर्लक्ष्यीकृतघ्राणमधोमयूखैः॥
—कुमार ३।४४ ४६ ४७

१ वामं सन्धिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामाविटपसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम्।
पादाङ्गुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम्॥—माल २।६

२ भ्रूभंगभिन्नतिलकं स्फुरिताधरोष्ठं सासूयमाननमितः परिवर्तयन्त्या।
कान्तापराधकुपितेष्वनया विनेतुं संदर्शितेव ललिताभिनयस्य शिक्षा॥
—माल ४।

का भाग निरन्तर धनुष खींचने से ऐसा कड़ा पड़ जाय कि उस पर न धूप का ही प्रभाव पड़े न पसीना ही छूटे[1] ।

वर्ण—गौर अथवा श्याम कोई भी वर्ण हो कवि इसमें कोई हानि नहीं समझता । स्वयं राम श्याम वर्ण के थे और सीता गौरवर्णा । इसके पहले भी इन्दुमती गोरोचन के समान गौर थी और सुनन्दा ने पाण्ड्य देश के राजा का वर्णन किया कि यह नील कमल के समान साँवले हैं । इनसे विवाह कर तुम उसी प्रकार शोभित होगी जैसे घन के साथ बिजली[2] । इसी वंश में नभ के आकाश के समान साँवले वर्ण का पुत्र हुआ था[3] ।

नेत्र—विशाल नेत्र पुरुष-सौन्दर्य में भी शुभ लक्षण माने जाते थे[4] । कमल[5] तथा हरिण[6] इनके नेत्रों के भी उपमान बन कर आए हैं ।

अधर—लाल ओठ भी सौन्दर्य का चिह्न माना जाता है । हिमालय के अधर बालुवत् ताम्र थे[7] । इसका प्रसंग केवल एक ही आया है ।

वाणी—स्त्रियों की तरह इनमें भी मधुर वाणी प्रशंसनीय मानी जाती थी । रघुवंशीय धर्मधन्वा के पुत्र देवानीक इतना मधुर बोलते थे कि शत्रु भी उनका मित्रवत् आदर करते थे[8] ।

---

१ *अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं रविकिरणसहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम् ।*
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति ॥
—अभि २।४

२. इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः ।
अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु ॥—रघु ६।६५

३ नभश्चरैर्गीतयशाः स लेभे नभस्तलश्यामतनुं तनूजम् ।—रघु १२।६

४ कामं कर्णान्तविश्रान्ते विशाले तस्य लोचने ।
चक्षुष्मत्ता तु शास्त्रेण सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिना ॥—रघु ४।६

५ पौत्रः कुशस्यापि कुशेशयाक्षः .. ..—रघु १८।४
—पुष्करपत्रनेत्र पुत्र .. .. —रघु १।१

६ परस्पराक्षिसादृश्यमदूरोज्झितवर्त्मसु
मृगद्वन्द्वेषु पश्यन्तौ स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु ।—रघु १।४
—मृगायताक्षो मृगयाविहारी सिंहादवापद्विपदं नृसिंहः ।—रघु १८।१५

७ बालुनामाधर पाण्डुदेवाग्रहस्तम प्रसर्पेण शिलोरस्क मुग्धतो.... ।
—कुमार ६।६१

८ वश्यो मृदुत्वस्य बलीयस्त्वात्सैवाभिरामीत्रियतामपीष्टः ।
मदोद्धतानपि हि प्रमुदं भावमहीट हरिणाम् परीणम् ॥—रघु १८।११

स्कन्ध—ऊँचे और भारी कन्धे वीरता के चिह्न हैं। अतः वृष के समान स्कन्ध का ही यहाँ पुरुष-सौन्दर्य दिखाया गया है वर्णन है[1]। जिस प्रकार राम वृष के समान ऊँचे कन्धे वाले थे वैसे ही रघु भी यौवनावस्था में भारी कन्धे से युक्त हो गए[2]।

वक्षःस्थल—पुरुष के हर अंग में वीरता का प्रदर्शन करने के लिए कवि ने विशालता दिखाई है। जहाँ कहीं वक्षःस्थल का वर्णन है वहाँ कठोरता और विशालता की अभिव्यक्ति के लिए उसने कभी शिलापट्ट[3] के समान कभी कपाट वत्[4] कहा है। यदि ये उपमान नहीं भी आए हैं तब भी उसने विशाल वक्षःस्थल अवश्य कह दिया है[5]।

भुजाएँ—लम्बी एवं कठोर भुजाएँ पुरुष-सौन्दर्य की पराकाष्ठा हैं। कहीं शालप्रांशु के समान[6] कहीं शेषनाग के समान[7] कहीं देवदारु के सदृश[8] कहीं नगर-परिघ के अनुरूप[9] उसने भुजाओं का सौन्दर्य कहा है। कहीं अन्य उपमा

---

१ कलत्रवानहं बाले कनीयांसं भजस्व मे ।
इति रामो वृषस्यन्तीं वृषस्कन्धः शशास ताम् ॥ —रघु १२।३४
—व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः ।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः ।—रघु १।१३

२ युवा युगव्यायतबाहुरंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरः ... —रघु ३।३४

३ वत्सादवत्सुगुरवारधीम श्रियं शिलापट्टविशालवक्षा ।—रघु १८।१७
—धातुताम्राधरः प्रांशुर्देवदारुबृहद्भुजः ।
प्रकृत्यैव शिलोरस्कः सुव्यक्तो हिमवानिति ॥ —कुमार ६।५१

४ देखिए पादटिप्पणी नं २

५ देखिए पादटिप्पणी नं १ —रघु १।१३
—अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः ।—रघु ६।३२

६ देखिए, पादटिप्पणी नं १ —रघु १।१३

७ स किंवदन्तीं वदतां पुरोगः स्ववृत्तमुद्दिश्य विशुद्धवृत्तः ।
सर्पाधिराजोरुभुजोऽपसर्प्य पप्रच्छ भद्रं विजितारिभद्रः ॥ —रघु १४।३१

८ देखिए, पादटिप्पणी नं ३ —कुमार ६।५१

९ एकातपत्रां भुवमेकवीरः पुरार्गलादीर्घभुजो बुभोज ।—रघु १८।४
—नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमां धरित्रीमेकः कृत्स्नां नगरपरिघप्रांशुबाहुर्भुनक्ति ।—अभि २।१५
—तदहृतवतो दस्युभीर्भिर्विमर्दयती श्रियं परिघगुरुभिर्दोर्भिर्बिभ्यतो प्रशाम्य च यमिमचीम् ।—मास ५।२

चरण—प्रभात की लाल किरणों से भरे कमल के समान चरण तथा लाल नख चरण-सौन्दर्य का प्रतीक समझा गया[1]। अभिज्ञान में असंख्य दोषों के होते हुए भी एक यह गुण था।

स्त्रियों में यदि वायु की-सी चञ्चलता[2] अच्छी समझी गई तो पुरुष सागर के समान गम्भीर[3] तथा विशुद्ध वृत्ति[4] वाले ही श्रेष्ठ एवं उत्तम माने गए। वीर पुरुष की न केवल आकृति ही गम्भीर होनी चाहिए, अपितु हृदय की गम्भीरता भी उतनी ही आवश्यक है।

सौन्दर्य की परिभाषा तथा तत्त्व

नेत्रों का कोई भी सौन्दर्य कितना ही प्रभावित क्यों न करे, हृदय में कितना ही बस क्यों न जाए, फिर भी यह अनुभव तथा व्यक्त करना मनुष्य के लिए कठिन अवश्य है कि आखिर सौन्दर्य है क्या वस्तु? इसके तत्त्व क्या हैं? आत्मा के लिए इसका प्रयोजन क्या है?

कालिदास को इन तत्त्वों का पूर्ण ज्ञान था। वह अच्छी तरह जानते थे कि स्त्री और पुरुष की आकृति में जो सौन्दर्य दीखता है वह प्राकृतिक-सौन्दर्य का ही एक अंग है। अन्यथा स्त्री-सौन्दर्य की वह कोमल पल्लव तथा फूली हुई लताओं से कभी तुलना नहीं करता—

आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव ॥ —कुमार १।५४

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम् ॥ —अभि १।२

---

१ तं कृतप्रणतयोऽनुजीविनः कोमलात्मनखरागरूषितम्।
भेजिरे नवदिवाकरातपस्पृष्टपङ्कजतुलाधिरोहणम् ॥—रघु १९।८

२ कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम्।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः ॥—रघु ८।५९
—त्रिदिवोत्सुकयाप्यवेक्ष्य मां निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया।
विरहे तव मे गुरुव्यथं हृदयं न त्ववलम्बितुं क्षमाः ॥—रघु ८।६

३ पौत्रः कुशस्यापि कुशेशयाक्षः ससागरां सागरधीरचेताः ।—रघु १८।४

४ न विचरन्ती मरुता पुरोग स्वगृहमुदित्य विशुद्धवृत्तः।
मर्यादयोपभुज्यामरा पयस्य मई विधितारिमाः ॥—रघु १७।११

यावत्पुनरियं सुभ्रूरुपकामि समुत्सुका सखीभिर्याति सम्पर्कमियं श्रीरिवार्णवी ।
—विक्रम १।१४

कास्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या ।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम् ॥—अभि ५।१३

कभी-कभी कवि को स्त्री-सौन्दर्य प्राकृतिक सुषमा को भी पार करता हुआ प्रतीत होता है । उसे आभास होता है कि प्राकृतिक सौन्दर्य स्त्री-सौन्दर्य का अंग है अतः वह प्रकृति में स्त्री-सौन्दर्य देखता है ।

लग्नद्विरेफाञ्जनभक्तिचित्रं मुखे मधुश्रीस्तिलकं प्रकाश्य ।
रागेण बालारुणकोमलेन चूतप्रवालोष्ठमलंचकार ॥—कुमार ३।३

अग्रे स्त्रीनखपाटलं कुरबकं श्यामं द्वयोर्भागयो
रक्ताशोकमुपोढरागसुभगं भेदोन्मुखं तिष्ठति ।
ईषद्बद्धरजःकणाग्रकपिशा चूते नवा मंजरी
मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्रीः स्थिता ॥—विक्रम २।७

यौवन-श्री और सौन्दर्य के विषय में कवि का कहना है कि यह शरीररूपी लता का स्वाभाविक शृंगार है, बिना मदिरा के ही मन को मतवाला बनाने वाला है ।

असम्भृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य ।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साथ वयः प्रपेदे ॥—कुमार १।३१

सौन्दर्य क्या है ?

सौन्दर्य के अनुभव में जितना आनन्द है परिभाषा बतानी उतनी ही कठिन । एक कवि का कहना है—'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' । अंग्रेजी कवि कीट्स का कहना है कि 'सौन्दर्य वही है जो मनुष्य को सदा आह्लाद प्रदान करे' (A thing of beauty is a joy forever) । रामस्वामी शास्त्री के मतानुसार सौन्दर्य गत्यात्मक गुण है और निश्चल आत्मा के आनन्द की गत्यात्मक अभिव्यक्ति है । सौन्दर्य में मृदुता अनुरूपता और चाकचिक्य गुणों का समावेश है पर यह उसका सार तथा मूलतत्त्व नहीं है । इसमें सदा नवीनता और ताजगी रहती है । यह स्वयं साध्य है पर साधन नहीं । इसकी उपस्थिति में ही तथा इसी की शक्ति से आत्मा के आनन्द तत्त्व का परम उत्कर्ष होता है । अतः सौन्दर्य आत्मा के आनन्द की पूर्ण अभिव्यक्ति है । इसी कारण ईश्वर को आनन्द प्रेम तथा सौन्दर्य के नामों से विभूषित करते हैं ।

---

१ Beauty is dynamic quality and is the dynamic expression of the static bliss of the soul. Softness, symmetry and splendour are among its characteristics but not are its essence. It is soul

स्वयं कालिदास सौन्दर्य को आध्यात्मिक रूप में अधिक लेते हैं। इसकी पुष्टि शकुन्तला के सौन्दर्य के व्यक्तीकरण से होती है—

चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे ॥—अभि २।९

उर्वशी के सौन्दर्य का वर्णन करने में वे एक पग और आगे बढ़ जाते हैं। भोग-विलास से दूर रहने वाले ऋषि ऐसा रूप नहीं उत्पन्न कर सकते वसन्त कामदेव अथवा चन्द्रमा ने ही ब्रह्मा बन इसकी रचना की होगी—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥
—विक्रम १।९

इस में कवि का संकेत है कि सौन्दर्य में चित्त की-सी शाश्वती तथा स्फूर्तिदायक आनन्द है। इसमें चिन्मयता है अतः इसके लावण्य सुषमा और सुकुमारता से हृदय में आकर्षण अवश्य होता है। यही सबसे बड़ा कारण है कि सौन्दर्य से सभी बहुत अधिक प्रभावित होते हैं।

सौन्दर्य के तत्त्व—कवि सबसे प्रथम सौन्दर्य के तत्त्वों में सर्वांगपूर्णता को लेता है। अर्थात् जिस सौन्दर्य में कोई अभाव कोई दोष न हो। मालविका के सौन्दर्य में अग्निमित्र को कोई दोष न लगा। प्रत्येक मुद्रा प्रत्येक अवस्था में वह एक समान ही सुन्दरी प्रतीत होती थी।

'अहो सर्वस्वानामनवद्यता रूपविशेषस्य'—माल अंक २ पृ २८२

अहो सर्वास्ववस्थासु चारुता शोभान्तरं पुष्यति—माल अंक २ पृ २८१

अनवद्यता के साथ-साथ कान्ति में स्वाभाविकता का होना वांछनीय है। दूसरे शब्दों में अनिन्द्य कान्ति अनवद्यता के उपरान्त दूसरा तत्त्व माना जाता

---

deep evernew and everfresh. It is an end itself and not a mean. The bl s element of the soul has the fullest play in it presenc and unde it power Beauty is manifestation f th bliss f the soul That is God is called by all im Aran a Preme and saundarya.

Kalidas His Genius Ideals and Influe c
by K S Ram Swami Sastri Vol. II, P 164

है। शकुन्तला की यही अविकृत कान्ति[1] दुष्यन्त को प्रभावित कर गई थी। ऐसा सौन्दर्य मानवों में बिना किसी दिव्यसंयोग के सम्भव नहीं होता। शकुन्तला के सौन्दर्य में मानवत्व तथा देवत्व दोनों का योग था[2]।

सौन्दर्य में वह लावण्य है जिसके लिए बाह्य साधन अपेक्षित नहीं है। सौन्दर्य स्वतः शरीर का सबसे बड़ा आभूषण है, जो हर अवस्था में खिल उठता है

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥
—अभि १।१९

पार्वती के सौन्दर्य की भी यही विशेषता थी—

यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहैर्जटाभिरप्येवमभूत्तदाननम्।
न षट्पदश्रेणिभिरेव पङ्कजं सशैवलासंगमपि प्रकाशते॥ —कुमार ५।९

कितना ही प्रयत्न क्यों न किया जाय निपुण-से-निपुण चित्रकार भी लावण्य की रेखा भर खींच पाता है[3]। जिस प्रकार आभूषण से सौन्दर्यवृद्धि होती है, वैसे ही सौन्दर्य स्वयं आभूषण की शोभा को द्विगुणित कर देता है[4]। शरीर जो सौन्दर्यपूर्ण है, आभूषणों का ही आभूषण है। 'आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः[5]'।

सौन्दर्य का चरम तत्त्व उन्होंने शकुन्तला में ही दिखाया है—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहैरनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥
—अभि २।१

इसमें कोई सन्देह नहीं कवि की प्रत्येक उपमा साभिप्राय है। फूल और पत्तों में ताजगी और सुकुमारता है रत्न की ज्योति सदा एक-सी रहनेवाली है

१ इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेत्यध्यवस्यन्।
—अभि ५।१९

२ मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य संभवः।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्॥ —अभि १।२४

३ यद्यत्साधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किंचिदन्वितम्॥—अभि ६।१४

४ कण्ठस्य तस्याः स्तनबन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य।
अन्योन्यशोभाजननाद्बभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः॥
—कुमार १।४२

५ आभरण.... —विक्रम २।३

बहुत आवश्यक है। अतः सौन्दर्य में लावण्य सुकुमारता नवीनता और कान्ति ही नहीं अपितु यह ईश्वर की एक कल्याणप्रदायक तथा पवित्र देन है।

कालिदास का यह भी विश्वास है कि सौन्दर्य और पाप कभी साथ-साथ नहीं रह सकते। सौन्दर्य कभी पापाचार का कारण नहीं होता—

'न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति —अभि अंक ४ पृ १७

कुमारसंभव म भी इस भाव की पुनरावृत्ति है—

यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः ।
तथाहि ते शीलमुदारदर्शने तपस्विनामप्युपदेशतां गतम् ॥ —५।३६

कालिदास के समान अंग्रेजी नाटककार शेक्सपियर भी सौन्दर्य की यह विशेषता मानता है[१]।

मानव-आत्मा पर सौन्दर्य का प्रभाव पड़ता अवश्य है। इन्दुमती के सौन्दर्य का प्रभाव स्वयंवर मे आए प्रत्येक राजा पर पड़ता है और प्रत्येक के हृदय में उसकी प्राप्ति की लालसा जग पड़ती है[२]। महान् सौन्दर्य अलंकार ही नहीं अपितु जीवन को भी पवित्र कर देनेवाला है, उसी प्रकार जैसे ज्योति दीपक को प्रकाशित करती है और गंगा तीनों लोकों को अलंकृत कर देती है[३]।

कन्याओं और स्त्रियों का वर्णन कवि ने विशेष रूप से किया है। कुमारसम्भव प्रथम सर्ग में उमा की कन्या वय और यौवनावस्था का अंग-प्रत्यंग चित्रण किया है। इसके अतिरिक्त मालविका का नृत्य करते समय दोहद समय चित्रलेखा का उर्वशी के विषय में कथन—'अपि नाहमेव पुरुरवा भवेयमिति' शकुन्तला का पानी देते समय सौन्दर्य विरहदशा शकुन्तला का लावण्य यक्ष-पत्नी का 'तन्वी श्यामा शिखरिदशना ... ' लावण्य का सत्य ही कोई अंग उन्होंने अछूता न छोड़ा[४]।

सुन्दर-सुन्दर बालक और पुरुष भी कवि की दृष्टि से न बचे। भरत का सुन्दर हाथ जो मानो खिला कमलवत् था[५] राजा दिलीप जिसका वक्ष विशाल

---

१ There s nothing ill can dwell in such a temple (Tempest)

२ रघुवंश ६।११-१६

३ प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः ।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च ॥
—कुमार १।२८

४ कुमार १।३२-४१ माल १।१६ ३।११ १२ विक्रम अंक १ पृ १६८ अभि १।२ १।१७ ८ उत्तरमेघ २२।

५ अम्लप्रतापान्तरभिन्नरागया नवोषसा भिन्नमिवैकपंकजम् । —अभि ७।१६

था शाल के समान लम्बी भुजाएँ थीं[1] रघु जिसका वक्ष कपाट के समान था और जो परिघप्रकाण्डर था[2] दुष्यन्त लम्बा और पुष्ट तथा श्रवणीय है। सबसे सजीव वर्णन महादेव का वर रूप है। कण्व और मरीचि की शान्तमूर्ति भी प्रशंसनीय है।

प्रयोजन—इसमें कोई सन्देह नहीं कि कालिदास ने सौन्दर्य का शारीरिक तथा लोक-प्रदर्शन अधिकांश में किया परन्तु तदपि उन्होंने सौन्दर्य का प्रयोजन आध्यात्मिक ही माना। उन्होंने अच्छी तरह परखा कि जीवन में सौन्दर्य का प्रयोजन है क्या। सौन्दर्य का तभी मूल्य है जब वह हमारे अन्दर श्रद्धा आदर और प्रसन्नता के भाव उत्पन्न कर दे तथा हम सृष्टिकर्ता के प्रति इसके लिए अनुगृहीत हों यदि यह शीलशाली हो त्याग और सेवा को प्रेरक हो स्वार्थ से मुक्त कर हृदय में सजीवता तथा चेतनता को उत्पत्तिकारिणी हो आत्मा में परमात्मा की अनुभूति प्रदान करनेवाली हो। इसके विपरीत यदि यह मोह और एन्द्रिय-लिप्सा से युक्त कर मनुष्य को सांसारिक बनाए काम और बर्बरता को उत्पन्न करे तो यह निरर्थक ही है। कवि उन्नति की ओर ले जानेवाली सुन्दरता का पुजारी था। इसी के उत्कर्ष के लिए उसने यत्र-तत्र कामान्ध सौन्दर्य की भी उत्पत्ति की। कुमारसम्भव का "प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता स्त्रीणां प्रिया-लोकफलो हि वेष" उसके हृदय के सच्चे विश्वास को अभिव्यक्ति है। उमा का अपने सौन्दर्य से शिव को न जीत पाना ही प्रमाणित करता है कि सौन्दर्य को भक्ति का और भक्ति को भगवान् का अनुगामी बनना चाहिए।

वस्त्र

संस्कृति के अन्तर्गत अब तक किसी ने अपनी दृष्टि इस ओर नहीं फेरी। किसी ने कभी ध्यान ही नहीं दिया कि भारतवासियों के वस्त्र तथा पहिरावे में भी कोई विशेषता हो सकती है। कौन कह सकता है कि आजकल जिस ढंग से धोती साड़ी ब्लाउज पगड़ी आदि पहनी जाती है वही ढंग पहले भी था। आजकल के और प्राचीन समय के अलंकारों में भी बहुत अन्तर रहा होगा। वस्त्रों के रंग और प्रकार भी कुछ दूसरे ही रहे होंगे।

---

१ व्यूढोरस्को वृषस्कंधः शालप्रांशुर्महाभुजः —रघु १।१३

युवा युगव्यायतबाहुरंसलः कपाटवक्षा परिणद्धकन्धरः —रघु ३।३४

—अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं रविकिरणसहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम्।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति ॥
—अभि २।४

इस सम्बन्ध में पहला प्रश्न यह उठता है कि कालिदास के समय सिले वस्त्र पहने जाते थे कि नहीं ? समस्त ग्रन्थों के सम्यक् अध्ययन करने से इस बात का कहीं प्रमाण नहीं मिलता। कंचुक या कंचुकी का कोई प्रसंग नहीं है। इसके विपरीत दुकूल अंशुक उत्तरीय उष्णीष स्तनांशुक स्तनपट्ट नाम मिलते हैं जिनसे स्पष्ट यही होता है कि इस समय सिले कपड़े पहनने का चलन नहीं था। वैसे कूर्पासक शब्द से कहा जा सकता है कि समय पड़ने पर कपड़े सिले पहने जाते होंगे। एक वस्त्र निम्न भाग के ढकने को और दूसरा ऊपर के भाग को ढकने के लिए प्रयोग किया जाता था। दुकूलयुग्म[1] और क्षौमयुग्म[2] का यही महत्त्व है। उष्ण[3] शब्द मिलने के कारण ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि शीत अनुभव होने पर गरम चादर ओढ़ ली जाती होगी। भारतवर्ष में इतना शीत का प्रकोप देखने में आता भी नहीं है। यहाँ सही अच्छा भोजन प्राप्त हो सकने के कारण स्वास्थ्य भी यथेष्ट अच्छा रहता था अतः इससे अधिक की आवश्यकता भी अनुभव न होती होगी। स्तनांशुक और स्तनपट्ट नामों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आजकल की ब्लाउजों की तरह कोई वस्त्र न था। अधिक शीत में स्त्रियाँ कूर्पासक[4] पहनती थीं। यह कोई ढीला-ढाला अंगा-सा सिला कुछ होगा क्योंकि अधिकांश में इसका प्रयोग नहीं है।

दूसरा प्रमाण यह है कि वस्त्रों से सर्वांग सौष्ठव पर प्रकाश अवश्य पड़ना चाहिए, यह उस समय की वेश-भूषा का ध्येय प्रतीत होता है। मालविकाग्निमित्र में परिव्राजिका साफ-साफ कहती है— सर्वांगसौष्ठवाभिव्यक्तये विगतनेपथ्ययो पात्रयोः प्रवेशोऽस्तु[5]। डाक्टर मोतीचन्द्र का भी ऐसा ही अनुमान है कि सिले कपड़ों से अंग ढक देने से उसकी गठन खूबी से नहीं दिखाई जा सकती[6]।

इस समय की जितनी भी स्त्रियों की मूर्तियाँ मिलती हैं उनमें दो विशेषताएँ देखी जाती हैं—प्रथम वे ऊपर चादर या ओढ़नी नहीं लेतीं द्वितीय उनका वक्ष स्थल खुला हुआ है, नाभि भी इसी प्रकार दीखती है। बहुत-से विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि ऐसी निर्लज्जता से स्त्रियाँ किसी के सम्मुख नहीं आ सकतीं। इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि लज्जा और निर्लज्जता की परिभाषा हर समय में बदलती रही है। जो बात आजकल लज्जा की है वह प्राचीनकाल में नहीं भी हो सकती है। इसकी पुष्टि के लिए सारा संस्कृत-साहित्य साक्षी है,

---

१ रघु ७।१८ — २ अभि अंक ४ पृष्ठ ९८

३ रघु ११।८७ कुमार ७।२६, माल अंक ५, पृष्ठ १५५

४ ऋतु ४।१७ ५।८ — ५ माल अंक १ पृष्ठ २७९।

६ प्राचीन वेश-भूषा लेखक डा० मोतीचन्द्र पृष्ठ ९८।

पयोधर के समस्त गुण—कठोरता उन्नतत्व पीनत्व विशालता आदि-आदि खूब अच्छी तरह से एक-एक बात वर्णित है। यहीं तक रहता तो भी ठीक था। कहा जा सकता है कि यह सब वस्त्र पहनने पर भी नहीं छिप सकती पर गोरे स्तन और मौक्तिक वुटियां जब तक दिखाई न पड़ें तब तक कोई वर्णन नहीं करेगा। नाभि रोमावली सबका वर्णन प्रमाणित करता है कि सिला वस्त्र नहीं पहना जाता होगा और स्त्रियां शृंगार के सबसे सुन्दर अंगों में ऊपर स्तनांशुक तक धारण नहीं करती होंगी[1]। शकुन्तला का चित्र बनाते समय स्तनों के बीच मृणाल तन्तुओं की माला दिखाना भी इसी की पुष्टि करता है[2]।

कपड़ों के प्रकार—सूती रेशमी और ऊनी नाना प्रकार के वस्त्र उस समय पाए जाते थे। कवि के ग्रन्थों में कौशेय क्षौम पत्रोर्ण कौसुम-पत्रोर्ण दुकूल और अंशुक नाम हैं।

कौशेय[3]—डाक्टर मोतीचन्द के अनुसार यह कोशकार देश का बना रेशमी वस्त्र था[4]। वैसे ही यह जहां कहीं प्रयुक्त हुआ है वहां रेशमी वस्त्र ही लगता है।

क्षौम[5]—डाक्टर मोतीचन्द के अनुसार यह बहुत महीन और सुन्दर वस्त्र था। यह अलसी की छाल के रेशों से बनता था[6]। कौशेय के समान यह भी रेशमी वस्त्र तथा श्वेत[7] ही प्रतीत होता है। क्षौम की उपमा दुधिया रंग के क्षीर सागर से कवि ने दी है। क्षौम जैसा नाम से व्यक्त है कदाचित् क्षुमा या अलसी नामक पौधे के रेशों से तैयार होता था। भीम सन और पटसन के रेशों से भी

---

1 तस्य निर्दयरतिश्रमालसाः कण्ठसूत्रमपदिश्य योषितः।
अध्यशेरत बृहद्भुजान्तरं पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम्॥—रघु १९।३२

2 न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे।—अभि ६।१८
बाण का भी ऐसा कहना है—दाहिनी ओर वासगृह (सोने का कमरा) और बाईं ओर 'कोष' जिसकी छत बहिर्कोष्ठ जुड़ी रहती थी। यहीं रानी यशोवती स्तनांशुक को भी छोड़कर चांदनी में बैठती थी।
—हर्षचरित पृष्ठ १२

3 कुमार ७।७ ऋतु ५।८

4 डा मोतीचन्द प्राचीन वेश-भूषा भूमिका पृ ६ अध्याय ४ पृष्ठ ११

5 रघु १।८ १२।८ उत्तरमेघ ७ अभि ७।१५ अंक ४ पृष्ठ ६८ कुमार ७।२६

6 डा मोतीचन्द प्राचीन वेश-भूषा भूमिका पृष्ठ ६

7 क्षीरोदवेलेव सफेनपुञ्जा पर्याप्तचन्द्रेव शरत्त्रियामा।
नवं नवक्षौमनिवासिनी सा भूयो बभौ दर्पणमादधाना॥—कुमार ७।२६

वस्त्र तैयार किए जाते थे पर क्षौम अधिक कीमती मुलायम और बारीक होता था। चीनी भाषा में 'छु-म' एक प्रकार की घास के रेशों से तैयार वस्त्रों के लिए प्राचीन नाम था जो बाण के समकालीन एवं उससे पूर्व प्रयुक्त होता था। यही चीनी घास भारतवर्ष के पूर्वी भागों आसाम बंगाल में होती थी। अतः यह रेशों से तैयार होनेवाला वस्त्र है। यह अवश्य ही आसाम में बननेवाला कपड़ा था क्योंकि आसाम के कुमार भास्कर वर्मा ने हर्ष के लिए जो उपहार भेजे थे उनमें यह भी था[१]।

पत्रोर्ण[२]—ऊन का अर्थ श्री सीताराम चतुर्वेदी की प्रकाशित टीका में ऊन मिलता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पत्रोर्ण का अर्थ ऊनी वस्त्र ही था। मांगलिका की पहचान के लिए पत्रोर्ण का नाम आया है अतः यह ऊनी वस्त्र ही होगा। वैसे (ऋग्वेद १।६७।१) में भेड़ को 'ऊर्णावती' कहा है तो पत्रोर्ण माने ऊन हो सकता है। परन्तु डाक्टर मोतीचन्द का कहना है कि नागवृक्ष लिकुच बकुल और वटवृक्षों की छालों से निकले रेशों से इसका निर्माण होता था। इसका रंग क्रमशः गेहुँआ सफेद और मक्खन का-सा होता था[४]। नागवृक्ष से बना पत्रोर्ण का कपड़ा पीला लिकुच का गेहुँआ बकुल का सफेद होता था[५]। गुप्तकाल में पत्रोर्ण बुना हुआ रेशमी बहुमूल्य कपड़ा समझा जाता था। वासुदेव जी भी इसे रेशम मानते हैं, जिसे क्षीरस्वामी ने कीड़ों की लार से उत्पन्न कहा है ('पत्रकचतरादिपत्रम् कृमिलालोपाङ्कितं पत्रोर्णम्' —क्षीरस्वामी) क्षीरस्वामी का कहना है कि इस रेशम को बड़ और लकुच की पत्तियाँ खानेवाले कीड़े पैदा करते थे। शायद यह किसी किस्म का जंगली रेशम रहा हो[६]।

कौशेय-पत्रोर्ण —यदि पत्रोर्ण का अर्थ ऊनी किया जाय तो कौशेयपत्रोर्ण से यह निष्कर्ष निकलता है कि ऊन में कुछ रेशम मिलाकर भी सुन्दर, चिकने व चुभनेवाले वस्त्रों का निर्माण होता होगा। यह कुछ अद्भुत बात नहीं है। आजकल भी ऊन में रेशम मिलाकर वस्त्रों का निर्माण होता है। नहीं तो यह भी रेशमी वस्त्रों का एक प्रकार है।

---

१ वासुदेवशरण अग्रवाल हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृष्ठ ७९

२ कुमार ७।२१ रघु १६।८० ३ माल ३।१२ अंक ५, पृ १२९

४ डा मोतीचन्द प्राचीन वेश-भूषा भूमिका पृ ९

५ डा मोतीचन्द प्राचीन वेशभूषा पृ ५१

६ डा मोतीचन्द प्राचीन वेशभूषा पृ १४२

७ माल अंक ५, पृ १२९

चीनांशुक रक्तांशुक नीलांशुक[१]। अमरकोष में क्षौम और दुकूल को पर्यायवाची कहा है और नेत्र और अंशुक का समान अर्थवाची। राजद्वार के वचन में बाण ने अंशुक और क्षौम को अलग-अलग माना है। अंशुक की उपमा मन्दाकिनी के श्वेत प्रवाह से दी है अन्यत्र अंशुक की सुकुमारता की उपमा दुकूल की कोमलता से दी गई है (चीनांशुक सुकुमार धौतसैकतो दुकूलकोमले वपुषे इव समुपविष्टा)[२]। अंशुक दो प्रकार का था एक भारतीय और दूसरा चीन देश से बना हुआ जो चीनांशुक कहलाता था। यह भी रेशमी वस्त्र ही था[३]। बहुत पतले रेशमी कपड़े या चीन के बने रेशमी कपड़े को चीनांशुक कहते हैं[४]।

तनुनि[५]—यह किसी विशेष वस्त्र का नाम नहीं लगता। ऐसा लगता है कि महीन वस्त्र के लिए ही इसका प्रयोग हुआ है।

कालिदास ने किसी ऊनी कपड़े का नाम नहीं दिया परन्तु डाक्टर मोतीचन्द ने ई पू १ शताब्दी से ई पू १ शताब्दी के बीच में ही भेड़ के ऊन से बने कम्बलों का प्रसंग दिया है। भेड़ के ऊन से बने लाल (आविक) सफेद गहरे लाल या मिश्रित लाल रंग के होते थे[६]। डाक्टर मोतीचन्द ने अनेक प्रकार के ऊनी कपड़ों के नाम और प्रकार दिए हैं।

भारीवस्त्र—जिस प्रकार गर्मियों में अंशुक का प्रयोग होता था उसी प्रकार कठोर शीत में भारी भारी वस्त्रों को उपयोग में लाया जाता था पर इस प्रकार के वस्त्र का कहीं नाम नहीं मिलता।

मृगछाला—विशेष अवसरों पर वस्त्रों के स्थान पर इसका भी प्रयोग होता था। यज्ञ तथा विद्यारम्भ-संस्कार के समय पवित्र होने के नाते इसका प्रयोग किया जाता था। मृगछाला में रुरु मृग का चर्म[८] अजिन और मेध्य

१ सितांशुक—ऋतु ३।१ विक्रम ३।१२ चीनांशुक—अभि १।३२
रक्तांशुक—ऋतु ३।२१ नीलांशुक—विक्रम अंक ३ पृ १६८
२ वासुदेवशरण अग्रवाल हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ ७६
३ वासुदेवशरण अग्रवाल हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ ७८
४ डा मोतीचन्द्र प्राचीन वेशभूषा पृ १४८
५ ऋतु ६।१४
६ डा मोतीचन्द्र प्राचीन वेशभूषा पृ ५
७ ऋतु ६।२ ६।१४ ८ रघु ३।३१
९ रघु ३।३१ १ रघु ३।३१ १४।८१

विषय है। ताम्बूल की लाल बिखरने के काम में भी आती थी। मेघमालिन आदि भी बिछाए जाते थे[१]।

वल्कल—तपस्वीजन वस्त्रों के स्थान पर वल्कल धारण करते थे। शकुन्तला सीता आदि ने भी तपोवन में वल्कल का ही प्रयोग किया था[२]। राम ने वन जाते समय मांगलिक वस्त्रों का परित्याग कर वल्कल ही पहन लिए थे। इसी प्रकार पार्वती भी अपने रेशमी वस्त्रों को उतार कर लाल-लाल वल्कल वस्त्र पहन लेती हैं। इसी की वे मोखली भी ओढ़ लेती थीं[४]।

वस्त्रों के मुख्य रंग—मनुष्य सुन्दर-सुन्दर वस्त्र पहनने के शौकीन थे। 'मनोज्ञ वेष'[५] शब्द इसकी पुष्टि करता है। वे श्वेत उज्ज्वल वस्त्र भी धारण करते थे और रंगीन भी। रंगों में नीला, लाल, काषाय, हरा, कुसुम्भी और कुंकुम मुख्य थे। श्वेत में दुकूल और अंशुक दोनों प्रकार थे[६]। विक्रमोर्वशीय में उर्वशी का अंशुक एक स्थान पर नील और एक स्थान पर सुकोमल 'श्याम-वर्ण' का है। वसन्तऋतु में कुसुम्भी रंग का दुकूल[८] और कुंकुम के रंग में रंगी स्तनांशुक[९] धारण की जाती थी। दूसरे वस्त्रों में लिप्सुक कुसुम्भ और कुंकुम के वस्त्र स्त्रियाँ पहना करती थीं। सांसारिक भोग-विलास को छोड़ देने पर काषाय रंग के वस्त्र धारण किए जाते। लाल रंग स्त्रियों का प्रिय रंग था[१०]। अपने जीवन के सबसे सरस दिनों में शृंगार के सबसे सुन्दर क्षणों में वे इसे धारण किया करती थीं[११]। हरे रंग का भी कहीं-कहीं प्रसंग है[१२]।

साधारण वेश-भूषा—साधारण रीति से वेश-भूषा के विषय में यह कहा जा सकता है कि इसका ध्येय प्रधान रूप से सौन्दर्य-वृद्धि या अंगों को अच्छी

---

१ कुमार ७।३७ रघु १०।८१ ४।५५
२ रघु १४।८२ अभि १।१९ पृ १३ पृ १ ३।१४ ६।१०
३ रघु १२।८ कुमार ५।८ ५।४४ ८४
४ कुमार ५।१६ ५ रघु ६।१
६ विक्रमोर्वशी—ऋतु २।२६ ज्योत्स्नादुकूल—ऋतु ३।७ सितांशुक—विक्रम ३।१२ कार्पासांशुक—ऋतु ३।१ हंसचिह्न—रघु १७।२५ १६।४३
७ विक्रम अंक ३ पृ १६८ ४।१७ ८ ऋतु ६।५
९ ऋतु ६।६, ६।४
१० रघु १६।७७ मालवि अंक ५ पृ ३५
११ कुमारसम्भव—रघु ८।४३ कुमार ५।८ ३।५४ ऋतु ६।६, ६।५ १५, २१
१२ कुमार ३।५४ १३ रघु ८।५ ४१

प्रकार ढकना गौण । कालिदास का साहित्य इस बात स्पष्ट प्रमाण है कि अंग सौष्ठव न केवल उसका प्रधान उद्देश्य है, अपितु नायक स्वयं नायिका के एक-एक अंग का उभार घन आकार, कठोरता शिथिलता आदि गुण अच्छी तरह देखता है । स्तन नितम्ब जघन आदि का अच्छा चित्रण इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि जो भी वस्त्र उपयोग म लाए जाते थे वे सौन्दर्य-वृद्धि के लिए तथा आकृति को ज्यों-की-त्यों सुरक्षित रखने को ।

स्त्री और पुरुष की वेश भूषा मे विशेष अन्तर नही पाया जाता । लगभग वेश-भूषा एक-सी ही है । हाँ स्त्रियाँ स्तनांशुक और कूर्पासक आदि पहनती हैं पर इसके स्थान पर पुरुषों का कोई वस्त्र नही है ।

क्षौमयुग्म [1] दुकूलयुग्म [2] और कौशेय-पत्रोर्ण [3] युग्म आदि शब्दों से व्यक्त होता है कि पूरे शरीर को ढकने के लिए दो वस्त्र प्रयुक्त किए जाते थे । एक निम्न भाग के लिए और दूसरा ऊपर के भाग के लिए । पुरुष एक वस्त्र निम्न भाग को ढकने के लिए पहनते थे और दूसरा चादर या दुपट्टे की तरह ऊपर ओढ़ लेते थे । स्त्रियाँ भी एक वस्त्र निम्न भाग को ढकने के लिए धारण करती थीं और दूसरा ओढ़नी [4] की तरह ओढ़ लेती थी परन्तु इस प्रसंग में एक बात ध्यान देने की है वह यह कि ओढ़नी का विवाह अथवा किसी विशेष अवसर पर ही प्रसंग आया है, इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि यह आवश्यक नहीं था कि वे ओढ़नी ओढ़ें ।

नितम्ब के ऊपर अधिकांश मे दुकूल धारण किया जाता था [5] । स्त्रियाँ कभी-कभी अंशुक या क्षौम भी पहनती थी पर पुरुष कभी नहीं । अत कहा जा सकता है कि अंशुक से दुकूल मोटा होता होगा । इसी कारण निम्न भाग के लिए पुरुष तो दुकूल ही प्रयुक्त करते थे हाँ स्त्रियाँ दुकूल अधिक और अंशुक बहुत कम । वैसे भी पुरुष के वर्णन म हर जगह कवि ने कठोरता दिखाई है इसीलिए कदाचित् उससे अंशुक नही धारण करवाया ।

दुकूल पहना कैसे जाता था ?—साँची के कई अवशेषो मे (शुंग-कालीन) साड़ी पहनने की रीति आधुनिक बंगाली साड़ी पहनने की रीति से कहीं अधिक मिलती है । इसके अतिरिक्त दो और तरह से भी साड़ी पहनी

१ क्षौमयुग्म—अभि अंक ४ पृ ९८ २ दुकूलयुग्म—रघु ७।१८
३ माल अंक ५, पृ १५९
४ कुमार ८।२ अभि अंक १ पृ ११६, पृ ८८ माल ३।७
५ ऋतु १।४ २।२६ ४।३ रघु ७।१८ १९ पूर्वमेघ ४७ ऋतु ६।५
६ कुमार १।४ ८।७ उत्तरमेघ ७

जाती थी। एक में चुनन की लांग पीछे खोंस दी जाती थी दूसरे में बगल म। यह दोनों पुरुष की तरह ही हुई। पहली में भी एक भाग कमर में लपेट लिया जाता था और चुनन की लांग पीछे खोंस दी जाती थी[1]। डाक्टर मोतीचन्द्र का कहना है कि स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ही लांगदार धोती पहनते थे[2]। इस विषय पर प्रमाण सहित यद्यपि कुछ कहा नहीं जा सकता परन्तु फिर भी कुछ अपेक्षा स्पष्ट अवश्य है। इतना तो प्रमाणित है कि आजकल की साड़ी की तरह उस समय स्त्रियाँ दुकूल अथवा अंशुक धारण नहीं करती थीं क्योंकि कहीं आँचल का संकेत नहीं है। अतः कहा जा सकता है कि आजकल की-सी मर्यादा और लज्जा का भाव उस समय न था और स्त्रियाँ पुरुषों की तरह ही निम्न भाग के ऊपर साड़ी पहन लेती होंगी और उसके ऊपर रशना मेखला आदि धारण कर लेती होंगी पर इसकी सम्भावना कम है क्योंकि यदि ऐसा ही होता तो नीवी बन्धन का कोई अर्थ नहीं रह जाता। कवि ने नीवी-बन्धन शब्द का कई स्थानों पर प्रयोग किया है[3] अतः इसका भी कोई-न-कोई महत्त्व अवश्य होना चाहिए। चूँकि उस समय सिले कपड़ों का चलन नहीं था अतः लहँगा भी सीकर तो पहन लेती होंगी इसमें ही नीवी बन्धन हो सकता है, यह भी सम्भावना कम है। अतः इतना कहा जा सकता है कि वे दुकूल या अंशुक को लहँगे की तरह पहनती होंगी। आजकल की तरह नीचे पटीकोट नहीं पहन जाते थे क्योंकि मध्य और युग्म के यह बाहर का वस्त्र हो जाता अतः दुकूल स्थानान्तरित न हो इसलिए ऊपर रशना काञ्ची या मेखला किसी न किसी का कसना बहुत आवश्यक था। डाक्टर मोतीचन्द्र नीवी को कमरबन्द या पटका कहते हैं। हो सकता है कि दुकूल को लहँगे की तरह पहन कर ऊपर से इस कमरबन्द को बाँधकर पहन लिया जाता होगा। इसके ऊपर सौन्दर्य के लिए रशना आदि धारण कर ली जाती होगी।

दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि आजकल की तरह साड़ी नाभि के ऊपर से नहीं पहनी जाती थी। नाभि और त्रिवली दोनों ही दीखते रहते थे[4]। ऋतुसंहार के अनुसार वर्षा के जल से नाभि की रोमावली बहती हो जाती थी[5]।

[1] डा० मोतीचन्द्र प्राचीन वेश-भूषा पृ० ८१
[2] डा० मोतीचन्द्र प्राचीन वेश भूषा अध्याय ३ तथा अध्याय ६
[3] उत्तरमेघ ७ रघु० ७।६, कुमार० ७।६ ८।४
[4] डा० मोतीचन्द्र प्राचीन वेश-भूषा पृ० ११
[5] रघु० ६।८२ १६।६३ पूर्वमेघ ६ उत्तरमेघ २२ ऋतु० ५।१२ त्रिवलय–कुमार १।३६
[6] ऋतु० २।२६ कुमार १।३८

आजकल की तरह नीची साड़ी भी नहीं पहनी जाती थी क्योंकि एँड़ी और नूपुर सदा दिखाई पड़ते रहते थे। इसका यह भी आशय नहीं है कि यह घुटने तक ही रहती होगी। नीचे का सारा अंग ही ढका रहता होगा[1]।

स्तनांशुक तथा कूर्पासक—नाभि, त्रिवलय, रोमराजि और पयोधरों का सांगोपांग वर्णन इस बात की पुष्टि करता है कि आजकल के ब्लाउज की तरह कुछ न पहना जाता था। ये अंग खुले ही रहते होंगे। ग्रन्थों में 'स्तनांशुक'[2] का वर्णन बहुत है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि अंग-सौष्ठव वस्त्र धारण करने का प्रधान लक्ष्य था, अंग ढकना नहीं, अतः चूँकि उस समय अच्छा सीना कोई नहीं जानता था इसलिए स्तनांशुक का ही प्रयोग होता था। हाँ, घोर शीत में वे कूर्पासक[3] धारण करती थीं। डाक्टर मोतीचन्द्र इसे 'आधी बाँह की मिर्जई' कहते हैं[4]। यदि यह न भी माना जाय तब भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सर्दी से बचने के लिए ढीला-ढाला, कसा-सीला, जम्परनुमा कोई वस्त्र सीकर पहन लेती होंगी। कूर्पासक स्त्री और पुरुष दोनों का ही पहनावा थोड़े भेद से था। स्त्रियों के लिए यह चोली के ढंग का था और पुरुषों के लिए फतुई या मिर्जई के ढंग का। इसकी दो विशेषताएँ थीं, एक तो यह कटि से ऊँचा रहता था दूसरे प्रायः आस्तीन रहित। वस्तुतः कूर्पासक नाम इसलिए पड़ा कि इसकी आस्तीन कोहनियों से ऊपर ही रहती थी[5]।

अंशुक रेशमी वस्त्र है और इतना महीन कि कभी-कभी निःश्वास से भी उड़ जाय[6]। इसी का टुकड़ा लेकर वे वक्षःस्थल पर सामने से ले जाकर पीछे गाँठ बाँध लेती थीं वैसे ही जैसे शकुन्तला ने वल्कल बाँध रखा था[7]।

ओढ़नी—अंशुक अथवा दुकूल तथा उत्तरीय[8] के ओढ़ने का भी प्रसंग यत्र-तत्र मिलता है। दुष्यन्त के सम्मुख जब शकुन्तला गई थी तब उसका मुख ढका हुआ था अतः अवश्य ही ओढ़नी की तरह झीना उसने ओढ़ रखा होगा[9]। इसी

---

१ निर्नाभि कौशेयम्—कुमार ७।७
२ विक्रम ५।१२, ४।१७; ऋतु १।७, ४।१, ६।५
३ ऋतु ४।१७, ५।८
४ डा. मोतीचन्द्र, प्राचीन वेश-भूषा, पृष्ठ १६१
५ वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ १५२
६ रघु १६।४३ ७ अभि. अंक १, पृष्ठ १३
८ रघु १६।१७; अभि. अंक ६, पृष्ठ ११९
९ अभि. अंक ५, पृष्ठ ८८, अपनेष्यामि तावदस्यावगुण्ठनम् ५।१३

प्रकार मालविका भी वसन्तोत्सव पर विवाह की वेष भूषा में छोटी-सी ओढ़नी ओढ़े हुए थी[1]। पार्वती भी लघुवरासमवती थी[2]। विवाह के समय अवगुण्ठन[3] का चलन था। अतः अवश्य ही कुछ ओढ़ा जाता होगा। कौशेयपत्रोर्णयुगलम्, क्षौमयुग्म अथवा दुकूलयुग्म शब्दों से स्पष्ट ही है कि ओढ़ने का कोई पृथक वस्त्र नहीं था। इन्हीं दो में से एक नीचे और एक ऊपर धारण किया जाता था।

ओढ़न का ढंग—ओढ़ने के दो ही ढंग हो सकते हैं या तो दोनों छोर सामने लटकते रहते थे या एक सामने और दूसरा कन्धे पर डाला हुआ पीछे जा सकता है। आजकल जैसा लहँगे के साथ दुपट्टा ओढ़ा जाता है वैसा कोई ढंग उस समय न था क्योंकि पहले ही कहा जा चुका है कि पयोधर खुले दीखते ही रहते थे। कुमारसंभव सर्ग ८ श्लोक २[4] को देखने से ऐसा आभास होता है कि छोर सामने ही लटकते रहते थे नहीं तो शंकरजी कभी अंशुक पकड़कर खाने से नहीं रोक सकते थे। डाक्टर मोतीचन्द्र का भी ऐसा ही अनुमान है कि ओढ़नी नाममात्र के ही लिए पड़ी रहती थी। कभी-कभी वे सिर भी ढक लेती थीं। परन्तु ऐसा आवश्यक नहीं था। शायद विवाहादि अवसरों पर वे ढक लेती होंगी[5]।

पुरुषों की वस्त्र-भूषा—स्त्रियों की तरह पुरुष भी दो वस्त्र उपयोग करते थे। शकुन्तला के लिए यदि क्षौमयुग्म[6] शब्द आया है तो अज के लिए दुकूल-युग्म[7]। इसका आशय यह है कि एक निम्न भाग को आवृत करने के लिए और दूसरा ऊपर के भाग को ढकने के लिए उपयोग किया जाता था। ऊपर वाला दुपट्टा या उत्तरीय होता था जो कदाचित् कन्धों से होता हुआ कांख के नीचे से निकाल लिया जाता होगा अथवा वक्ष ढकता हुआ बाएं कन्धे पर रख लिया जाता होगा। इस उत्तरीय का प्रयोग स्थान अथवा अवसर विशेष पर किया जाता था। विवाह, राज्याभिषेक अथवा जनता में जाते समय[8]। साधारण रूप से उनके शरीर का ऊपरी भाग अनावृत ही रहता था कंचुकी अथवा सिले हुए किसी

---

१ माल ५।७ | २ कुमार ५।१६

३ अवगुण्ठनवती दृश्या—माल अंक ५ पृष्ठ १५६

४ व्याहृता प्रतिवचो न संदधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥

५ माल ५।७ | ६ अभि अंक ४ पृ ९८

७ रघु ७।२१६ | ८ रघु ७।१८।१९ (विवाह)

वस्त्र का कहीं प्रयोग नहीं आया है। पहनने के वस्त्रों में क्षौम[1] और दुकूल[2] दो ही नाम मिलते हैं। राज्याभिषेक आदि मांगलिक अवसरों पर क्षौम[3] और वैसे अधिकतर दुकूल ही वे धारण किया करते थे। श्री डाक्टर मोतीचन्द के अनुसार दुकूल को वे लुंगियार धोती की तरह पहनते थे[4]।

वारबाण[5]—डा. वासुदेव के अनुसार गुप्त सिक्कों पर समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त आदि जैसा कोट पहने हैं, वही वारबाण ज्ञात होता है। वारबाण कंचुक की अपेक्षा ऊँचा मोटा लिफाफे की तरह का कोट था जिसका ईरान में चलन था। यह भी कंचुक की तरह का ही पहनावा था पर इससे कम लम्बा घुटनों तक नीचा होता था[6]। डा. मोतीचन्द इस तरह के ऊनी कपड़ों में इसका नाम लेते हैं। वारबाण भी ऊनी होते थे[7]। श्यामा शास्त्री की टीका में इसका अर्थ कोट किया हुआ है[8]।

उष्णीष—सिर पर पगड़ी बाँधने का भी उस समय प्रचलन था। कालिदास के ग्रन्थों में अलकवेष्टन, शिरसा[9] वेष्टन शोभिना, शिरस्त्र बाल[11] शब्दों का प्रमाण मिलता है।

'अलकवेष्टन' शब्द से ऐसा आभास होता है कि इस प्रकार की पगड़ी के छोरे सिर के लम्बे बालों से मिला-मिला कर बाँधे जाते थे अर्थात् इस प्रकार की पगड़ी बालों के साथ ऐसी फँस-सी जाती थी कि पगड़ी सिर से उतार कर कहीं रखी नहीं जा सकती थी।

'शिरसा वेष्टनशोभिना' भी पगड़ी का ही दूसरा नाम है परन्तु प्रथम प्रकार की पगड़ी से यह विभिन्न है। यह पगड़ी रघु के चरणों पर अज ने रखी है। अतः यह बाँधे जाने के पश्चात् सिर से हटाई जा सकती थी। पगड़ियाँ वैसी

---

१ रघु १२।८
२ रघु ७।१८, १९, १७।२५, कुमार ५।७८
३ रघु १२।८
४ डा. मोतीचन्द प्राचीन वेशभूषा पृ. ७७ अध्याय ६
५ तद्योधवारबाणानामनल्पपटवासताम्।—रघु ४।५५
६ डा. मोतीचन्द प्राचीन वेशभूषा पृ. १५
७ डा. मोतीचन्द प्राचीन वेशभूषा पृ. ६२
८ डा. मोतीचन्द प्राचीन वेशभूषा पृ. ६१
९ रघु १।४२ १० रघु ८।१०
११ रघु ७।६२

बँधाई पहनी जाती थी[1]। स्वयं इस शब्द से ऐसा आभास होता है कि यह बालों से न उलझ कर सिर के दो भागों और घुमा-फिरा कर बाँधी जाती होगी।

युद्ध के प्रसंग में 'शिरस्त्राण' शब्द का प्रयोग हुआ है अतः यह शिरस्त्र शिरस्त्राण आदि की ही तरह लगता है[2]। यह भी सम्भव हो सकता है कि पगड़ी बाँधने से पहले सिर पर लोहे की चिपकी टोपी रख कर ऊपर पगड़ी ऐसी सटी-सटी बाँधी जाती हो कि जाल की तरह सारी टोपी को ढक दे।

पगड़ी के स्थान पर सोने के पट्ट भी धारण किए जाते थे। इसके लिए जाम्बूनदपट्ट[3] शब्द कवि ने प्रयुक्त किया है।

कभी-कभी पगड़ी को सजाने के लिए मोतियों की लड़ियों का भी प्रयोग किया जाता था (डा मोतीचन्द प्राचीन वेश-भूषा पृ ७७)।

जूता—रघुवंश में श्री रामचन्द्र की पादुका का प्रसंग आया है[4]। इसी प्रकार मालविकाग्निमित्र में भी पादुका शब्द का प्रयोग मिलता है[5]। इससे विशेष बात तो निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती। सम्भव है कि आजकल की तरह चमड़े के जूते उस समय न पहने जाते हों। बाँस तृण मूँज अथवा लकड़ी कम्बल आदि के जूते ही सब प्रयोग करते हों। इस बात की इस कारण सम्भावना है कि आजकल भी जहाँ आधुनिक सभ्यता पूरी तरह नहीं घुसी है, विशेषकर पहाड़ी स्थानों में घास और मूँज की चप्पलें काम में लाई जाती हैं। अतः कहा जा सकता है कि इसी प्रकार की पादुका ही उस समय प्रचलित होगी। अमीर मनुष्य इन्हीं पादुकाओं को चाँदी सोने तथा वैदूर्य आदि मणियों से जड़ लेते होंगे।

उत्तरच्छद[6]—इन वस्त्रों के अतिरिक्त शय्या सिंहासन आदि पर चादर बिछाई जाती थी जो उत्तरच्छद कहलाती थी।

उपधान—शय्या पर उपधान[7] का भी प्रयोग प्रचलित था। डा मोतीचन्द उपधान को पर से भरी तकिया कहते हैं (प्राचीन वेश-भूषा पृ १९, भूमिका)।

वस्त्र परिवर्तन—ऋतुसंहार इस बात को पूर्णतः स्पष्ट करता है कि ऋतुओं के अनुसार मनुष्य वस्त्र परिवर्तित कर लेता था। दिन तथा रात के

---

१ डा मोतीचन्द प्राचीन वेशभूषा भूमिका पृ ११
२ रघु ७।६२ ६६ ३ रघु १८।४४ ४ रघु १२।१७
५ चरणं खलु मया पादुकोपयोगेन दूषितम् —माल अंक ५, पृ १७०
६ हंसधवलोत्तरच्छद —कुमार ८।८२ ८।८९ भिन्नविषमोत्तरच्छद—रघु ६।४ १७।२१ विक्रम अंक ५, पृ २१९
७ कुमार ५।१२

वस्त्र पृथक-पृथक रख जाते थे[1]। स्नान करने के समय वस्त्र परिवर्तन कर लिया जाता था। यह स्नानीयक कहलाता था[2]। इसी प्रकार विवाह राज्याभिषेक आदि अवसरों पर वेश-भूषा नितान्त दूसरी हो जाती थी[3]। व्रत उत्सवादि के अवसर पर भी वस्त्र परिवर्तित कर लिया जाता था[4]।

कपड़े सुगन्धित करने की प्रथा—वस्त्रों को कालागुरु आदि के धुएँ से सुवासित भी कर लिया जाता था। इस बात का उल्लेख ऋतुसंहार और रघुवंश दोनों मे है[5]।

वेश भूषा के प्रकार

कवि के ग्रन्थों मे नाना प्रकार की वेश भूषाओं का परिचय मिलता है। मनुष्यों की रुचि वस्त्र और वेश-भूषा की ओर यथेष्ट परिपक्व थी। अवसर परिस्थिति और ऋतु के अनुसार वे पृथक-पृथक वेश भूषा धारण किया करते थे। ग्रीष्म की वेश-भूषा और शीतकालीन वेश-भूषा में अन्तर था जो वैवाहिक वेश-भूषा थी वह यती अथवा विरही को नहीं थी। अभिसारिका को और शिकारी की कुछ और ही अस्तित्व लिए हुई थी परन्तु इन सब वेश-भूषाओं की रेखा मात्र ही है, शेष सब अनुमान ही करना पड़ता है।

शिकारी की वेश-भूषा—शकुन्तला और रघुवंश दो ग्रन्थों में इसका संकेत मिलता है। दुष्यन्त अपने परिजनो से कहता है कि 'अपनयन्तु मृगयावेषम्।'[6] इससे इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि शिकार करते समय विशेष प्रकार की ही वेश-भूषा होगी। इससे अधिक स्पष्ट प्रतीति रघुवंश में है। श्रीदशरथजी आखेट करने के समय अहेरी का वेश धारण किए हुए थे। उनके कँधे पर धनुष टँगा था उनके केशों म वनमाला गुँथी हुई थी और वे वृक्षा के पत्तो के समान गहरे हरे रंग का कवच पहने हुए थे[7]। इससे यह निष्कर्ष अवश्य निकाला जा सकता है कि शिकार करते समय हरे रंग के वस्त्र पहने जाते थे इस कारण कि जानवर हरे-हरे पत्तो के बीच उनको पहचान न सकें इसी कारण सिर म जंगली फूलो की माला भी गुँथी रहती होगी जिससे यह फूल कवच-रूपी हरे-हरे पत्तों के बीच खिले हुए लगें।

दासियों की वेश-भूषा—मालविकाग्निमित्र मे राजकुमारी मालविका और परिव्राजिका की दासा पर केले है। इन दासियों की वेश-भूषा स्वयं परिव्रा-

---

१ ऋतु ५।१४ २ माल ३।१२ कुमार ७।६
३ कुमार ७।११ रघु १७।२५ हंसमिथुनयुक्त १२।८ मंगल्यामि ७।१८
४ विक्रम ३।१२ रघु ११।६९ ५ ऋतु ५।१६ रघु १२।४१
६ अभि अंक २ पृष्ठ १२ ७ रघु ९।५ ५१ ८ माल ५।१

किा इस प्रकार बताती है—सहसा कन्धों पर तूणीर कसे, पीठ पर लम्बे-लम्बे पंख बांधे हुए और हाथ में धनुष-बाण लिए हुए शक हम पर टूट पड़े। अतः कहा जा सकता है कि ये लोग हाथ म धनुष-बाण लिए रहते होंगे। कन्धों पर तूणीर बंधा रहता होगा और पीठ पर लम्बे-लम्बे पंख किसी चिड़िया या मोर शुतुर्मुग आदि के धारण करते होंगे।

मछुए की वेश-भूषा—अभिज्ञानशाकुन्तलम् के अंक ६ मे मछुए का प्रसंग आया है जिसे राजा की गिरी अँगूठी प्राप्त होती है। वस्त्रविन्यास में कोई बात नहीं मिलती पर उसके पास से कच्चे मास की दुर्गन्ध आ रही थी ऐसा कहा गया है।

यवनी वेश—यह पहले ही कहा जा चुका है कि स्त्रियाँ कम-से-कम दो अधिक-से-अधिक तीन वस्त्र पहनती थी। यवनी का भी यही वेश होगा। अन्य स्त्रियों से यवनी का वेश थोड़ा पृथक रहता था। शिकार के समय वे गले मे वनैली फूलों की माला तथा हाथ म सदा धनुष रखती थी[१]। यवनी राजा की सेविकाएँ होती थी।

द्वारपाल की वेश-भूषा—कवि के समस्त ग्रन्थों म द्वारपाल का प्रसंग है परन्तु उनमें फिर भी कभी वेश का स्पष्ट आभास नहीं दिया। इसकी वेश-भूषा म कोई विशेषता न रही होगी हाँ हाथ मे बेंत की छड़ी का अवश्य सब स्थानों में कथन है[२]।

अभिसारिका—अन्य स्त्रियों से इनका वस्त्र-विन्यास पृथक रहता था। इनका काम ही आकर्षित करना तथा रिझाना था अतः वस्त्रों और आभूषणों की तड़क-भड़क इनकी विशेषता थी। परिस्थिति के अनुसार उनका वेश भी परिवर्तित रहता था। उत्तरमेघ म उनका वर्णन बालों मे मन्दार के पुष्प कानों म स्वर्ण कमल और गले म मोतियों की माला इस प्रकार किया है[४]। इससे यह स्पष्ट होता है कि वे केशों मे फूल तथा कान गले आदि म सुन्दर-सुन्दर आभूषण धारण किया करती थी। वे कभी-कभी चमकते सुन्दर नूपुर पैरों में पहना करती थी[५] परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि आभूषण वे बहुत अधिक धारण करती थीं क्योंकि विक्रमोर्वशी में अल्पाभूषणभूषित नीलांशुकपरिग्रह अभिसारिकावेश[६] आया है।

---

१ अभि अंक ६ पृष्ठ १८ २ अभि अंक २ पृष्ठ २७
३ अभि अंक ५, ३
४ उत्तरमेघ ११ ५ रघु १६।१२
६ विक्रम अंक ३ पृष्ठ १२८

तपस्वियों की वेश-भूषा—वर्णाश्रम धर्मानुसार सभी मनुष्य गृहस्थाश्रम के सुखों को भोगने के पश्चात् जीवन के अन्तिम दिनों में विरक्त हो संन्यास धारण कर लेते थे। तपस्वी ऋषि मुनि सभी वल्कल[1] धारण किया करते थे। कुमार-सम्भव में पार्वती जब श्री शंकरजी को प्राप्त करने के लिए तपस्विनी बन वन में गई तब उन्होंने प्रातःकालीन सूर्य के समान लाल-लाल वल्कल लपेट लिया था[2]। इसी प्रकार सीताजी ने भी राम द्वारा परित्यक्त किए जाने पर वल्कल धारण कर लिया था[3]। स्वयं श्री राम ने राज्याभिषेक के वस्त्र त्याग कर वल्कल वस्त्र वनवास जाने के लिए पहन लिए थे[4]। श्री भरत ने भी राज्य को स्वीकार न कर चीर-वस्त्र धारण कर लिए थे[5]। रघुवंशी सभी राजा अन्त में वल्कल पहनते थे[6]।

तपस्वियों की वेष भूषा का बहुत स्पष्ट आभास अभिज्ञानशाकुन्तलम् में मिलता है। दुष्यन्त आश्रम के निकट बिना किसी के बताए अनुमान कर लेते हैं कि यह तपोवन है। नदी-शाखाओं पर वे नहाते होंगे वल्कल वस्त्रों को धोते भी होंगे क्योंकि उनकी टपकी हुई बूँदें मार्ग भर में मिलती हैं[7]। स्वयं शकुन्तला भी वल्कल ही धारण करती है, इसका आभास दो स्थानों पर मिलता है प्रथम जब शकुन्तला अपनी सखी अनसूया से कहती है, 'सखि अनसूये! अति पिनद्धेन वल्कलेन प्रियंवदया नियन्त्रितास्मि। शिथिलय तावदेतत्।[8] स्वयं दुष्यन्त तक कहता है—'काममननुरूपमस्या वपुषो वल्कलम् ....'[9] इसके पश्चात् भी दुष्यन्त जब शकुन्तला का चित्र बनाता है तब एक ऐसा भी वृक्ष बनाता है जिस पर वल्कल टँगे हुए थे[10]। अतः तपस्वि-कन्याएँ तथा तपस्वी दोनों ही वल्कल वस्त्र अवश्य पहनते थे।

वल्कल के अतिरिक्त जटाएँ धारण करना कमर में मूँज की बनी त्रिगुणी मौञ्जी को धारण करना हाथ में रुद्राक्षमाला लेना उनकी विशेषता थी[11]। तपस्या करते समय न केवल पार्वती की ही ऐसी रूपरेखा थी अपितु शिवजी भी जटा बाँध मृगछाला कमर में गाँठ बाँध कर पहन कर बाघम्बर पर बैठ कर तपस्या कर रहे थे। उनके कानों में रुद्राक्ष की माला टँगी हुई थी[12]। अतः वल्कल के

---

१ देखिए, पादटिप्पणी नं २ ३ ४ ५ ६ के सब प्रसंग
२ कुमार ५।८
३ रघु १४।८२
४ रघु १२।८
५ रघु १२।१६ १३।२२
६ रघु १८।२६ ८।११
७ अभि १।१४
८ अभि अंक १ पृष्ठ ११
९ अभि अंक १ पृष्ठ ११ श्लोक १९
१० अभि ६।१७
११ कुमार ५।३१
१२ कुमार ३।४६

अतिरिक्त वे मृगचर्म आदि को भी कमर पर धारण कर सकते थे। इंगुदी के तेल को वे सिर में डाला करते थे (अभि अंक २ पृष्ठ १४)।

अजिन धारण करना आवश्यक था। तपस्वी के समान ही ऋषि मुनि भी शरीर पर वल्कल, हाथों में माला और कन्धे पर यज्ञोपवीत धारण किया करते थे[१]।

इनकी कन्याएँ सोने-चाँदी के आभरणों के स्थान पर पुष्पों के आभूषण पहनती थी। इनके आभूषण अधिकतर कमलनाल के ही होते थे[३]। सिरस के फूल कानों में और कमलतन्तु की माला गले में पहनना[४] इसकी सूचना देता है कि ये सब साधारण स्त्रियों की तरह आभूषणप्रिय थी। इसी प्रकार हाथों में कमलनाल का वलय धारण कर लिया करती थी[५]।

वैरागी अपने वस्त्रों के स्थान पर काषाय वस्त्र धारण करते थे[६]।

राजा की वेश-भूषा—अन्य पुरुषों की तरह वे दुकूल अथवा क्षौम धारण[७] किया करते थे। उनके सिर पर राजमुकुट[८] शोभायमान रहता था। छत्र[९] और चँवर[१] इनके विशेष चिह्न थे। इनके चरणों को रखने के लिए एक चौकी[११] रहती थी जो मणिपीठ या हेमपीठ कहलाती थी। इसके अतिरिक्त राजदण्ड[१२] भी इनका चिह्न था। यदि राजा दरबार में सिंहासन पर न बैठ कहीं बाहर भी जा रहा हो या उपस्थित हो तब भी उसके साथ छत्र चँवर, मुकुट अवश्य रहेगा। इसके अतिरिक्त उनके सभी आभूषण रत्नजटित सोने और मुक्ता के होंगे।

किरात की वेश-भूषा—कुमारसम्भव में यह भी केवल एक स्थान पर

---

१ कुमार ५।१ २ कुमार ५।६ विक्रम ३।१२
३ अभि ३।२४—विद्याभरण ३।११ ४ अभि ६।१८
५ अभि ३।७
६ इमे काषाये गृहीते।—माल अंक १ पृष्ठ १२
७ रघु ११।८ १७।२५, ७।१८ १९
८ रघु ७।८५ ६।१९ ३१ १८।३८ ४१ ६।११ २ ११।५९, १ ७५
कुमार ३।७१ विक्रम ७।६७
९ रघु ९।१३ ३।१६ ७।५, ८६, १७।११ १७।३३ १८।७०
विक्रम ७।११
१ रघु १७।११ १७।१७ मालु ३।७ विक्रम ७।११ रघु १३।११
११ रघु ७।८४ ६।१५, १७।२८ १८।४१
१२ अभि ५।८

किरातों के विषय में कहा गया है कि यह कमर में मोर के पंख धारण करते थे[1]।

शिव के गणों की वेश-भूषा—भी शंकर भगवान् के शिष्य और अनुयायी सिर पर नमेरु के फूलों की माला पहनते थे। शरीर पर भोजपत्र धारण कर मैनसिल से शरीर रँगते थे[2]।

वैवाहिक वेश-भूषा—कवि शृंगार-प्रिय है इसमें कोई सन्देह नहीं। वैवाहिक-वेश-भूषा का उसने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। कदाचित् विवाह का वेश श्वेत होता था क्योंकि वैवाहिक वस्त्र पहनकर पार्वती काश के फूलों से युक्त पृथ्वी की तरह शोभायमान हुई थी[3]। रेशमी वस्त्र[4] अथवा हंसचिह्न युक्त[5] विवाह का मुख्य वस्त्र था। इनकी अनुपस्थिति में कौशेयपत्रोर्ण[6] भी प्रयोग किया जा सकता था। इस समय ओढ़नी अवश्य ओढ़ी जाती थी क्योंकि वस्त्र के नाम के साथ युग्म शब्द आया है[7]। अवगुण्ठन का भी प्रचार होगा। मालविका को अवगुण्ठनवती करके ही धारिणी ने अग्निमित्र को सौंपा था[8]। वैवाहिक सजावट भी विशेष प्रकार की थी। हाथ में विवाह कौतुक अथवा ऊन का कंगन मुख पर चन्दनादि से पत्र रचना केश में महुए की माला गूँथना अंजन अंगराग आलक्तक धारण माथे पर विवाह का हरताल और मैनसिल से बना तिलक सब वधू की शोभा को द्विगुणित कर देते थे[9]। इन सब के अतिरिक्त योग्य आभूषण इस समय कन्या धारण करती थी[10]। विवाह की वेश भूषा और शृंगार अत्यधिक सविशेष ही था[11]। नववधू लाल रंग का अंशुक धारण करती थी (रक्तांशुक—ऋतु ६।२१)।

कन्या के समान वर भी वैवाहिक शृंगार किया करता था। शरीर पर

---

१ कुमार १।५५ २ कुमार १।५५
३ कुमार ७।११ ४ कुमार ७।२६
५ कुमार ५।६७ ६ ७ माल अंक ५ पृ १४६
८ ओढ़नी ओढ़े थी।—माल १।७ अवगुण्ठन—माल अंक ५ पृ १४६
६ कुमार ५।६६ ७।२६ रघु १६।८८
१० कुमार ७।१४ १५, १७ १८ १६ २० २१ २४
११ कुमार ७।१६, २१ माल ५।७
१२ यत्स्वं प्रसाधनगर्वं वहति तद्दर्शय मालविकाया शरीरे विवाहनेपथ्यमिति।—माल अंक ५, पृ १४१। विवाहनेपथ्येन बहु शोभते मालविका पृष्ठ १४१।

अंगराग धारण कर[1] सुन्दर-सुन्दर आभूषण पहनकर[2] उसकी सुन्दरता और भी खिल उठती थी। हंस भाँति जिसमें गोरोचन से बने हों ऐसा दुकूल इस समय पहना जाता था[3]। माथे पर हरताल का सुन्दर तिलक[4] और सिर पर मुकुट[5] उसको मानो यथार्थ में राजा बना देते थे। आतपत्र और उसके आसपास हिलते हुए चँवर[6] उसके तेजोमण्डल को प्रदीप्त कर देते थे। किसी विशाल वाहन पर[7] आसीन हो संपत्स्वामा[8] के साथ वर कन्यापक्ष के द्वार पर विवाह के लिए आया करता था।

विरहिणी और विरही की वेशभूषा—प्रेमाख्यानक काव्य होने के कारण विरहिणी और विरही का वर्णन बहुत अधिक है। स्त्रियाँ विरह में समस्त शृङ्गार छोड़ देती थीं। मलिन वस्त्र धारण कर अतीत की याद में ही अपना समय व्यतीत किया करती थीं[9]। उनके बाल रूखे और लटकते रहते थे। वे एक वेणी ही धारण करती थीं। पति ही विरहावस्था की समाप्ति पर उनके बाल सुलझाता था। नख बढ़ते रहते थे। आँखें काजलरहित तथा होठों का रँगना छूट जाता था। आभूषणों को वे नहीं पहनती थीं। अधिकतर वे व्रत पूजा अथवा उपवास करती रहती थीं। यक्ष की पत्नी मालविका शकुन्तला सबकी ही दशा इसी प्रकार कवि ने खींची है।[10]

पुरुष भी इसी प्रकार प्रिया का चित्र बनाते रोते और याद करते थे। उनका शरीर कृश हो जाता था। आभूषण उन स्थानों पर से बार-बार नीचे आ सरकते थे। वे स्वयं आभूषण पहनना छोड़ देते थे। राजकाज मन्त्री पर

---

१ कुमार ७।१२		२ कुमार ७।१४	
३ कुमार ७।१२		४ कुमार ७।३३	
५ कुमार ७।३२		६ कुमार ७।४२	
७ कुमार ७।३७		८ कुमार ७।४	

९ वसने परिधूसरवसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति॥ —अभि ७।२१
—मालविकाग्निमित्र —आल अंक ३ पृ २१९
—मलिनवसने —उत्तरमेघ २६

१० उत्तरमेघ २३–२७ १ ३१ ३३ ३४ ३७ ३

११ वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति॥—अभि ७।२१

छोड़ के प्रिया की याद में ही दिवस व्यतीत करते थे[1]। पुरूरवा तो उर्वशी के विरह में प्रमत्त का-सा आचरण करने लगा था[2]।

व्रती की वेश-भूषा—पार्वती ने व्रत के समय आभूषण तथा रेशमी वस्त्र का परित्याग कर दिया था। नेत्रों में अंजन और होंठों में लाक्षारस लगाना छोड़ दिया था[3]। साधारण रीति से यदि गृहस्थों की स्त्रियाँ व्रत करती थीं तो वे श्वेत रेशमी वस्त्र धारण करती थीं। शरीर पर मांगलिक आभूषण और केश में दूर्वांकुर शोभायमान रहता था[4]।

यज्ञ के समय का वेश—मृगछाला कमर में पहनना तथा मेखला धारण करना आवश्यक था। यज्ञ के समय हाथ में दण्ड और मृगशृंग ले लिया जाता था[5]।

छात्र-वेश—पवित्र रुरु के चर्म को पहन कर पिता से रघु ने शिक्षा ग्रहण की थी।[6] अतः निष्कर्ष यह निकलता था कि ऐश्वर्य-भोग और विलास को त्याग कर सादगी अपनाना ही छात्रों का उद्देश्य था।

स्नानीय वेश—स्नान करते समय एक पृथक ही वस्त्र धारण किया जाता था जिसे स्नानीय-वस्त्र कहते हैं। स्नान करने के पूर्व तैल उबटन आदि लगाया जाता था इसी कारण यह वस्त्र-विशेष धारण करना आवश्यक था[7]।

राज्याभिषेक की वेश-भूषा—राज्याभिषेक के समय तीर्थों आदि के जल से स्नान करवाने के पश्चात् केश को फूल और मोतियों से सजाया जाता था। कस्तूरी की सुगन्ध से युक्त अंगराग से मुख पर चित्रकारी की जाती थी। सिर पर पद्मराग मणि आभूषण माला आदि राजा धारण करता था और विवाह की तरह इस समय हंसचिह्न युक्त जोड़ा लेता था। छत्र चँवर मुकुट पादपीठ उसकी राज्यसत्ता को प्रमाणित और राज्याभिषेक को पूर्ण कर देते थे[8]।

ग्रीष्मकाल का वेश—ग्रीष्मकाल में मोटे-मोटे वस्त्र उतार कर झीने पतले वस्त्र धारण करना ही मनुष्यों को प्रिय था[9]। स्त्रियाँ रेशमी वस्त्र पहन स्तनों

---

१ अभि ५।६ अंक ६ पृ १ ७ १ ८ पूरा अंक ६ कथाता—इसके पूर्व ३।११ माल ३।१—इसका। अंक ३ पृ ३ ४ इसका। पूर्वमेघ २ उत्तरमेघ ४९ ४७ ४६ ५ ५१

२ विक्रम अंक ४ पद्य

३ कुमार ५।५१ १४ ११

४ विक्रम ३।१२

५ रघु १।२१

६ रघु ३।३१

७ कुमार ७।६ माल ५।१२

८ रघु १७।१६ २२ २५ २७ २८ ३३

९ ऋतु १।७

जाता है[1]। लाल वल्कल[2] कुंकुम के रंग में रँगी चोली[3] कान और केशों में कर्णिकार और अशोक के पुष्प[4] अंगराग रचना आदि[5] से उनका शरीर पुन सुन्दर हो उठता है। मुख पर पत्र-रचना वक्ष स्थल पर प्रियंगु कालीयक कस्तूरी और केसर का अवलेप लगाती है। कालागुरु से सुगन्धित और महावर से रँगे महीन वस्त्र धारण[6] करने से उनका सौन्दर्य खिल उठता है।

आभूषण

नानाप्रकार के वस्त्रों की तरह स्त्री-पुरुष तरह-तरह के आभूषण पहनने के शौकीन थे। वे नानाप्रकार के आभरण[7] भूषण[8] तथा मण्डन[9] से अपना शरीर अलंकृत किया करते थे। रघुवंश कुमारसम्भव मेघदूत ऋतुसंहार अभिज्ञान-शाकुन्तलम् विक्रमोर्वशीय मालविकाग्निमित्र प्रत्येक ग्रन्थ मे अनगिनत प्रकार के आभरण तथा आभूषण आए हैं।

प्रकार—आभूषणों को पृथक्-पृथक् न लेकर यदि वर्ग में विभक्त कर दिया जाय तो कहा जा सकता है कि उस समय रत्नजटित आभूषण[10] स्वर्णाभूषण[11] मुक्ता के आभूषण[12] तथा पुष्पाभरण[13] धारण किए जाते थे।

मणियाँ—रत्न-जटित आभूषणों में भी कवि ने पृथक्-पृथक् रत्नों के नाम

---

१ ऋतु ६।३ ७   २ ऋतु ६।१२

३ ऋतु ६।५   ४ ऋतु ६।६

५ ऋतु ६।७   ६ ऋतु ६।१४ १५

७ माल ५।७ ऋतु २।१२ उत्तरमेघ १३ १५ कुमार ३।८३ ७।२१ रघु १७।५४ रघु १६।४१ ८६ विक्रम अंक ३ पृ १६८

८ भूषण—रघु १८।४५ १६।४५ उत्तरमेघ १२ ऋतु १।१२

९ मंडन—कुमार १।४ ७।५ उत्तरमेघ १२ अभि ६।६

१० ऋतु २।५ मणिकुंडल—२।२ मणिनूपुर—ऋतु १।२७

११ कांचनकुण्डल—ऋतु ३।१९ कांचनवलय—अभि ६।६

१२ उत्तरमेघ ३ मुक्ताजाल—उत्तरमेघ ६८ ४९ रघु १३।४८ १६।४५ पूर्वमेघ १४ कुमार ७।८६

१३ ऋतु २।१८ २१ २५ ऋतु ३।१९, ७।२ ६।८ ६।१ ६ ११ माल अंक ३ पृ ३ ५ ३ ६ विक्रम ४।७४ ६१ अभि १।७ १९ १।४ ९८ ६।१८

किया है। वैदूर्य मणि[1] इन्द्रनील[2] महानील[3] पद्मराग[4] मूँगा[5] मरकत[6] चन्द्रकान्त[7] सूर्यकान्त[8] शिव मणि[9] अर्थात् हीरा प्रत्येक मणि उस समय थी और इसे प्रयुक्त करने की रीति सबको भली प्रकार ज्ञात थी। दूसरे शब्दों में आजकल जितने प्रकार की भी मणियाँ देखी जाती हैं उस समय भी सब थीं। यहाँ तक कि नीलम के दो भेद एक हल्के नीले रंग का और दूसरा गहरे नीले रंग का भी कवि ने इन्द्रनील और महानील से दिखा दिए हैं। सूर्यकान्त और चन्द्रकान्त के आभूषण नहीं हैं परन्तु हर्म्यों प्रासाद आदि में उनका उल्लेख कवि ने किया है।

स्त्री और पुरुष के आभूषणों में अन्तर—स्त्री और पुरुष लगभग एक-से ही आभूषण पहनते थे। अंगद वलय हार, अंगूठी कर्णफूल दोनों के ही आभूषण हैं। पुरुष वलय केवल दाएँ हाथ में पहनते थे। वे गले में माला भी पहनते थे। कमर के आभूषण रशना मेखला कांची और पैरों के नूपुर स्त्रियाँ ही धारण किया करती थीं। इसी प्रकार पुष्पों से स्त्रियाँ ही अपना शरीर अलंकृत करती थीं पुरुष नहीं। पुरुषों का भी एक अलंकार विशेष था शिखा-मणि किरीट या मुकुट। सामान्य रूप से सभी पुरुष नहीं अपितु केवल राजा ही इसको धारण किया करता था।

सिर के आभूषण

शिखामणि किरीट मौलि आम्बूनदपट्ट आदि सिर के भूषण हैं परन्तु यह जनसाधारण के धारण की वस्तु नहीं। केवल राजा ही इन सबको धारण किया करते थे।

चूडामणि —साधारण रूप से इसको मुकुट का ही पर्यायवाची मानते हैं परन्तु यह स्वयं संकेत करता है कि साधारण मुकुट से यह भिन्न रहा होगा। मुकुट में मणि हो या न हो परन्तु चूडामणि में बीच में एक बहुत बड़ी मणि का होना बहुत आवश्यक है। यह अन्य स्थलों से अधिक एक स्थल पर स्वयं कवि ने

१ कुमार ७।१ उत्तरमेघ १६ ऋतु २।१
२ पूर्वमेघ ५ उत्तरमेघ १७ रघु १३।५४ १६।६९
३ रघु १८।४२ ४ रघु १७।२३ १८।४२
५ कुमार १।४४ पूर्वमेघ ४४ ६ पूर्वमेघ ४४ उत्तरमेघ १६
७ उत्तरमेघ ५ कुमार ८।६७ ऋतु ३।२१
८ कुमार ८।७५ अभि २।७ ९ उत्तरमेघ ६, रघु १८।३१
१ रघु १७।२८ कुमार ६।८१ ७।१२

स्पष्ट किया है । शंकरजी ने जब वैवाहिक-वेष धारण किया तब उनके मस्तक के बीच चमकता चन्द्रमा उनका चूडामणि बन गया [1]।

शिखामणि[2]—जिस प्रकार राजा चूडामणि धारण किया करते थे उसी प्रकार सामन्त शिखामणि । शिखामणि किसी प्रकार का मुकुट नहीं प्रत्युत पगड़ी में लगाने की कलँगी है, इसके बीच में मणि रहता होगा इसी कारण इसका नाम शिखामणि पड़ा ।

किरीट[3]—चूडामणि तो छोटे-छोटे राजा धारण करते हैं परन्तु बड़े सम्राट किरीट । चूडामणि का यहाँ कहीं प्रसंग है विशेष उसमें कोई प्रभावशाली नहीं पर किरीट रावण ने धारण किया है या इन्दुमती के स्वयंवर के राजा ने । अतः चूडामणि से किरीट का स्थान ऊँचा है ।

मुकुट[4]—मुकुट किरीट से मूल्य में नीचे आता है । रत्न तो इसमें भी जड़े रह सकते हैं परन्तु चूडामणि की तरह बीच में एक बड़ा रत्न नहीं था यही इसमें और चूडामणि में मुख्य अन्तर है । मुकुट में दाम झाम झालर आदि लगी होगी । आजकल के मुकुटों में भी ऐसी ही रूपरेखा देखी जाती है परन्तु इसकी तुलना में चूडामणि सावकी से परिपूर्ण छोटा पर सुन्दर होगा ।

मौलि[5]—इसका स्थान भी किरीट से नीचे समझा है क्योंकि रघु ने जिन राजाओं को पराजित किया है उनके सिर के आभूषण का नाम मौलि आया है, तत्पश्चात् राजा सुदर्शन के मुकुट और उनके शत्रुओं के मुकुट का पर्यायवाची है, तीसरी बार राम जब वनवास को गए हैं अर्थात् राजा होने के पूर्व तब उन्होंने मौलिमणि को छोड़ कर जटाजूट बाँधा है । देवता शिवजी को नमस्कार करते हैं इनके शिराभूषण का नाम मौलि है । अतः सबसे उत्कृष्ट किरीट चूडामणि मुकुट, तब मौलि आएगा । शिखामणि तो सामन्त ही धारण करते हैं । मौलि सबसे नीचा है पर मुकुट से ऊँचा[6] । इसे राजा बनने से पूर्व भी धारण किया जा सकता था ।

जाम्बूनदपट्ट[7]—वराहमिहिर के अनुसार पट्ट सोने के होते थे और पाँच

---

१ कुमार ७।१५   २ रघु ९।१३ विक्रम ४।१६७

३ रघु ६।१९ १।७९   ४ रघु ८।११

५ मौलिमणि—रघु ३।८८, १८।१८,४१ १३।५८ कुमार ५।७८

६ राजा दशरथ ने मौलि धारण था पर इनके शत्रुओं ने मुकुट—रघु ९।२

७ रघु [illegible]

प्रकार के बनाए जाते थे—राजपट्ट, महिषीपट्ट, युवराज-पट्ट, सेनापति-पट्ट और प्रसाद पट्ट (जो राजा की विशेष कृपा का द्योतक था)। संख्या में पाँच शिखाएँ, दो और तीन में तीन शिखाएँ, चार में एक शिखा होती थी। प्रसाद पट्ट में शिखा या कलँगी नहीं लगाई जाती थी.... (बृहत्संहिता ४८।२४)[1]। अतः यह एक प्रकार का सोने का पट्टा है जिसको पगड़ी के ऊपर बाँध लिया जाता होगा। यह भी राज-चिह्न है। मुकुट किरीट आदि आकार में बड़े होते होंगे जो बड़े सिर पर ही आ सकते होंगे। बालक के सिर पर चूँकि कोई मुकुट आदि नहीं आ सकता इसलिए यदि बालक ही राजा बने तो मुकुट के स्थान पर उसको सोने का पट्टा ही बाँध दिया जाता होगा। इससे वह राजा है ऐसा भी व्यक्त हो सकता है और सिर सूना भी नहीं रहता।

कर्णाभूषण

स्त्री-पुरुष दोनों ही के कानों में छेद होता था और दोनों ही उसमें कुछ-न-कुछ पहना करते थे। पुरुष केवल कुण्डल ही पहनते थे क्योंकि इनके कर्णाभरणों में एक स्थान पर कुण्डल[2] और दूसरे स्थान पर कर्णभूषण[3] शब्द का प्रयोग हुआ है, परन्तु स्त्रियाँ कर्णपूर, कुण्डल, कनककमल और अवतंस पहनती थीं।

कर्णपूर[4]—दूसरे शब्दों में हम इसको कर्णफूल कह सकते हैं। कर्णपूर शब्द से ही स्पष्ट होता है कि यह आभूषण कानों को ढक लेता होगा अर्थात् सारा कान नहीं अपितु जहाँ छेद है उसका सारा प्रदेश ही। इसमें पीछे पेंच लगा होगा जिससे गिरने न पाए और अपने स्थान से सरके भी नहीं।

कुण्डल—मणि[5] अथवा कांचन[6] सोना ही के कुण्डल होते थे। इन्हें स्त्रियाँ और लड़के दोनों ही पहन सकते थे। यह गोल-गोल छल्ले की तरह होते थे जो लटके से बन्द हो जाते होंगे।

कनककमल[7]—कर्णपूर और कनककमल में लम्बा-चौड़ा अन्तर नहीं है। आकार में यह गोल न होकर कमल के आकार के अतः लम्बे हैं। दूसरी विशेष बात यह है कि ये गिर सकते हैं। उत्तरमेघ ११ में गिर जाने का प्रसंग है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इनमें पीछे पेंच न होकर कांटा होता होगा।

---

१ श्री वासुदेवशरण अग्रवाल 'हर्ष-चरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन' पृष्ठ १८
२ रघु ६।६१ ३ रघु ५।६५
४ रघु ७।२७ कुमार ८।६२ ऋतु ३।१९
५ ऋतु २।१ ६ ऋतु ३।१९ ७ उत्तरमेघ ११

कालिदास का अभिप्राय कनककमल से सुनहरे रंग के कमल से भी हो सकता है।

अवतंस[1]—जहाँ कहीं भी अवतंस का प्रसंग है वहाँ पुष्पों के ही अवतंस स्त्रियाँ कान में धारण करती हैं। केवल एक स्थान पर यामिनी के अवतंस चामरपर के कहे गए हैं[2]। फूलों को कानों में टिकाया भी जा सकता है। एक नीचे लटकता ही रहेगा। अतः कर्णपूर में यह इसका प्रथम अन्तर हुआ। कर्णपूर कानों में ठीक हो जाता होगा पर यह नीचे लटकता था। कुमारसम्भव सर्ग ७ में शिवजी के पीछे-पीछे माताएँ चलने लगीं तब रथ के झटके से उनके कर्णनिवेश हिलने लगे[3]। इससे आजकल के झुमके ही उस समय के अवतंस होंगे। ये ही हिल सकते हैं और फूलों को यदि कान में टिके भी लिया जाय तो इनका यही आकार आएगा। तीसरी बात और एक है कवि अवतंस के केसरक[4] का वर्णन करता है अतः ये लटकते होंगे और पीछे पेंच के स्थान पर कनककमल की तरह काँटा लगा होगा।

कण्ठाभूषण

कण्ठाभूषण स्त्री तथा पुरुष दोनों ही धारण करते थे। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कण्ठाभूषण मुक्ताहार ही थे चाहे एकावली हो हारयष्टि हो या हार शेखर। कवि हार का तात्पर्य मुक्ता के हार ही लेता है[5]। इसको कवि स्वयं ही स्पष्ट कर देता है। नृप की रानियाँ के हार जल-क्रीड़ा करते समय टूट जाते हैं और वे मुक्ता के समान जल-बिन्दुओं को देखकर समझती हैं कि टूटा नहीं है। यही नहीं वे उत्तरमेघ में भी यही कहते हैं—

अम्भोऽभ्यासनिश्वसने धीनिकोर्णकपाली तत्पर्यङ्कमलितमयैश्छिन्नहारैरिवास्रैः।
भूयो भूय कठिनविषमा सारयन्ती कपोलादामोक्तव्यामयमितनखेनैकवेणी करेण॥[6]

मोतियों के हार ही सरलता से टूट सकते हैं। कण्ठाभरण हार आदि के विषय में कवि एक बात बहुत अधिक कहता है कि ये हार स्तनमण्डल पर पड़े थे उनसे टकराते थे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हार आजकल की तरह छोटे-छोटे नहीं अपितु लम्बे पहने जाते थे। मुक्ताहार के मध्य में कभी कभी रत्न अथवा मणियाँ भी पिरो दी जाती थीं[8]।

---

१ ऋतु २।१८ रघु १६।४६ कुमार ७।८ रघु १६।६१
२ कुमार ५।११ ३ कुमार ७।१८
४ कुमार ५।११ रघु १३।५२
५ रघु १६।६२ उत्तरमेघ ९ ६ उत्तरमेघ ९
७ ऋतु १।५ ८ २।१८ १।२
५।७ कुमार १।४२ ८ रघु ५।१४ पूर्वमेघ ५

हार के प्रकार

(१) मुक्तावली —मोतियों की एक लड़ी की माला ही मुक्तावली है। इसका प्रमाण यह है कि चित्रकूट के नीचे बहती हुई गंगा उसके गले में पड़ी मुक्तावली के सदृश लगती है[१]। एकावली का दूसरा आकार ही मुक्तावली है।

(२) तारहार[३]—मल्लिनाथ तारहार को स्थूल मुक्ताहार कहते हैं। यह पुरुषों का आभूषण है, अतः कहा जा सकता है कि पुरुष बड़े-बड़े मोतियों की माला पहनते थे पर स्त्रियाँ छोटे मोतियों की। बढ़िया मोती के हार गुप्तयुग में तार हार कहलाते थे (हर्षचरित वासुदेवशरण अग्रवाल पृष्ठ १७८)।

(३) हार शेखर[४]—मुक्तावली की तरह ही हार-शेखर मोतियों की माला है। अन्तर यह हो सकता है कि मुक्तावली हार-शेखर से लम्बाई में बड़ी होगी। हार-शेखर छोटी माला है, क्योंकि शेखर मस्तक को कहते हैं और मस्तक के आकार की यह माला होगी इसीलिए इसका नाम हारशेखर पड़ा। कण्ठी की तरह यह चिपटा रहता होगा।

(४) हारयष्टि[५]—जहाँ मुक्तावली और हारशेखर एक लड़ की माला है, वहाँ हारयष्टि अनेक लड़ियों का हार है परन्तु इसके बीच में चन्द्रहार की तरह पदक नहीं पड़े रहते थे। दूसरे शब्दों में यह केवल मुक्ताओं की ही लड़ियाँ थी जो ऊपर जाकर एक में मिल जाती थीं। प्राचीन वेश भूषा में (पृष्ठ ७२ चित्र १) यक्षिणी की वेश-भूषा में दिखाया आभूषण यही हारयष्टि है।

(५) हार[६]—हारशेखर हारयष्टि तारहार निर्मौतिहार सब हार के ही प्रकार हैं जिनमें आकार का थोड़ा-थोड़ा भेद है। साधारण रूप से किसी भी प्रकार के हार को हार की संज्ञा दे दी गई है।

(६) लम्बहार[७]—हारों में कुछ छोटे जैसे हारशेखर होते हैं और कुछ लम्बे जिन्हें कवि लम्बहार कहता है। साधारणतः पुरुष स्त्रियों की अपेक्षा लम्बे हार ही पहनते होंगे इसीलिए उनके हार को लम्बहार एक पृथक नाम दे दिया गया है। स्त्रियों के ऐसे लम्बे हार को स्तनकलितहार कहा गया है[८]।

---

१ रघु १३।४८ विक्रम १।१५ २ रघु १३।४८
३ रघु ६।१६ ४ कुमा ९।६ ५ कुमा १।८ कुमार ८।६८
६ कुमा १४।२८ २।१८ ३।३२ ६।७ उत्तरमेघ १ कुमार ५।८
७ रघु ६।६ ८ रघु १६।६१

(७) निर्धौत हार[1]—श्वेत कमल दो प्रकार का होता है, एक दूध की तरह धवल दूसरा जल की तरह। मुक्ता भी ये दो प्रकार होते हैं। निर्धौत हार उन मुक्ताओं से बनता होगा जो जल की तरह पारदर्शी हों क्योंकि जहाँ निर्धौत हार का प्रसंग है, वहाँ ओस की बूँदों को इन मोतियों के समान कहा गया है।

(८) इन्द्रनील मुक्तामयी[2]—मोतियों की माला के बीच-बीच में रत्नों के बड़े पक्के भी आ सकते हैं। यह उसका ही प्रकार है। इसमें बीच-बीच में इन्द्रनील है।

(९) कभी-कभी ८ की तरह ही मुक्तामयी माला के बीच में एक बड़ी-सी इन्द्रनील मणि भी पिरो दी जाती थी जिसको आजकल के पेण्डेण्ट का रूप कह सकते हैं[3]।

(१) मुक्ताकलाप[4]—एकावली के समान ही इसकी भी रूपरेखा होगी। इसकी कोई विशेष रूपरेखा होगी इसकी प्रतीति नहीं है। पार्वती के गोल गले मे ऊँचे ऊँचे स्तनों पर मुक्ताकलाप का ऐसा प्रसंग है। अतः एकावली या मुक्तावली से यह लम्बाई मे काफी छोटी होगी। तभी इसका आकार ग्रीवा की तरह गोल आ सकता है।

(११) निष्क[5]—आग की चिनगारियों के साथ इसकी समता दिखाए जाने से यह कहा जा सकता है कि सोने की यह माला होगी और छोटे-छोटे दाने मोतियों के समान इसमें पुरे होंगे अर्थात् मोतियों की माला की तरह यह सोने के मोतियों की माला होगी।

(१२) रत्नानुविद्धप्रालम्ब[6]—जिस प्रकार सोने की माला पहनी जाती थी उसी प्रकार रत्नों की माला भी। यह बहुत कुछ चन्द्रहार जैसा हो जाता होगा। सोने की कड़ियाँ पड़ती होंगी और बीच-बीच में रत्नों के पक्के। डाक्टर मोती-चन्द्र की पुस्तक मे (पृ ७ चित्र ४९) यक्षिणी के गले में इसी तरह की माला है।

इस प्रकार हार के १२ प्रकार हुए, जिनको यदि संक्षेप में कर दिया जाय तो कहा जा सकता है कि हार एक लड़ी के थे और कई लड़ी के दूसरी जाति

---

१ रघु ५।७   २ रघु १३।६४
३ पूर्वमेघ ५   ४ कुमार १।४२
५ कुमार १।४६   ६ रघु ६।१४

यह कि हार के बीच में एक लाकेट की तरह मणि रहती थी या बीच-बीच में कई। मोतियों के हार बहुत अधिक प्रचार में थे पर सोने के और रत्न-निर्मित सोने के भी हार प्रचलित थे। हार सीधे तथा हलके थे और जाल की तरह भारी।

(१२) मुक्ताजाल[1]—अलकों में भी मुक्ताजाल का प्रयोग किया जाता था (मुक्ताजालग्रथितमलकम् —पूर्वमेघ ६७)। कभी-कभी अभिसारिका के केश की मुक्ताएँ मार्ग में बिखर जाती थीं। उत्तरमेघ ११ में इनके ही बिखर जाने का संकेत है।

कराभूषण

अंगद वलय केयूर, कटक और अंगूठी ये पाँच कराभूषण हैं, जो स्त्री और पुरुष दोनों ही समान रूप से पहनते थे। आकार में थोड़ा अन्तर था। पुरुष सादे धारण करते थे पर स्त्रियों के इन्हीं आभूषणों में घुंघरू आदि की कोई-न कोई विशेषता रहती थी।

(१) अङ्गद[2]—भुजाओं पर बाँधने का एक आभूषण है। स्त्री[3] और पुरुष दोनों ही इसे समान रूप से धारण करते थे। यह पीछे बँध जाता था।

(२) केयूर[4]—अंगद की तरह यह भी भुजबन्ध है। अंगद से इसमें एक विशेषता है, इसमें नोक होती थी। रघुवंश में अज के द्वारा मारे गये योद्धाओं में एक के केयूर की नोक शिवा के तालु में चुभ गई थी[5]।

(३) वलय[6]—अंगद भुजबन्ध है, पर वलय कड़ा था पहुँचियों पर पहना जाता था। अंगद और वलय एक ही स्थान पर नहीं पहने जाते थे क्योंकि कवि ने ऋतुसंहार में एक साथ ही (वलयांगद) दोनों का प्रयोग किया है[7]। पूर्वमेघ में इसे वह प्रकोष्ठस्थित ही कहता है[8]। आकार में यह गोल कड़े की तरह होता है, क्योंकि कहीं मृणालिका को वलय की तरह लपेटना कहा है[9] कहीं शिवजी सर्पों को वलय की तरह लपेटे हुए हैं[10]। पुरुष केवल बाएँ हाथ में वलय पहनते थे—

१ मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारैः — उत्तरमेघ ११
२ रघु ६।१४।५३ १६।६ ३ रघु १६।६
४ रघु ६।६८ ७।५ कुमार ७।६९ शिवा —रघु १६।५६
५ रघु ७।५
६ अभि ३।११ ६।६ कुमार २।६४ ३।६८ पूर्वमेघ ६४ रघु १६।४३ १६।७१ पूर्वमेघ २ माल ३।६ रघु १६।७२
७ ऋतु ४।३ ६।७ ८ पूर्वमेघ २
९ रघु १६।४३ १० पूर्वमेघ ६४ कुमार ३।६८

'प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिर्वामप्रकोष्ठार्पितं ।
बिभ्रत्काञ्चनमेकमेव वलयं श्वासोपरक्ताधरः' ॥ —अभि ६।६

(अ) काञ्चन वलय[1]—वलय का यह सबसे छोटा प्रकार है। यह पुरुष ही अधिकांश में धारण करते हैं। लड़कियों का केवल दो स्थानों पर प्रसंग है[2]।

(ब) कंगन की तरह नोकदार[3] (वलयकुलिशकोटिघट्टनोद्भूतशीर्षमं— पूर्वमेव ६५)—आजकल के कंगनों की तरह नोकदार कुछ जड़ाऊ वलय भी स्त्रियाँ पहनती थीं। कुलिश का अर्थ कुछ लोग हीरा करते हैं।

(स) शिञ्जावलय[4]—शुंकार करने वाले ताली बजाने पर मधुरध्वनि कर उठें।

(४) अंगूठी—अंगूठी साधारण होती थी। रत्नजड़ी[5] रत्नों से नाम लिखा हुआ हो[6] इस प्रकार की अथवा जिस पर सर्प[7] आदि किसी का चित्र बना हो। स्त्री तथा पुरुष दोनों ही अंगूठी पहनते थे।

(५) कटक[8]—कड़े की तरह का एक आभूषण है। यह पुरुषों का है। संक्षिप्त रूप से अंगद और केयूर सीधे पट्टीनुमा होते थे जो पीछे बँध जाते होंगे परन्तु वलय और कटक चूड़ी की तरह ही पहने जाते थे तथा ढीले रहते थे क्योंकि मालविका का वलय प्रकोष्ठ पर आकर ठहर गया था।

कटि के आभूषण

कमर के आभूषणों में मेखला रशना एवं काञ्ची तीन आभूषण हैं यद्यपि इन तीनों के सोने रत्न एवं मुक्ता आदि के कई प्रकार भी होंगे।

मेखला[1]—रशना का कहीं कहीं नाम है वहीं यह बजती है, ऐसा वर्णन किया गया है, परन्तु रशना का वह गुण मेखला में नहीं पाया जाता। कहीं-कहीं

---

१ अभि ३।११ ६।६ मेघदूत—पूर्वमेव २ कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः।
२ माल ५।२६ कुमार २।६४ ३ पूर्वमेव ६५
४ उत्तरमेघ १६
५ रघु ६।१८ अभि अंक ६ पृ ६८
६ अभि पृ २२६ ७६ ९७ ११२
७ माल पृ २११ ८ माल अंक ३ पृ २८९
९ कुमार १।३८ ८।२६ ८३ १७ ८६,१४ ७।६१ रघु १ ।८ १४।१ रघु १९।१७ २६,४ ऋतु ६।४६

कवि मेखला से रानियाँ राजा को बाँध देती थीं ऐसा भी कहता है[1]। अतः चौड़ाई में यह पतली होती होगी। इस बात का दूसरा प्रमाण यह है कि कवि एक स्थान पर कुमारसम्भव में कहता है कि नहाती हुई पार्वती के चारों ओर घूमती हुई मछलियाँ ऐसी प्रतीत होती थीं मानों उसने मेखला धारण की हो[2]। रघुवंश में भी नदी में तैरती हंसों की पंक्तियाँ मेखला कही गई हैं[3]।

मेखला सादी सोने की होती थी (हेम-मेखला[4]) अथवा मणि-मेखला[5] जिसमें रत्न जड़े हों। इन दो प्रकारों के अतिरिक्त शिंजित मेखला[6] भी थी अर्थात् ध्वनि उत्पन्न करने के लिए स्थान-स्थान पर घुंघरू भी डाल दिए जाते थे। कभी-कभी स्त्रियाँ साड़ी पर पट्टियों से बनी मेखलाएँ पहनती थीं[7]। कवि मेखला टूट जाती थी ऐसा भी कभी-कभी कहता है[8]। अतः मेखला मुक्तामयी भी होती होगी क्योंकि मोती टूट सकती है, सोने और रत्न का नहीं।

(२) रशना[9]—रशना में अधिकतर शब्द वर्णित है[1] अतः घुंघरू तो अवश्य ही इसमें लगे रहते होंगे। मेखला से रशना का यह पहला अन्तर है। मेखला की तरह यह भी पतली होती क्योंकि मालविकाग्निमित्र में इरावती अग्निमित्र को रशना से ताड़ित करने का प्रयत्न करती थी[11]। मेखला की तरह रशना को उपमा भी मछलियों की पंक्तियों[12] हंस की पंक्तियों[13] अथवा विहग-पंक्तियों[1] से दी है। अतः आकार-प्रकार में यह मेखला की ही तरह है। केवल घुंघरू का अन्तर है। घुंघरू है इसका प्रथम प्रमाण यह कि शब्द वर्णित है, दूसरा यह कि सूत्र में पिरोए जा सकते हैं[14] और सूत्र टूटने या छूटने पर मोती

---

१ रघु १९।१७, कुमार ५।८ २ कुमार ८।२६

३ रघु १९।४ ४ ऋतु १।६

५ रघु १६।६५, कुमार १।३८ ऋतु ६।४

६ रघु ६।१७

७ डा मोतीचन्द्र प्राचीन वेश-भूषा पृ ७१

८ कुमार ७।८१ ८९ उत्तरमेघ २८ रघु १६।२२

९ कुमार ३।१ ७।६१ ऋतु ३।३ ९ ३।२६ माल अंक ३ पृ ३११ विक्रम ४।२२ उत्तरमेघ ३ रघु ७।१ ८।५८ १६।६१ १९।१९, १६।६२

१ रघु ८।५८ १६।६५ ११ माल अंक ३ पृ ३११

१२ ऋतु ३।३ १३ उत्तरमेघ ३

१४ विक्रम ४।२२ १५ कुमार ७।६१ रघु ७।१

बिखर सकते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि सिर्फ घुंघरू ही हों और कुछ नहीं प्रत्युत घुंघरू भी जगह-जगह लगे होंगे। मछली हंस आदि की शकल में रत्नादि आदि भी रहती होंगी और घुंघरू भी।

प्रकार में हेमरशना[1] जिसमें रत्नादि बिल्कुल न हों, रशनाकलाप[2] जिसमें घुंघरुओं की संख्या अधिक हो और मणिरशना[3] जिसमें बड़े-बड़े मनके घुंघरू ही हों हैं।

काञ्ची[4]—मेखला और रशना की तरह यह कभी बांधने के काम नहीं आई, न ही मछलियाँ हंस विहग इसके प्रतीक हुए। अतः यह पतली पट्टी न होकर चौड़ी पट्टी-सी होती होगी। यह सोने की[5] अथवा काञ्चनमयी रत्नाभियों से परिपूर्ण थी[6]। इस काञ्ची को शब्दमयी बनाने के लिए घुंघरू का प्रयोग भी कर दिया जाता था। मणिखचितकनककाञ्ची का कवि प्रसंग देता है। कलाकिङ्किणी[8] का एक प्रकार और मिलता है, जो इससे मिलता-जुलता है, आकार में कुछ पतला हो जाता होगा। यक्षिणी मथुरा की वेष-भूषा में कमर पर यह चौलूटी लड़ियों से बनी एक सतलड़ी करधनी पहने है—(प्राचीन वेष-भूषा, पृष्ठ ७ चित्र ४१)। पृष्ठ ७२ चित्र ५ पर भी ऐसी ही करधनी पहने एक स्त्री है, जिसमें चार लड़ियाँ हैं पर चारों भिन्न हैं। एक चौलूटी लड़ी की दूसरी मौलसिरी के फूलों के आकार की तीसरी तरबूजेदार मनकों की चौथी गोल मनकों की। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि स्त्रियाँ एक ही समय काञ्ची रशना सब पहन लेती होंगी।

कटि के इन आभूषणों के विषय में एक बात महत्त्वशील है। ये दुकूल अथवा क्षौम के जैसे ऊपर पहने जाते हैं वैसे ही उस समय नीचे भी पहने जाते थे।

पैर का आभूषण

नूपुर[1] —पैरों में स्त्रियाँ नूपुर धारण करती थीं। नूपुर का अर्थ बिछुए नहीं अपितु पायल था। इसके पक्ष में प्रमाण यह कि एक तो कुमारी कन्याएँ भी

---

१ रघु १६।४१ ऋतु ३।२१ २ रघु १६।६३ ऋतु ३।२
३ पूर्वमेघ ३६ ४ ऋतु २।२ ६।७ ३।२१ ४।४
५ मणिखचितकनककाञ्ची —ऋतु ३।२६
६ ऋतु ४।४ ७ ऋतु ३।२६
८ रघु ११।११ ९ रघु १।१८ १६।४१
१ कुमार (१।३४) ऋतु १।५ ३।२७ ४।४ रघु ८।६३ १६।१२
१६।१२ ऋतु ३।२ विक्रम पृष्ठ १८७ ३।१५ ४।१ माल पृष्ठ २११ ३ २ ३ ६ अंक ३ ३।१७

इसे धारण कर सकती थीं[१] और दूसरा विकल्प जैसे में मणि आदि नहीं जड़ी जा सकती। वे बहुत बड़े हो जायेंगे। इसमें सर्वत्र शब्द वर्णित है[२]। अतः कहा जा सकता है कि इसमें मुक्ता अवश्य लगाए जाते होंगे। विच्छित्तकपुर,[३] मणिनूपुर,[४] भास्वत कलनूपुर[५] (चमकते हुए और शब्द करने वाले सुन्दर-से) कलनूपुर[६] आदि शब्द कवि के ग्रन्थों में आए हैं। संक्षेप में केवल सोने के और मणिजटित दो ही प्रकार विशेष हैं।

आभरण-मञ्जूषा[७]—समस्त आभरणों को रखने के लिए एक पिटारी अथवा सन्दूक भी होता था जो आभरण-मञ्जूषा कहलाता था। इसके लिए दूसरा प्रचलित शब्द समुद्गक था। जंगल में रहनेवाले पत्तों से भी समुद्गक बना लेते थे। अनुसूया ने शकुन्तला की विदाई के अवसर के लिए एक बकुल की माला 'नारिकेल समुद्गक' में रख छोड़ी थी।

पुष्पाभरण—स्वर्ण तथा रत्नजटित आभूषणों की तरह स्त्रियाँ पुष्प के आभूषणों से भी अपने शरीर अलंकृत किया करती थीं। ऋतुओं के अनुसार उनको नानाप्रकार के पुष्प मिल भी जाते थे।

केश—सिर में वे कुरबक नवकदम्ब नवकेसर और केतकी के फूलों की माला कभी धारण करती कभी मधूक की (कुमार ७।१४)। वर्षाऋतु में कभी केशपाश को पुष्पावतंस से सुरभीकृत करती[१०] कभी बकुल और मालती के फूलों की माला से अलंकृत करती थीं[११]। शरदृतु में नवीन काली लटों में मालती के फूल गूँथती थीं[१२]। शिशिर ऋतु में वे केश को फूलों से सजाती थीं[१३]। वसन्तऋतु शृंगार के लिए बहुत उपयुक्त होने के कारण स्त्रियाँ इस ऋतु में विशेषतः चम्पे की माला से केश सजाती कभी कुरबक के फूलों से केशपाश अलंकृत करती थीं[१४]। कवि की सर्वसुन्दरी यक्षी जूही और रक्त कदम्ब से केश की शोभा बढ़ाती थी[१५]। अशोक और नवमल्लिका के फूल भी

---

१ माल अंक ३ पृष्ठ

२ कुमार १।३४ रघु १३।२३ ऋतु ३।४ विक्रम ३।१५, ४।३ माल ३।१७ ऋतु ३।२

३ कुमार १।३४ विक्रम ४।३ ४ ऋतु ३।२७

५ रघु १६।१२ ६ ऋतु ३।२

७ माल अंक ४ पृष्ठ ३२५ अंक ५ पृष्ठ ३३५

८ उत्तरमेघ २ ९ ऋतु २।२१ १० ऋतु २।२२

११ ऋतु २।२५ १२ ऋतु ३।१९ १३ ऋतु ४।८

१४ ऋतु ६।६ १५ ऋतु ६।३३ १६ विक्रम ४।४६ ६१

केश-सौन्दर्य के लिए उत्तम थे।[1] नीप-पुष्प से सीमन्त अलंकृत किया जाता था[2]।

कर्ण—केश-रचना की तरह कानों में शिरीष[3] यवांकुर[4] तथा अन्य सुगन्धित पुष्पों के अवतंस पहने जाते थे[5]। वर्षाऋतु में नवकदम्ब का कर्णपूर[6] शरद् में कानों में नीले कमल[7] वसन्त में नवकर्णिकार के अवतंस[8] स्त्रियाँ पहनती थी। शकुन्तला कमलनाल के आभूषण पहनती थी। कानों में शिरीष की कोमल शाख रखती थी[9]। मालविका दोहद के समय आम की मञ्जरी और अशोक के अवतंस पहने थी[10]। कुटजकुसुम मञ्जरी के भी अवतंस वर्षाऋतु में पहने जाते थे[11]।

कण्ठ—वक्षःस्थल पर फूलों के हार पहने जाते थे[12]। शकुन्तला गले में कमल के तन्तुओं की माला पहना करती थी[13]।

कर (वलय)—शकुन्तला मृणाल का वलय पहनती थी[14]। अन्य किसी ने कभी किस पुष्प का वलय पहना इसका कोई संकेत नहीं है।

काञ्ची—काञ्ची भी फूलों की पहनी जाती थी। केसरदामकाञ्ची इसमें विशेष है[15]।

शृंगार

केश-रचना—स्त्री और पुरुष[16] दोनों ही लम्बे-लम्बे बाल रखते थे। रघुवंश में राजा दिलीप की लटें लताओं के समान उलझ गई थीं[17]। बाल तभी उलझ सकते हैं, जब लम्बे हों। बच्चों के भी काकपक्ष होता था[18]। अर्थात्

---

१ ऋतु ६।१६ २ उत्तरमेघ ९
३ उत्तरमेघ २ रघु १६।६१ ४ रघु १३।४९
अभि १।२८ ५. ऋतु २।१८
६ ऋतु ३।२५ ७ ऋतु ३।१९
८ ऋतु ६।१६ ९. अभि अंक ६ पृ ११७
१० माल अंक ३ पृ ३ ५,३ ६ ११ ऋतु २।२१
१२ ऋतु २।१८ ४।२ ६।३ १३ अभि ६।१८
१४ अभि ३।७ १५ कुमार ३।५५
१६ रघु ७।४६ १।८ १६।४३ अभि ७।११
१७ रघु १।८
१८ रघु १८।४३ विक्रम पृ २४८ शिलांक (अंक ५) रघु ३।२८
११।१ ४२ ५

उनके बाल इतने लम्बे होते थे कि वे सुन्दर छल्ले बनाते हुए इधर-उधर लटका करते थे। पुरुषों के बाल इतने लम्बे होते थे कि रानियाँ अर्थात् उनकी पत्नियाँ उनके बाल पकड़ कर रोक लेती थी[1]। यवन लोग दाढ़ी रखते थे[2]। युद्ध के समय में या किसी प्रिय व्यक्ति के वियोग-काल में भारतवासी भी श्मश्रु रखते थे[3]।

स्त्रियों के केश लम्बे होते थे[4]। लम्बे घुंघराले[5] और काले बाल[6] सौन्दर्य की दृष्टि से उत्तम माने जाते थे जिनको वे तेल डालकर चिकने रखती थीं। विरहावस्था में तेल के अभाव के कारण ही उनके बाल रूखे रहते थे और उलझते थे[7]।

स्त्रियाँ चोटी[8] भी करती थीं और जूड़ा भी बनाती थी। एकवेणी का बहुत अधिक प्रसंग है। विरहावस्था मे बाल खुले नही रहते थे अपितु जैसा पति के सम्मुख प्रतिदिन तेल डालतीं वेणी आदि धारण करतीं फूलों से अलंकृत करती वैसा उनकी अनुपस्थिति मे नही। अत बाल उलझते रहते थे जो उनके पति ही आकर सुलझाते थे। एकवेणी[9] शब्द से ऐसा आभास होता है कि आजकल की तरह कदाचित् तब भी दो चोटियाँ की जाती हों।

संस्कृत के अमरकोष में अलक का लक्षण 'अलकाश्चूर्णकुन्तला' बताया गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अलकावली बनाने में चूर्ण का प्रयोग किया जाता था। दूसरे शब्दो मे कुंकुम कपूर आदि के अवलेप से बालों मे भँवर पैदा किए जाते थे। कालिदास भी इसी का समर्थन करते हैं। रघुवंश मे वर्णित केरल देश की स्त्रियों के अलकों के सम्बन्ध मे चूर्ण का उल्लेख है—

> भयोत्सृष्टविभूषाणां तेन केरलयोषिताम्।
> अलकेषु चमूरेणुश्चूर्णप्रतिनिधीकृतः ॥[1]

रघुवंश के अष्टम सर्ग मे इन्दुमती के केशों का वर्णन करते हुए कवि ने अलकों का

---

१ रघु १९।११ २. रघु ४।६३
३ रघु ११।७१ कर्ण—भार अंक १ पृ ११५
४ शिरोरुहै मोक्षितस्कन्धदेशैः — कु २।१८
५. रघु ६।८१ 'अरालकेश' कुमार ८।७९ कुटिलकेश माल ३।१२ कटिलकेश १ ऋतु ४।१६
७ स्पर्शक्लिष्टामयमितनखेनासकृत्सारयन्ती गण्डाभोगात्कठिनविषमामेकवेणीं करेण। —उत्तरमेघ ३४ उत्तरमेघ १
८ रघु १४।१२ वेणी पूर्वमेघ १८ ३१ उत्तरमेघ ४१
९ अभि ७।२१ उत्तरमेघ ३ ३४ १ रघु ४।५४

वास्तविक स्वरूप बताया है[1]। इसमे अलकों का वक्रीभूत विशेषण स्पष्ट करता है कि छल्लेदार या घूँघरदार बाल उस समय की विशेष प्रकार की केशरचना थी। लटों को भुजग कुन्तल या अलक के रूप मे स्नान से उनकी लम्बाई कम हो जाती होगी। कवि ने विरहिणी यक्षपत्नी के बालों को लम्बालक[2] कहा है। विरह में स्निग्ध पदार्थ तैलादि के बिना शुद्ध-स्नान के कारण उसके अलक कपोलों पर लटक आते थे अत उसका पूरा मुख नही दिखाई देता था[3]। इससे यह ध्वनि निकलती है कि विरह म केश-रचना (बालो को घूँघरदार) नही करती थी अत वे लम्बे होकर कपोलों पर लटक आते थ।

मल्लिनाथ ने अलक की व्याख्या स्वभाववक्राण्यलकानि तासाम्' की है। इससे पुष्टरूप से इस बात की पुष्टि हो जाती है कि अलकों में वक्रता अथवा घुमाव रहता था।

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल इन घुँघराले बालों के बनाने के कई प्रकार वर्णित करते है।

(क) इसमें सीमन्त या माँग के दोनों ओर केवल वक्रीभूत अलकों की समानान्तर पंक्तियाँ सजी रहती है। भारत-कला-भवन मे इस केश-विन्यास के कई नमूने है।

(ख) सीमन्त या केशवीथी को एक आभूषण से सज्जित किया जाता है। इसका वर्तमान रूप सिरबोर कहा जा सकता है। इस आभूषण के लिए सीमन्त स्थान कुछ विस्तृत दिखाया जाता है और थोड़ा हटा कर घूँघर प्रारम्भ किया जाता है। बाणभट्ट ने सिरबोर के लिए हर्षचरित मे 'चटुल तिलक' शब्द का प्रयोग किया है।

(ग) घूँघर की पहली पंक्ति ललाट के ऊपर अर्धवृत्त की तरह घूमती हुई सिर के प्रान्त भाग तक जाती है। यह देखने में सुन्दर झालरी-सी लगती है।

(घ) वासुदेव जी इस प्रकार को पटियादार घूँघर कहते है। माँग के दोनो ओर पहले पटिया मिलती है, तत्पश्चात् घूँघर शुरू होकर दोनो ओर फैल जाते है।

---

१ कुसुमोत्खचितान्वलीभृतश्चलयन् भृङ्गरुचस्तवालकान्।
करभोरु करोति मारुतस्त्वदुपावर्तनशङ्कि मे मन ॥—रघु ८।५३

२ हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वादिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति।—उत्तरमेघ २४

३ निश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्ती
शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागण्डलम्बम्।—उत्तरमेघ ३१

४ वासुदेवशरण अग्रवाल कला और संस्कृति पृ २४९

यह सब अलक अर्थात् घूँघर के विभिन्न प्रकार हैं। अलक केश-रचना के अतिरिक्त वे अन्य प्रकार की केश-रचना भी अभिव्यक्त करते हैं। जो निम्नलिखित हैं—

कुटिल पटिया—माँग के दोनों ओर कनपटी तक लहराती हुई शुक्र पटिया मिलती हैं। वे ही छोर पर ऊपर को मुड़ कर घूम जाती हैं। देखने में यह मोर की फहराती पूँछ-सी मालूम होती है। कालिदास ने स्त्री-केशों को मोरों के बर्हभार[1] कहा है वहाँ उनका आशय इसी प्रकार के केश-विन्यास से है।

चूडापाश—आधुनिक 'जूड़ा' शब्द इसी 'चूडा' शब्द का रूपान्तर है। इसमें माँग के दोनों ओर बालों की पटिया बनी रहती है। वे ही सिर के पीछे जूड़े के रूप में बाँध दी जाती हैं।

छत्तेदार केश-रचना—इसमें माँग के दोनों ओर बाल शहद के छत्ते की तरह झँझरीदार-से जान पड़ते हैं। संस्कृत में इस रचना को क्षौद्रपटल या मधुपटल-विन्यास कहा जा सकता है। कालिदास ने पारसीकों के दाढ़ीदार, श्मश्रुल सिरों की उपमा क्षौद्रपटल से दी है[2]।

मौलि—इसमें बालों का जूड़ा बना कर माला से बाँध लिया जाता है। मौलि के भीतर भी फूलों की माला गूँथी जाती थी। कवि ने इसका उल्लेख किया है[3]।

वेणी-बन्धन[4] केश-बन्धन[5] अलक-संयमन[6] केशपाश[7] आदि शब्दों से ऐसा लगता है कि ये जूड़ा बनाती थीं। शकुन्तला प्रथम अंक में जूड़ा खुल जाने से शकुन्तला की लटें बिखर जाती हैं, जिन्हें वह बड़ी कठिनाई से सम्हालती है[8]। अतः चोटी का ही नहीं खुले बालों का जूड़ा बनाया जाता था[9] पर वेणी-

---

१ शिखिनां बर्हभारेषु केशान्। —उत्तरमेघ ४६

२ भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम्।
तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव॥ —रघु ४।६३

३ तैरन्य मुक्तागुणोन्नद्धं मौलिमन्तर्गतस्रजम्। —रघु १७।२१

नोट ये विभिन्न केश-विन्यास प्रणालियाँ श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपनी पुस्तक 'कला और संस्कृति' में विस्तारपूर्वक वर्णित की हैं।

४ रघु [illegible]   ५ अभि अंक ६ पृष्ठ ११५   ६ विक्रम ६।६

७ मालवि ४।१५, ५।१९ उत्तरमेघ २ कुमार ७।५७ ६

८ अभि १।२८   ९ रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः —रघु ९।६७

धम्मिल शब्द से ऐसा लगता है कि चोटी का भी जूड़ा बनाया जाता होगा[1]।

वे माँग निकालती थीं[2]। माँग भरने का भी एक स्थान पर प्रसंग है। अलक्तचूर्ण का प्रयोग माँग भरने के अतिरिक्त कोई महत्त्व नहीं रखता[3]। वे बाल को फूलों से सजाती थीं[4]। जूड़े को वे बहुधा पुष्पों से अलंकृत करती[5] अथवा बंधे ही केशों को नानाप्रकार के पुष्पों से सुन्दर बनाती थीं[6]। कभी-कभी मुक्ताजाल से भी अलकों की सुन्दरता बढ़ाया करती थीं[7]।

केवल पुष्प रत्न मुक्ता ही केश-सौन्दर्य के लिए ही नहीं नानाप्रकार के धूप भी सुरभित करने के लिए प्रयुक्त किए जाते थे। वे बालों को काले अगरु धूप से सुगन्धित किया करती थीं। कस्तूरी का चूर्ण[9] भी कदाचित् बालों को सुगन्धित करने के लिए ही प्रयुक्त किया जाता था। कल्क-चूर्ण[10] का भी कुमारसम्भव में प्रसंग आता है।

इन सब उपकरणों से भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि केश-रचना[12] का बहुत बड़ा महत्त्व था।

मुख-सौन्दर्य

(१) पत्र-रचना—स्त्री[13] और पुरुष[14] दोनों ही मुख पर[15] (और शरीर के अन्य भाग पर भी[16]) पत्र-रचना किया करते थे। पत्र-रचना का संकेत कुमारसंभव[17] रघुवंश[18] मालविकाग्निमित्र[19] ऋतुसंहार[20] में स्थान-स्थान पर

---

१ रघु १।४७ २ उत्तरमेघ २ ३ रघु १६।६६
४ उत्तरमेघ २ ५ रघु ७।६
६ कुमार ५।१२ ७।१४ ८।७९ विक्रम ४।२२ ४६ ६१ उत्तरमेघ २ ऋतु २।२१ २२ २५ ३।१९, ३।८ ६।३ ६ ३३ रघु ९।४०
७ पूर्वमेघ ६७ रघु १७।२३ ८ पूर्वमेघ ३६ ऋतु ४।५ ५।१२
९ कुमार ७।१४ ऋतु ४।१२ रघु १६।५ १७।२२
१० कस्तूरीचूर्ण—रघु ४।५४ ११ कुमार ८।११
१२ केशरचना—ऋतु ४।१६
१३ कुमार ७।१५ माल ३।५, कुमार ३।३ ३३ ३८ रघु ९।७२ १६।६७ १४ रघु १७।२४
१५ माल ३।५, कुमार ३।३ ३३ ३८ रघु ९।७२ १६।६७
१६ कुमार ७।१५, रघु ६।७२ १६।६७ (मुख और स्तन) रघु १७।२४
१७ कुमार ३।३ ३३ ३८ ७।१५
१८ रघु ९।७२ १६।६७ १७।२४ ६।७२
१९ माल० ३।५ २ ऋतु ४।५, ६।८

जाता है। यह रचना गोरोचन और कुंकुम से की जाती थी। पार्वती के शरीर पर पत्र-रचना गोरोचन से की गई थी[1] रघुवंश में राजा अतिथि के राज्याभिषेक के अवसर पर मुख पर गोरोचन चन्दन और अंगराग से पत्र-रचना की गई थी[2]। पत्र-रचना अञ्जन से भी होती थी[3]। थोड़े से शब्दों में काला सफेद और लाल रंग पत्र-रचना के लिए प्रयुक्त किए जाते थे[4]।

(२) माथे पर तिलक—माथे पर तिलक भी मुख-सौन्दर्य के लिए विशेष महत्त्व रखता था। स्त्री और पुरुष दोनों ही तिलक का प्रयोग किया करते थे[5]। यह तिलक हरताल और मनःशिला का बनाया जाता था। महादेव और पार्वती दोनों के विवाह के अवसर पर ऐसा ही तिलक लगा था[6]। तिलक का मालविकाग्निमित्र[7] और रघुवंश में भी संकेत है। तिलक कदाचित् स्त्रियाँ लाल रंग का लगाती थीं परन्तु आसपास अञ्जन से भी या छोटी-मोटी बिन्दियाँ लगाती होंगी या बाहर की रेखा क्योंकि काले भौंरों से घिरा तिलक का फूल स्त्रियों के तिलक की समानता प्राप्त करता है, ऐसा कवि ने मालविकाग्निमित्र में कहा है[8]। कुमारसम्भव में भी तिलक का फूल स्त्रियों के तिलक के समान है, ऐसा कहा गया है।

(३) अञ्जन—सौन्दर्य के लिए आँखों में अञ्जन[10] का प्रयोग किया जाता था। यह अञ्जन काला होता था[11] अर्थात् सुरमे के रंग का नहीं। कवि काले बादलों को घुटे अंजन के समान कहता है[12]। एक स्थान पर नीले आकाश को अञ्जन के समान कहा है[13]। अतः कहा जा सकता है कि अञ्जन कम से कम काले रंग का और कुछ गहरे काले रंग का होता होगा। विरह में[14] या तपस्या

---

१ कुमार ७।१५ २ रघु १७।२४
३ कुमार ३।३ ४ माल ३।५
५. कुमार ७।३३ ।। रघु १८।४४ (पुरुषों ने लगाया था) कुमार ३।३ माल ३।५ ५।९
६. कुमार ७।३३ ।। ७ माल ३।५ ५।९
८. रघु १८।४४ ९. माल ३।५ १० कुमार ३।३
११ रघु ७।२७ ११।५९ १२।१ कुमार १।४७ ५।५१ ७।२ ५६, ८२ । उत्तरमेघ १७ ऋतु १।११ २।२
१२ कुमार ७।२ ८२ १३ ऋतु २।२ ३।५
१४ ऋतु १।११ १५. उत्तरमेघ १७

में[1] काजल लगाना वर्जित हो जाता था अतः आँखें रूखी हो जाती थीं। यह अञ्जन शलाकाओं से लगाया जाता था। शलाकाओं का प्रयोग कवि प्रसंग देता है[2]।

(४) ओष्ठराग—ओठ रँगने का भी अधिक चलन था। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में राजा दुष्यन्त शकुन्तला के उन ओष्ठों का वर्णन करता है, जो रँगे न जाने के कारण पीले पड़ गए थे[3]। कुमारसम्भव में भी ओष्ठराग का प्रसंग है[4]। स्वयं पार्वती तपस्या करते समय यद्यपि ओष्ठ रँगना छोड़ चुकी थीं पर उनके ओष्ठ तब भी लाल थे[5]। स्नान करते समय यह ओष्ठराग धुल जाता था[6]। अतः ओष्ठ स्वाभाविक लाल न भी हों तब भी रँग कर लाल कर लिए जाते थे। रघुवंश की तरह विक्रमोर्वशीय में भी ओष्ठराग की स्पष्ट प्रतीति है[7]। ओष्ठराग तपस्या करते समय[8] और विरहावस्था में[9] शृंगार के अन्य उपकरणों की तरह छोड़ दिया जाता है। एक अन्य महत्त्वशील बात इस प्रसंग में यह है कि आजकल की तरह ओष्ठराग कई रंग का नहीं होता था। केवल लाल रंग का ही था[10]।

अलक्तक—जिस प्रकार ओष्ठ पर ओष्ठराग प्रयुक्त किया जाता था वैसे ही चरणों पर अलक्तक[11]। अलक्तक के लिए कवि कभी राग-लेखा कभी पादराग कभी-लाक्षारस कभी आलक्तक कभी राग-रेखा-विन्यास कभी चरणराग कभी द्रवराग कभी निर्मितराग आदि शब्द कहता है। राग-रेखा-विन्यास शब्द से

---

१ कुमार ५।५१
२ कुमार १।४७ रघु ७।८ कुमार ७।५९
३ अभि ७।२३
४ कुमार १।३ ५।११ ३४ ७।१८
५ कुमार ५।३४ ६ रघु १९।१
७ विक्रम ४।१७ ८ कुमार ५।११ ३४
९ अभि ७।२१ १० अभि ७।२१ कुमार ५।३४
११ विक्रम ४।१६—चरणपर्यस्तरक्तकाकर। पूर्वमेघ ३६ पादराग। माल ३।११ रागलेखा। अंक ३ पृ ११ रागरेखाविन्यास। अंक १ १३ आलक्तक। कुमार ७।१६ निर्मितराग ५।६८ आलक्तक ७।१९ रंजयित्वा ५८ आलक्तक ८।८९ चरणराग। रघु ७।७ द्रवराग—आलक्तक १६।१२ चरणान्यरागाम्, रघु १८।४१ आलक्तक १९।२५ आलक्ताङ्कितम्, २६ चरणराग उत्तरमेघ १२ लाक्षाराग अभि ४।५ लाक्षारस।

अवलेप भी तैयार किया जाता था[1]। काले अगरु में चन्दन मिलाकर भी अवलेप बनाए जाते थे[2]।

चन्दन के तीन प्रकार पाए जाते हैं—

हरिचन्दन—इसका प्रयोग स्त्री[3] तथा पुरुष[4] दोनों करते थे।

रक्तचन्दन[5]—इसका प्रयोग चोट पर किया जाता था।

सितचन्दन[6]—सौन्दर्य के लिए प्रयोग किया जाता था इसी प्रकार जैसे हरिचन्दन तथा साधारण चन्दन।

अंगराग[7]—चन्दन की तरह शरीर पर अंगराग का भी प्रयोग किया जाता था। कभी-कभी इसको कस्तूरी में बसा कर सुगन्धित कर लेते थे[8]। अनसूया ने सीता के शरीर पर इतना सुगन्धित अंगराग लगाया था कि फूलों से भौंरे भी उड़-उड़ कर इधर ही आने लगे थे[9]। शिशिरराग[10] और कालीयक अंगराग[11] नीपरजापराग[12] इसके प्रकार-विशेष हैं।

अन्य अवलेप—चन्दन तथा अंगराग एक प्रकार के अवलेप ही हैं। अनुलेपन शब्द इंगित करता है कि अवलेपों के भिन्न-भिन्न प्रकार शारीरिक सौन्दर्य के लिए प्रयुक्त किए जाते थे और विरह में अनुलेपन छोड़ दिया जाता था[13]। अन्य अवलेपों में शुक्लागुरु[14] कालागुरु और चन्दन[15] केसर का अवलेप[16] प्रियंगु कालीयक कुंकुमश्चित कस्तूरी और चन्दन मिश्रित अवलेप[17] उशीरानुलेपन आते हैं।

गोरोचन—गोरोचन स्वर्णवर्ण का पदार्थ है अतः कवि इन्दुमती के ये सखी सुनन्दा के द्वारा कहलवाता है कि तुम गोरोचन-सी गौरवर्ण हो यदि श्यामवर्ण

---

१ ऋतु ६।१४ | २ ऋतु २।२२
३ कुमार ५।६९ | ४ रघु० ६।६ अभि ७२
५ माल अंक ४ प ११७ | ६ ऋतु ६।७
७ रघु १६।५८ | ८ रघु १७।२४
९ रघु १२।२७
१० पुरुष भी प्रयोग करते थे—कुमार ७।३२
११ कुमार ७।९ ऋतु ४।४ | १२ पुरुष—रघु १९।१७
१३ ऋतु २।१२ | १४ कुमार ७।१५
१५ ऋतु २।२१ | १६ कुंकुमरागपिंजरै—ऋतु ५।९
१७ ऋतु ६।१४
१८ अभि अंक ३ पृष्ठ ४१ अंक ३ श्लोक ७

वाले पाण्ड्य देश के राजा से विवाह कर लोगी तो उतनी ही सुन्दर लगोगी जैसे बादल के साथ बिजली[1]। गोरोचन का प्रयोग स्त्री और पुरुष दोनों ही मुख पर पत्र-रचना के लिए करते थे। राजा अतिथि ने राज्याभिषेक के अवसर पर पत्र-रचना के लिए ही इसका प्रयोग किया था[2]। उधर पार्वती के विवाहावसर पर उनके मुख पर पत्र-रचना इसी से की गई थी[3]। गोरोचन से दुपट्टे पर चित्र भी हंस आदि के बना दिए जाते थे[4]। यह शुभ माना जाता था।

हरिताल और मैनसिल—माथे पर तिलक लगाने के लिए विवाह के शुभ अवसर पर हरिताल और मैनसिल का प्रयोग किया जाता था[5]।

तेल—नहाने से पूर्व तेल मला जाता था[6]। तेल मलवाने का आशय स्वास्थ्य-वृद्धि ही था। ऋतुसंहार में स्त्रियाँ हिमऋतु में तेल मलवाती थीं ऐसा प्रसंग है[7]। शाकुन्तल में भी नहाने से पूर्व तेल मलवाने का वर्णन है[8]। विशेष प्रकारों के तेलों के नाम नहीं आए हैं। केवल इंगुदी तैल (जिसका व्यवहार वनवासी करते थे) का शाकुन्तल में नाम है।

सुगन्धित द्रव्य

सारे शरीर पर ही सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में होता था। यहाँ तक कि स्नान करने के पश्चात् सरोवरों के जल में यही सुगन्धि बस जाती थी और न महँकते रहते थे[1]। केश वस्त्र शय्या सब ही सुवासित इन्हीं सुगन्धित द्रव्यों से किए जाते थे।

(१) काला अगरु[11]—केश वस्त्र और शय्या काला अगरु से सुगन्धित किए जाते थे।

(२) धूप[1]—काला अगरु की तरह धूप का प्रयोग भी वस्त्र शय्या और केशों को सुगन्धित करने के लिए किया जाता था।

---

१ रघु ६।६५ २ रघु १७।२४
३ कुमार ७।१७ ४ कुमार ७।३२
५. पार्वती-कुमार ७।२३ शिव-कुमार ७।३३
६ कुमार ७।९ ७ ऋतु ४।१८
८. अभि ५।११ ९. अभि २ पृ० ३४
१० पूर्वमेघ ३७ रघु १६।२१ ऋतु १।४
११ केश— ऋतु ४।५ ६।१५ शय्या—ऋतु ५।५
१२ केश—पूर्वमेघ ३३ ऋतु ४।५ कुमार ७।१४ वस्त्र—ऋतु ६।१५, ऋतु ५।५

(३) कस्तूरी[1]—वस्तुओं को सुगन्धित करने के लिए ही इसका प्रयोग किया जाता था। अवलेपों को सुगन्धित करने के लिए उनको इसकी सुगन्धि में बसा लिया जाता था।

सुगन्धित चूर्ण

सुगन्धित द्रव्यों की तरह नानाप्रकार के सुगन्धित चूर्णों का प्रयोग किया जाता था। आजकल जैसे मुख पर पाउडर का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार मुख केश और शरीर के अन्य भागों पर तरह-तरह के चूर्ण लगाए जाते थे।

(१) लोध्रप्रसवरज—लोध का चूर्ण मुख को गौरवर्ण का करने के लिए प्रयुक्त किया जाता था। उत्तरमेघ इस बात की पुष्टि करता है[2]। कुमारसम्भव में भी लोध्रचूर्ण का प्रयोग किया गया है। यह प्रयोग पहले स्नान से पूर्व शरीर पर है[3]। तत्पश्चात् गात्रों पर अर्थात् स्नान करने के पश्चात् मुख पर इसका प्रयोग है[4]।

(२) अम्बुज रेणु[5]—शरीर पर यह प्रयुक्त किया जाता था। परन्तु सम्भावना इसकी भी है कि मुख पर भी अवसरानुकूल इसका प्रयोग हुआ करता होगा।

(३) केसर-चूर्ण[6]—रघुवंश में सीताराम चतुर्वेदी 'बकुलकेसरचूर्ण' का अनुवाद केसर-चूर्ण करते हैं। इस कथनानुसार केसर-चूर्ण का प्रयोग केश में किया जाता था। देखिए, टीका मल्लिनाथ—रघु १६।२६।

(४) केतक रज[7]—केवड़े के फूलों का पराग सुगन्धित चूर्ण का एक प्रकार था जो शरीर पर सुगन्धि के लिए मला जाता था।

(५) मुखचूर्ण —इन सब चूर्णों के अतिरिक्त मुख का कोई चूर्ण विशेष भी रहा होगा जिसमें कई वस्तुओं का सम्मिश्रण कर दिया जाता होगा। अतः इसको किसी पुष्प आदि की संज्ञा न देकर मुखचूर्ण ही कहा गया।

(६) कस्तूरी का चूर्ण —बालों को सुगन्धित करने के लिए कस्तूरी का चूर्ण लगाया जाता था।

(७) केशचूर्ण —कस्तूरी के चूर्ण की तरह अन्य केशचूर्ण भी थे जिनको कोई विशेष नाम न देकर केशचूर्ण कह दिया गया।

---

१ ऋतु ६।१४ रघु ४।५४ १०।२४ — २. उत्तरमेघ २
३ कुमार ७।६ — ४ कुमार ७।१७
५. रघु १३।५ — ६ रघु १६।२६ — ७ रघु ४।६६
८ रघु १।४६ — ९. रघु ४।५४ — १ कुमार ८।११

संक्षेप में समस्त चूर्णों को तीन वर्गों में संक्षिप्त किया जा सकता है। मुख चूर्ण केशचूर्ण तथा शरीर पर लगाने का चूर्ण। मुखचूर्ण में लोध्र अंगुरु केश में कस्तूरी और शरीर पर केतकचूर्ण और केसरचूर्ण आ सकता है।

मृगरोचन—श्री सीताराम चतुर्वेदी इसे गोरोचन कहते हैं। टीका में भी इसे गोरोचन ही कहा गया है। इसी प्रकार तीर्थ मिट्टी दूर्वा क्रिसलय कमर मालिका भी शृंगार के लिए प्रयुक्त हुआ करती थी[1]।

दर्पण—दर्पण का प्रसंग अनेक स्थानों पर आया है। कुमारसम्भव[2] रघुवंश[3] शकुन्तला[4] ऋतुसंहार[5] सब में ही दर्पण शब्द का वर्णन और नाम है, अतः स्पष्ट होता है कि शृंगार देखने के लिए इसकी उपयुक्तता सब समझते थे। सोने के चौखट पर दर्पण[6] कदाचित् धनी लोगों की वस्तु थी। दर्पण की अनुपस्थिति में जल में भी मुख-छवि देख ली जाती थी[7]।

प्रसाधन-कला—प्रसाधन-कला और प्रसाधन-विधि में कौशल किया था। यह कला प्रत्येक को नहीं आती थी। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में सखियाँ अपने आगुण से शकुन्तला को सजाया करती हैं। इसी प्रकार पार्वती के विवाह के अवसर पर प्रसाधिका उन्हें अंजन आदि लगाती है[8]। अतिथि के राज्याभिषेक पर प्रसाधिकाएँ उसका शृंगार करती हैं। मालविकाग्निमित्र में भी बकुलावलिका महावर से मालविका के चरण अति कौशल के साथ रँगती है और उनके पूछने पर कि उसने इस कला को किससे सीखा वह परिहास में कहती है—महाराज से[11]। इसी नाटक के पंचम अंक में परिव्राजिका कौशिकी से कहा जाता है—'वत्से प्रसाधनगर्वं वहति तद्भवत्या मालविकायाः शरीरे विवाहनेपथ्यमिति'। कभी-कभी नायक भी अपनी प्रेयसी का प्रसाधन किया करता था। अग्निवर्ण भी कभी-कभी स्त्रियों के चरणों में महावर लगा दिया करता था। महादेव जी ने भी पार्वती का फूलों से शृंगार किया था[13]।

---

१ अभि अंक ४ पद्य १४ २. कुमार ७।२२ २६ ३६ ८।११
३ रघु १४।२६ १७ ११।२८ ? ४ अभि ७।१२
५. ऋतु ४।१४ ६ रघु १७।२६ ७ कुमार ७।३६
८ अभि अंक ६, पृष्ठ ६६ ९. कुमार ७।२
१ रघु १८।२२ ११ माल अंक ३ पृष्ठ ३ ३
१२ माल अंक ५ पृष्ठ १४१ १३ रघु १९।२६ कुमार ८।२७ १९

नवाँ अध्याय

सामाजिक जीवन, रीति-रिवाज तथा आचार-व्यवहार

पारिवारिक जीवन

दाम्पत्य जीवन तथा गृहस्थ जीवन से यह पूर्णतः स्पष्ट हो चुका है कि पति-पत्नी किस प्रकार अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्व का पालन करते हुए परस्पर सुखी जीवन व्यतीत किया करते थे। परिवार में पति पत्नी और बच्चों के अतिरिक्त भाई बहिन सास ससुर, बहू मामा चाचा तथा माँ और पिता दोनों ओर के सम्बन्धियों का वर्णन प्रमाणित करता है कि उस समय भी संयुक्त परिवार की प्रथा रही होगी।

मित्र—पारिवारिक बन्धुओं के अतिरिक्त मित्र का भी तत्कालीन समाज में उच्च स्थान था। उन दिनों 'साप्तपदीनं सख्यं'[1] का मुहावरा प्रसिद्ध था। इसी को कालिदास ने 'बातचीत करने के नाते हम दोनों मित्र हो गए हैं'[2] इस रूप में भी व्यक्त किया है। मित्र का स्थान कितना उच्च था इसका प्रमाण कामदेव की मृत्यु के पश्चात् रति के विलाप करते हुए 'पुरुष अपनी स्त्री से प्रेम करने में भले ही ढिलाई कर दे पर सुहृद् से उसका प्रेम अटल रहता है, अब तुम उसे ही दर्शन दो' ये वचन हैं[3]। अतः मित्र पत्नी से भी अधिक निकट होता

---

१ प्रयुक्तसत्कारविशेषमात्मना न मां परं सम्प्रतिपत्तुमर्हसि।
यतः सतां संनतगात्रि संगतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते॥—कुमार ५।३९

२ सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुः वृत्तः स नौ संगतयोर्वनान्ते।—रघु २।५८

३ अयि सम्प्रति देहि दर्शनं स्मर पर्युत्सुक एष माधवः।
दयितास्वनवस्थितं नृणां न खलु प्रेम चलं सुहृज्जने॥—कुमार ४।२८

—नहि [illegible] पावनम्।
कार्यमि [illegible] रम्यते॥—माघ ४।१

था। वही समस्त कार्यों को अपने भावों की वाणी बना कर सम्पादित करता था। बुद्धि-बल से ही मित्र को इच्छापूर्ति अथवा सिद्धि नहीं अपितु अटल स्नेह ही कार्य को सिद्धि-द्वार तक पहुँचाता था। इन्हीं कारणों से मित्र का समाज में बहुत आदरपूर्ण और उच्च स्थान था। अनसूया और प्रियंवदा ने अपनी सखी शकुन्तला के लिए क्या-क्या किया इसका जितना भी वर्णन किया जाय थोड़ा ही है। दोनों के मिलन में सहयोग विवाह में सम्मति ही नहीं सहायता भी इन्हीं लोगों की देन थी। दुर्वासा को मनाना प्रसन्न कर सखी को शाप से मुक्त कराने का भी इन्हीं लोगों का प्रयत्न था। राजा के भूल जाने पर शकुन्तला से अधिक इनको ही चिन्ता थी कि कैसे राजा को इस विवाह की याद दिलाई जाय। समस्त कार्य सहसा ही सम्पन्न देखकर इनके हर्ष का पारावार न रहा यद्यपि सखी के बिछुड़ने का भी दुःख थोड़ा न था। इनकी परस्पर मित्रता और प्रेम को देखकर दुष्यन्त के मुख से भी ये शब्द निकल पड़े आप लोग एक-सी रूपवाली और एक-सी अवस्थावाली हैं आप लोगों का यह सौहार्द्रभाव मुझे बड़ा प्यारा लगता है'[1]।

मित्रता करते समय कवि चेतावनी भी देता है कि मनुष्य को सदा सोच समझ कर कार्य करना चाहिए। अयोग्य व्यक्ति की मित्रता से बड़ा दुष्परिणाम भी होता है। बिना किसी के स्वभाव को भली प्रकार जाने कभी मित्रता नहीं करनी चाहिए, नहीं तो यह मित्रता शत्रुता बन जाती है। अतः अच्छी तरह परीक्षा कर लेनी चाहिए[2]।

पाणिनि ने 'साप्तपदीनं सख्यम्' प्रयुक्त किया है[3]। कालिदास ने भी इसी अर्थ में साप्तपदीन का प्रयोग किया है[4]। मित्रता साप्तपदीन इसलिए कहलाती थी कि इसकी स्थापना सात पग चलने से ही होती थी। अथर्ववेद महाभारत में भी इसी बात की पुष्टि है। गृह्यसूत्र में 'पति-पत्नी को सात मंत्र पढ़कर ही साप्तपदी मित्र बनाता है, ऐसा लिखा है'[5]। कालिदास में भी इसी

---

१ अहो समवयोरूपरमणीयं भवतीनां सौहार्दम्। —अभि अंक १ पृ १०

२ अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्संगतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरी भवति सौहृदम्॥ —अभि ५।२४

३ साप्तपदीनं सख्यं —(५ २ १२)

४ भवान् सत्यार्थविशेषमात्मना न मां परं संप्रतिपत्तुमर्हसि।
यतः सतां सन्नतगात्रि संगतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते॥
—कुमार ५।३९

५ India as Known to Panini by Vasudeva Sharan Agrawal P 97

की प्रतिध्वनि है, जहाँ अज इन्दुमती को सखी कह कर सम्बोधित करता है[1]।

भृत्यवर्ग—परिवार में समृद्धि के अनुसार भृत्य रहा करते थे जिनका काम अपने स्वामी की सेवा करना था। इन सेवकों के साथ सदा दया और स्नेह के साथ व्यवहार करना ही उत्तम समझा जाता था। कण्व ने शकुन्तला को पति के घर जाते समय उपदेश ही यही दिया था कि 'अपने परिजनों के प्रति उदार रहना'[2]।

सेवकों का आदर्श अपने स्वामी के प्रति सच्चा रहना था। जिस काम का उनको भार दिया जाय उसको पूरी तरह से करना उनका कर्तव्य था। जिसकी रक्षा का भार सेवक को मिलता था उसको वह प्राण देकर भी रक्षा करता था नहीं तो उसके नष्ट हो जाने पर स्वामी के सम्मुख उसकी क्या स्वामि-भक्ति[3] ? राजा दिलीप इसी कारण नन्दिनी की रक्षा के बदले अपने शरीर का मांस देने के लिए तैयार हो गए थे।

राजा के पास भृत्यों की लम्बी सेना रहा करती थी। इनमें चारण वैतालिक[4] लेखक[5] दौवारिक[6] प्रतिहारी[7] द्वारपाल वस्त्र पहनाने वाले

---

१ गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ। —रघु ८।६७

२ भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी। —अभि ४।१८

३ भवानपीदं परवानवैति महान्हि यत्नस्तव देवदार्वाम्।
स्थातुं नियोक्तुर्न हि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन॥—रघु २।५६

४ ग्रन्थ के अध्याय में इसके उदाहरण दिए जा चुके हैं।

५. संक्षिप्य आसनस्था भूत्वा विदर्भविषयात्प्राप्तां वीरसेनेन प्रेषितं लेखं लेखकेन वाच्यमानं शृणोति। —माल अंक ५, पृ ११९
(लेखक पढ़कर सुनाया करते थे)

६ दौवारिक —(प्रणम्य) आज्ञापयतु भर्ता —अभि अंक २ पृ २९

७ प्रतिहारी —जयतु जयतु देव —अभि पृ १२
—जयो जयो देव —माल अंक ४ पृ ११७
—ततो नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा पुंवत्प्रगल्भा प्रतिहाररक्षी। —रघु ६।२

८ ते सद्मनि गिरेर्वेगादुन्मुखद्वाःस्थवीक्षिताः।
अवतेरुर्जटाभारैर्लिखितानलनिश्चलैः॥ —कुमार ६।४८

९ अथ विधिमवसाय्य शास्त्रदृष्टं दिवसमुखोचितमञ्चिताक्षिपक्ष्मा।
कुशलविरचितानुकूलवेषः क्षितिपसमाजमगात्स्वयंवरस्थम्॥
—रघु ५।७६

प्रसाधक[1] अर्थात् सजाने वाले रनिवास के सेवक[2] किराती[3] यवनी[4] आदि थे। बच्चों को खिलाने के लिए धात्री भी रहती थी। यह रानी के शिशुओं को स्तनपान भी कराती थी[5]। कन्या के बड़ी हो जाने पर भी उसके ऊपर धात्री रहती थी[6]।

गृह : गृह-सम्बन्धी फर्नीचर तथा पतन

गृह—तपस्वी-जन पर्णकुटी पर्णशाला अथवा उटज[7] में रहते थे। अर्थात् इनके घर घास-पत्ता इत्यादि से बनाए जाते थे। नागरिक के रहने के घर सद्म[11] वेश्म[12] सौध[13] प्रासाद[14] आदि कहलाते थे। इनको शिल्पीजन

---

१ उदाहरण अध्याय 'वेशभूषा' में दिए जा चुके हैं।
—रघु १७।२२ कुमार ७।२
२ दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधरक्षैः। —रघु ७।१६
३ ४ देखिए, अध्याय 'वर्ण-व्यवस्था'
५ उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम्।
—रघु ३।२५
६ कुमाराः कृतसंस्कारास्ते धात्री स्तन्यपायिनः।
आनन्देनाग्रजेनेव समं ववृधिरे पितुः ॥ —रघु १०।७८
७ वधूवं धात्र्यङ्गुलिदष्टिरसौ स्थलान्तरे कल्पितसन्निवेशम्।
धार्त्रकुलीभिः प्रतिसायमाणमूर्णामयं कौतुकहस्तसूत्रम् ॥
— कुमार ७।२५
८ देखिए, तपस्वी जीवन —अध्याय शिक्षा
९ देखिए, 'तपस्वी जीवन अध्याय 'शिक्षा' विशेषकर—रघु १२।४ १।९५
१ देखिए, 'तपस्वी जीवन रघु १।५ ५२ १४।८१ अभि पृ १७ ५८ कुमार ५।१७ रघु ११।२
११ न केवलं सद्मनि मागधीपतेः पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि।
—रघु ३।१९
—ते सद्मनि गिरेर्वेगादुन्मुखद्वाःस्थवीक्षिताः।
अवतेरुर्जटाभारैर्लिखितानलनिश्चलाः ॥ —कुमार ६।४८
१२ कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्य वेश्मसु मृदङ्गनादिषु।
ऋद्धिमन्तमधिकर्द्धिरुत्तरः पूर्वमुत्सवमपोहदुत्सवः ॥ —रघु १९।५
१३ तद् सौधसुखितेन दीर्घिकास्तस्य मन्त्रितिमूर्मिमि कुर्वे।
सौधवासमुटजेन विस्मृतः संचिकाय फलनि स्पृहस्त्वः ॥ —रघु १९।२
१४ तामिन्दुपतताकासुकमिन्दुमौलिरुत्तोरणं राजपथं प्रपेदे।
प्रासादशृङ्गाणि दिवापि कुर्वन् ज्योत्स्नाभिषेकद्विगुणद्युतीनि ॥—कुमार ७।६३

बनाते होंगे। अवश्य ही यह ईंटों के बनते होंगे। पाणिनि के समय में भी ईंट के मकान बनने लगे थे[1]। वानीर-गृह भी तत्कालीन समाज में प्रचलित थे[2] जो प्रायः नदी-तट पर बने होते थे।

इन गृहों में अपनी आवश्यकतानुसार अनेक कक्ष होते थे अथवा एक ही बड़े मकान को कई भागों में विभक्त कर दिया जाता था जिसका अपने आवश्यकतानुसार मनुष्य प्रयोग किया करते थे। शयनगृह, भोजनशाला, अग्निशाला, स्नानागार, महानस, सारभाण्डगृह आदि कई विभाग थे। राजाओं के महलों में भी इसी प्रकार का विभाजन था। उनका न्यायालय पृथक् रहता था तथा शुद्धान्त पृथक्। इसके अतिरिक्त ऋतु के अनुकूल विश्रामदायक कई भवन और भी रहते थे। समुद्रगृह, मणिहर्म्य भवन, प्रमोद-शयनगृह, मेघ-प्रतिच्छन्द इसी प्रकार के भवन थे। राजाओं के पास विनोद के लिए भी पृथक् भवन थे। नाट्यशाला, चित्रशाला, संगीतशाला आदि इसी प्रकार के स्थान थे। इनके विषय में 'स्थापत्य विभाग वाले' अध्याय में प्रकाश डाला जायगा।

फर्नीचर—बैठने की सभी वस्तुएँ आसन[3] कहलाती थीं। भद्रपीठासन, सिंहासन, वेत्रासन, कनकासन इत्यादि बैठने की वस्तुओं के विभिन्न प्रकार हैं।

सिंहासन[4] राजा के ही बैठने के लिए होता था। यही सुवर्ण का बना होता

—विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुंगमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥ —उत्तरमेघ १

१ India as known to Panini by V S Agarwala
—P 135 (1953 Ed)

२ अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरंगवातेन विनीतखेदः।
रहस्त्वदुत्संगनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः ॥ —रघु १३।३५
—बलिक्रियावर्जितसैकतानि स्नानीयसंसर्गमनाप्नुवन्ति।
उपान्तवानीरगृहाणि दृष्ट्वा शून्यानि दूये सरयूजलानि ॥ —रघु १६।२१

३ एतदासनमास्यताम्—विक्रम पृष्ठ १८२
—महेन्द्रभवनं गच्छता भगवतोपाध्यायेन त्वमासनं प्रतिग्राहित
।—विक्रम पृष्ठ १६२

४ सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना तेन सिंहासनं पित्र्यमखिलं चारिमण्डलम्।
—रघु ४।४
—महार्हसिंहासनसंस्थितोऽसौ सरत्नमर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम्।
भोजोपनीतं च दुकूलयुग्मं जग्राह सार्धं वनिताकटाक्षैः ॥—रघु ७।१८
—कामं न सोऽकल्पत पैतृकस्य सिंहासनस्य प्रतिपूरणाय—रघु १८।४

था तथा इसमें तरह-तरह के रत्न जड़े रहते थे[1]। टी ए गोपीनाथ राव के अनुसार यह चार पायों का बना होता था। इसका नाम सिंहासन पड़ा ही इसलिए कि इसके चारों पायों पर चार छोटे-छोटे सिंह बने होते थे[2]।

कनकासन[3] (कनकासन कोच-सा भी हो सकता है जिसपर वर-कन्या दोनों बैठ सकें) रत्नवदासन[4] सोने के अथवा रत्न जड़े आसन होते थे। वेत्रासन बेंत के बने आसन थे। यह ऋषि-मुनियों के बैठने के लिए प्रयुक्त किए जाते थे। मथुरा के म्यूजियम में बेंत की कुरसी है, अतः वेत्रासन इसी का रूप है।

हाथीदाँत के सिंहासन भी होते थे। गजदन्तासन[6] इसी प्रकार के सिंहासन की व्याख्या है।

इन बड़े-बड़े आसनों के अतिरिक्त चौकियाँ (Stool) भी होती थीं। राजा अपने चरणों को इन्हीं चौकियों पर रखा करते थे। यह पादपीठ[7] कहलाता

---

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ४ रघु ७।१८

—तेषां महार्हासनसंस्थितानामुदारनेपथ्यभृतां स मध्ये—रघु ६।६

२ The Hindu Iconography Vol. I Pt. I Page 21

३ तौ स्नातकैर्बन्धुमता च राज्ञा पुरन्ध्रिभिश्च क्रमशः प्रयुक्तम्।
कन्याकुमारौ कनकासनस्थावार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम्॥ रघु ७।२८

—क्लृप्तोपचारां चतुरस्रवेदीं तावेत्य पश्चात्कनकासनस्थौ।
जायापती लौकिकमेषणीयमार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम्॥

—कुमार ७।८८

४ परार्ध्यवर्णास्तरणोपपन्नमासेदिवान्रत्नवदासनं सः।
भूयिष्ठमासीदुपमेयकान्तिर्मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन॥ —रघु ६।४

५ तत्र वेत्रासनासीनान्कृतासनपरिग्रहः।
इत्युवाचेश्वरान्वाचं प्राञ्जलिर्भूधरेश्वरः॥ —कुमार ६।५३

६ तत्र कक्ष्यान्तरन्यस्तं गजदन्तासनं शुचि।
सोत्तरच्छदमध्यास्त नेपथ्यग्रहणाय सः॥ —रघु १७।२१

७ वितानसहितं तत्र भेजे पैतृकमासनम्।
चूडामणिभिरुद्घृष्टपादपीठं महीक्षिताम्॥ —रघु १७।२८

—पादपीठ—सो नु तस्मिन् सभायामेव पादपीठे स्वयं महाराजेन संदर्श्यमान
दिव्यकरविस्तीर्णे। —विक्रम पृ २४८

था। सोने का बना होने के कारण हेमपीठ[1] तपनीयपीठ[2] भी सम्बोधित होता था। छोटी चौकी पीठिका कहलाती थी। मालविका अपने चूने चोट खाए पैर को सोने की पीठिका पर ही रख बैठी थी जब अग्निमित्र उसे देखने आया था[3]। भद्रपीठ[4] भी इसी प्रकार की चौकी थी जिस पर बिठाकर (राज्याभिषेक के अवसर पर) राजा को तीर्थों के जल से नहलाया जाता था।

जैसा प्रसंगों से अभिव्यक्त होता है विष्टर पूज्यजनों अथवा राजकीयजनों के बैठने के लिए प्रस्तुत किया जाता था[5]।

मंच[6] (Raised Plateform) को हम प्लेटफार्म कह सकते हैं। मंच पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ बनी रहती थीं इन पर सिंहासन रखे थे। तल्प[7] और

---

१ कामरूपेश्वरस्तस्य हेमपीठाधिदेवताम् रत्नपुष्पोपहारेण च्छायामानर्च पादयोः ।
—रघु ४।८४

—आकुञ्चिताग्राङ्गुलिना ततोऽन्यः किञ्चित्समावर्जितनेत्रशोभः ।
तिर्यग्विसंसर्पिनखप्रभेण पादेन हैमं विलिलेख पीठम् ॥
—रघु ६।१५

२ तस्मादधः किञ्चिदिवावतीर्णावसंस्पृशन्तौ तपनीयपीठम् ।
सालक्तकौ भूपतयः प्रसिद्धैर्ववन्दिरे मौलिभिरस्य पादौ ॥ —रघु १८।४१

३ अनुचितनूपुरविरहं नार्हसि तपनीयपीठिकालम्बि ।
चरणं रुजापरीतं कुसुमावधि मां च पीडयितुम् ॥ —माल ४।१

४ इति कुमारं भद्रपीठ उपवेशयति । —विक्रम पृ २६५
—तमेनं हेमकुम्भेन संभृतैस्तीर्थवारिभिः ।
उपतस्थुः प्रकृतयो भद्रपीठोपवेशितम् ॥ —रघु १७।१

५ नारद—आयुष्मानेधि । राजा—अयं विष्टरोऽनुभूयताम्—विक्रम पृ २६४
—परिचेतुमुपांशु धारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम् । —रघु ८।१८
—तत्रेश्वरो विष्टरभाग्यथावत्सरत्नमर्घ्यं मधुमच्च गव्यम् ।
नवे दुकूले च नगोपनीतं प्रत्यग्रहीत्सर्वममन्त्रवर्जम् ॥
—कुमार ७।७२

६ स तत्र मञ्चेषु मनोज्ञवेषान् सिंहासनस्थानुपचारवत्सु ।
वैमानिकानां मरुतामपश्यदाकृष्टलीलान्नरलोकपालान् ॥ —रघु ६।१
—वैदर्भनिर्दिष्टमसौ कुमारः क्लृप्तेन सोपानपथेन मञ्चम् ।
शिलाविभङ्गैर्मृगराजशावस्तुङ्गं नगोत्सङ्गमिवारुरोह ॥ —रघु ६।१

७ इति विरचितवाग्भिर्बन्दिपुत्रैः कुमारः सपदि विगतनिद्रस्तल्पमुज्झाञ्चकार ।
—रघु ५।७५

पर्यङ्क पलंग की तरह थे जिन पर शयन किया जाता था। पलंग को जब गद्दे तकिए से युक्त कर, सोने के लिए उपयुक्त कर दिया जाता था तब वह शय्या[1] कहलाती थी। सिंहासन मंच पलंग आदि सभी उत्तरच्छद[2] अथवा आस्तरण[3] से ढके रहते थे अथवा इनमें यह बिछाई जाती थी। उत्तरच्छद से शय्या को ढक दिया जाता था और कुर्सी पीठ आदि को आस्तरण से आच्छादित और शोभित करते थे। ये रंग-बिरंगे भी होते थे[4] और हंस की तरह श्वेत भी[5]। कदाचित् शय्या का आच्छादन श्वेत और अन्य रंग-बिरंगे हुआ करते थे।

बरतन—बर्तन मिट्टी[6] सोने[7] अथवा अन्य कीमती वस्तुओं के बनते थे

—अथानपोढार्गलमप्यगारं छायामिवादर्शतलं प्रविष्टाम्।
सविस्मयो दाशरथेस्तनूजः प्रोवाच पूर्वार्धविसृष्टतल्पः ॥ —रघु १६।६

१ अरिष्टशय्यां परितो विसारिणा सुजन्मनस्तस्य निजेन तेजसा।
निशीथदीपाः सहसा हतत्विषो बभूवुरालेख्यसमर्पिता इव ॥
—रघु ३।१६

—तं कर्णभूषणनिपीडितपीवरांसं शय्योत्तरच्छदविमर्दकृशाङ्गरागम्।
—रघु ५।६५

—शय्यां जहत्युभयपक्षविनीतनिद्राः स्तम्बेरमा मुखरशृङ्खलकर्षिणस्ते।
—रघु ५।७२

२ देखिए, पादटिप्पणी नं १ —रघु ५।६५
—तत्र कल्पास्तरण्यस्तं गजदन्तासनं शुचि।
सोत्तरच्छदमध्यास्त नेपथ्यग्रहणाय स ॥ —रघु १७।२१
—तेन भिन्नविषमोत्तरच्छदं मध्यपिण्डितविसूत्रमेखलम्।
निर्मलेऽपि शयनं निशात्यये नोज्झितं चरणरागलाञ्छितम् ॥
—कुमार ८।८९

३ परार्ध्यवर्णास्तरणोपपन्नमासेदिवान्रत्नवदासनं स। —रघु ६।४
४ देखिए, पादटिप्पणी नं ३
५ तत्र हंसधवलोत्तरच्छदं जाह्नवीपुलिनचारुदर्शनम्। —कुमार ८।८२
६ स मृण्मये वीतहिरण्मयत्वात्पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशीलः।
श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः ॥—रघु ५।२
७ अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन।
यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः ॥ —रघु २।३६
—हेमपात्रगतं दोर्भ्यामादधान पयश्चरुम्।
अनुप्रवेशादाद्यस्य पुंसस्तेनापि दुर्वहम् ॥ —रघु १०।५१

जिन पर मणि भी जड़ी रहती थी[1]। समृद्ध व्यक्ति सोने आदि कीमती वस्तुओं के बरतन प्रयोग करते होंगे सामान्य जन मिट्टी के।

साधारणत बर्तन के लिए सामान्य शब्द पात्र[2] आया है। सम्भवत कटोरे की तरह, बीच मे गहरा कोने उठे हुए, ऐसे आकार का बरतन (पात्र) होगा क्योंकि खीर इसी प्रकार के बर्तन म रखी जा सकती है[3]।

कुंभ[4] कलश[5] और घट[6] पानी रखने के पात्र थे। कुम्भ का मुख संकीर्ण था अत पानी भरने मे ऐसा शब्द होता था कि दशरथ को भी हाथी

---

१ लोहिताकमणिभाजनार्पितं कल्पवृक्षमधु बिभ्रति स्वयम् ।
त्वामियं स्थितिमतीमुपागता गन्धमादनवनाधिदेवता ॥
—कुमार ८।७५

२ देखिए पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ६ —रघु ५।२ और नं ७
—रघु १।५१

३ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ७ —रघु १।५१

४ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ७ —रघु २।१६
—तस्याधिकारपुरुषैः प्रणतैः प्रदिष्टां प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुम्भाम् —।
—रघु ५।६१

—कुंभपूरणभव पटुरुच्चैरुच्चचार निनदोऽम्भसि तस्याः ।
तत्र स द्विरदबृंहितशंकी शब्दपातिनमिषुं विससर्ज ॥ —रघु ९।७१

—हा तातेति क्रन्दितमाकर्ण्य विषण्णस्तस्यान्विष्यन्वेतसगूढं प्रभवं सः ।
शल्यप्रोतं प्रेक्ष्य सकुम्भं मुनिपुत्रं तापादन्तःशल्य इवासीत्क्षितिपोऽपि ॥
—रघु ९।७५

—तेनावतीर्य तुरगात्प्रथितान्वयेन पृष्टान्वयः स जलकुम्भनिषण्णदेहः ।
तस्मै द्विजेतरतपस्विसुतं स्खलद्भिरात्मानमक्षरपदैः कथयाम्बभूव ॥
—रघु ९।७६

—आवर्जिताष्टापदकुम्भतोयैः सतूर्यमेनां स्नपयां बभूवुः । —कुमार ७।११

५ एष नूनं तवात्मगतो मनोरथः (इति कलशमावर्जयति)
—अभि अंक १ पृ १५

६ अस्तांसावतिमात्रलोहिततलौ बाहू घटोत्क्षेपणादद्यापि स्तनवेपथुं जनयति श्वासः प्रमाणाधिकः । —अभि १।२८
—अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान्घटस्तनप्रस्रवणैर्व्यवर्धयत् ।
—कुमार ५।१४

के पानी पीने का भ्रम हो गया[1]। घट और कुम्भ में आकार का अन्तर है। घट छोटा कुम्भ है जिसे स्त्रियाँ सरलता से उठा सकती थीं और वृक्षों को पानी आदि दिया करती थीं[2]। अवसर पर कुम्भ देखना शुभ शकुन समझा जाता था[3]। कलश भी पानी रखने का पात्र था। चषक[4] छोटे प्याले थे जिसमें मदिरा पी जाती थी। आजकल भी मदिरा पीने के चषक विशेष प्रकार के ही होते हैं।

किसलय लकड़ी के भाजन[5] पत्तों के दोने[6] भी प्रयुक्त किए जाते थे। अन्य आवश्यक सामग्रियों में बेतबहि,[7] छाता नाना प्रकार की वस्तुओं के रखने

—एषा त्वया पेशलमध्ययापि घटाम्बुसंवर्धितबालचूता। —रघु १३।३४

—पयोघटैराश्रमबालवृक्षान्संवर्धयन्ती स्वबलानुरूपैः।
असंशयं प्राक्तनयोपपत्तेः स्तनंधयप्रीतिमवाप्स्यसि त्वम्॥—रघु १४।७८

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ४—रघु ६।७१

२ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ६

३ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ४—रघु ५।६१

४ विभीमुखोत्कृष्टविधिरः फलाश्याऽऽस्युती विरलैश्चपकोत्तरैव।
रणक्षितिः शोणितमद्यकुल्या रराज मृत्योरिव पानभूमिः॥
—रघु ७।४९

५ सम्भ्रमोऽमवस्पोडकमलामुत्सिवा च्युतविकल्पसुधाम्। (सुधा)
—रघु ११।२५

६ पुष्या पत्र पत्रपुटे मदीयं पुत्रोपमुङ्क्ष्वेति तमादिदेश।—रघु २।६५

७ आकार इत्यवहितेन मया गृहीता या वेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञः।
—अभि ५।१

—जनागृहद्वारमुपेत्य नन्दी वामप्रकोष्ठार्पितहेमवेत्रः।
मुखार्पितैकाङ्गुलिसंज्ञयैव मा चापलायेति गणान्व्यनैषीत्॥
—कुमार ३।४१

८. औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव।
नातिश्रमापनयनाय न च श्रमाय राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम्॥
—अभि ५।६

जाती थी। स्थल पर घोड़े हाथी[२] ऊँट[३] बैल[४] रथ[५] कम्बर[६] आदि सवारियों से कार्य सम्पन्न होता था। युद्ध के समय घोड़े और हाथी दोनों प्रयुक्त किए जाते थे। विवाह के समय वर हाथी पर चढ़ता था[७]। राजा भी हाथी पर बैठकर घूमने निकलता था[८]।

रथ में घोड़े जुतते थे। इनमें बैठकर युद्ध भी होता था और वैसे भी यह एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के लिए सुविधाजनक सवारी थी। आखेट के समय भी दुष्यन्त रथ पर बैठा था। स्त्रियों के योग्य कर्णी रथ होता था जिसे कर्णीरथ कहा जाता था। चतुरस्रयान[१] पालकी की तरह होता था जिसे चार आदमी कन्धे पर उठाते थे।

राजकीय जीवन

सामान्य जनता के जीवन पर दृष्टि डाली जा चुकी है। परन्तु जन-विशेष का जीवन और कर्तव्य इन सबसे विभिन्न था। राजकीय जीवन के आदर्श और सिद्धान्त सामान्य वर्ग से पृथक थे।

राजा के गुण—पिता की मृत्यु के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का अधिकारी होता था चाहे वह कितना ही दुराचारी क्यों न हो। फिर भी राजा में बहुत-से गुणों का होना आवश्यक था। कवि ने जन्म की अपेक्षा व्यक्तिगत

---

१ सामान्य। सम्पूर्ण ग्रन्थों में असंख्य उदाहरण।

२ ३ आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति।—रघु ६।३२

४ यशोदधिः ककुद्मस्य सरितां वत्मुद्दुया।
शौर्यवर्यानुमापुमहोत्सवस्य विक्रमम्॥—रघु ४।२२

५ सर्वत्र उदाहरण।—रघु १।५४ १।८० ७।७ ६।१ ११

६ कम्बर—अथोष्ट्रवामीशतवाहितार्थं प्रचेतसं प्रीतिमना महर्षि।
—रघु ५।३२

७ ततोऽवतीर्याशु करेणुकाया स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः।—रघु ७।१७

८ न पुरं पुरुहूतभी कम्प्रमनिमज्जता क्रममाणञ्चकरेण नागेनाभ्रवीमता।
—रघु १७।३२

९ स्वभजनाद्भुविन्यारचना कर्णीरथम्था रघुवीरपत्नीम्।
प्रासादवातायनदृश्यबन्धं साकेतनार्योऽञ्जलिभिः प्रणेमुः॥—रघु १४।१३

१ [illegible] —रघु ५।१

गुणों को अधिक महत्ता दी है[1]। इन गुणों में स्वस्थ पुष्ट मांसल देह का होना अति आवश्यक था[2]। राजा दिलीप इसके आदर्श थे। इस प्रकार के स्वास्थ्य को प्राप्त कर ही राजा प्रजा की रक्षा करने में समर्थ होता था। 'ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः'[3] राजा के लिए अनिवार्य थे। राजा अज की सम्पूर्ण सम्पत्ति ही उसके ऐश्वर्य नहीं थी वरन् गुण शक्ति और प्रतिभा थी[4]। राजा दशरथ बहुत निरलस थे यहाँ तक कि अपने इसी गुण के कारण लक्ष्मी जी की कृपा-दृष्टि भी प्राप्त की थी[5]। राजा अतिथि ने बाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की थी[6]। उनका धर्म अर्थ काम के संतुलन को महत्ता देना[7] राजा का राजर्षि कहलाना[8] राजत्व को आश्रम[9] कहना राजा के उत्तम गुणों का प्रमाण है।

इस सफल राजत्व के लिए दूसरों को प्रसन्न रखने की शक्ति का होना अनिवार्य है। जिस प्रकार निशाकर को चन्द्र इसलिए कहा जाता है कि दूसरों के

---

१ कुमारस्ये पिता पश्चादुदयार्हसमो रवेः।
सोऽधीरस्य तेजसां वृत्तिं समभीरोस्थितो गुणैः। —रघु १७।१४
—इन्दोरगतयः पद्मे सूर्यस्य कुमुदेंऽशवः।
गुणास्तस्य विपक्षेऽपि गुणिनो लेभिरेऽन्तरम्॥ —रघु १७।७५

२ देखिए अध्याय 'वेश-भूषा' —कालिदास की सौन्दर्य प्रतिष्ठा।

३ रघु १।२२

४ बलमार्तभयोपशान्तये विदुषां सत्कृतये बहुश्रुतम्।
वसु तस्य विभोर्न केवलं गुणवत्तापि परप्रयोजना॥ —रघु ८।११

५ उपगतोऽपि च मण्डलनाभितामनुदितान्यसितातपवारणः।
श्रियमवेक्ष्य स रन्ध्रचलामभूदनलसोऽनलसोमसमद्युतिः॥ —रघु ९।१५

६ अनित्याः शत्रवो बाह्या विप्रकृष्टाश्च ते यतः।
अतः सोऽभ्यन्तरान्नित्यान्षट्पूर्वमजयद्रिपून्॥ —रघु १७।४५

७ न धर्ममर्थकामाभ्यां बबाधे न च तेन तौ।
नार्थं कामेन कामं वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु॥ —रघु १७।५७

८ अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाप्याश्रमे सर्वभोग्ये
रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं संचिनोति।
अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीतः
पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः॥ —अभि० २।१४

९ देखिए पादटिप्पणी नं ८ —रघु १।५८

हृदय को शीतलता देता है, सूर्य को तपन इसलिए कहा जाता है कि वह दूसरों को संतप्त करता है उसी प्रकार राजा भी दूसरों को प्रसन्न करने के कारण ही राजा कहलाता है[1]। दक्षिणी वायु के समान न अधिक शीत न अधिक उष्ण होना[2] प्रत्येक व्यक्ति के साथ ऐसा व्यवहार करना कि सब यही समझें कि हम पर राजा की कृपा है[3] सागर के समान गंभीर, सुखदायक और परोपकारी होना[4] साथ ही किसी के हृदय में विरक्ति अथवा घृणा न उत्पन्न होने देना नम्र विनयशील और हँसी में भी कटु अथवा बुरे वचन न कहना[5] प्रत्येक परिस्थिति में उदार रहना[6] सत्यवादी न्यायप्रिय होना[7] प्रजा की भलाई के लिए मृगया तथा मदिरा आदि विलास से दूर रहना[8] शास्त्र दृष्टि से प्रजा का पालन करना राजा के गुणों के आदर्श थे। कवि ने दुष्यन्त दिलीप रघु अज राम दशरथ अतिथि आदि सबको आदर्श रूप में ही चित्रित किया है।

---

१ यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात्॥ —रघु ४।१२

२ स हि सर्वस्य लोकस्य युक्तदण्डतया मनः।
आददे नातिशीतोष्णो नभस्वानिव दक्षिणः॥ —रघु ४।८

३ अहमेव मतो महीपतेरिति सर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत्।
उदधेरिव निम्नगाशतेष्वभवन्नास्य विमानना क्वचित्॥ —रघु ८।८

४ न च न परिचितो न चाप्यगम्यश्चकितमुपैमि तथापि पार्श्वमस्य।
सलिलनिधिरिव प्रतिक्षणं मे भवति स एव नवो नवोऽयमक्ष्णोः॥
—शाक १।११

—शार निपुणपुस्याभिमतप्रथमं सिंहासनान्तिकचरेण सहोपसर्प्य।
तेजोभिरस्य विनिवर्तितदृष्टिपातैर्वाक्यादृते पुनरिव प्रतिवारितोऽस्मि॥
—शाक १।१२

५ न कृपणा प्रभवत्यपि वासवे न वितथा परिहासकथास्वपि।
न च सपत्नजनेष्वपि तेन वागपरुषा परुषाक्षरमीरिता॥ —रघु ९।८

६ येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्॥ —अभि ६।२३

७ देखिए, पादटिप्पणी नं ५

—समतया वसुवृष्टिविसर्जनैर्नियमनादसतां च नराधिपः।
अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा॥ —रघु ९।६

८ न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरणं मधु।
तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरत्॥ —रघु ९।७

राजकीय दिनचर्या—राजा के दैनिक-कर्तव्य और समय-विभाजन के विषय में कवि ने बहुत-से स्थानों में संकेत किया है। कौटिल्य ने दिन को ८ भागों में विभक्त किया है। प्रत्येक समय का कर्तव्य भी निर्धारित किया है। कवि स्वयं इस विभाजन को स्वीकार करता है[1]। प्रातः धर्मासन से चलना तीसरे पहर वहाँ से आना[2] राजा की इसी दिनचर्या का प्रमाण है। अतः राजा का जीवन नियमित नीरस और बद्ध था। राजा का कभी अपने काम से अवकाश न पाना अपने उत्तरदायित्व से मुक्त न होना इसी नीरसता की पुष्टि है[4]। राजा का कर्तव्य अपने सुख को तिलाञ्जलि दे दूसरों को सुखी करना था। राजा के तीन मुख्य कार्य—राष्ट्र-रक्षा राष्ट्र-शिक्षा और राष्ट्र की आर्थिक उन्नति—थे। राजा का प्रजा का सच्चे अर्थों में पिता कहलाना[5] इसी कर्तव्य के कारण था। क्षत्रिय शब्द की व्युत्पत्ति ही 'पीड़ितों की रक्षा करें' यह हुई।

राजकीय कर्तव्य—राजकीय कर्तव्यों में सबसे प्रमुख न्याय है। उसको स्वयं नियमों का पालन करना चाहिए और प्रजा के द्वारा भी पालन करवाना

---

१ षष्ठे काले त्वमपि कमसे देव विश्रान्तिमहः। —विक्रम २।१

'षष्ठे भागे मंत्रः स्वैरविहारो वा (कौटिल्य का अर्थशास्त्र अध्याय १६) के समानान्तर है।

२ मद्वचनादमात्यमार्यपिशुनं ब्रूहि।
चिरप्रबोधनान्न संभावितमस्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम्।
—अभि अंक ६ पृष्ठ १०७

३ देखिए, पादटिप्पणी नं १
—प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा निषेवते श्रान्तमना विविक्तम्।
यूथानि संचार्य रविप्रतप्तः शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः॥
—अभि ५।५

४ भानुः सकृद्युक्ततुरंग एव रात्रिंदिवं गन्धवहः प्रयाति।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः॥ —अभि ५।४
देखिए पादटिप्पणी नं १ —अभि ५।६

—औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव।
नातिश्रमापनयनाय न च श्रमाय राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम्॥
—अभि ५।६

५ प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥ —रघु १।२४

चाहिए[1]। न्याय का पालन करते समय ईर्ष्या द्वेष पक्षपात आदि से परे होना चाहिए[2]। राजा को न्याय-सभा में अर्थी और प्रतिवादी आदि के साथ बैठना चाहिए जिससे वह स्वयं निर्णय की उपयुक्तता पर अपना ध्यान दे सके[3]। कई निर्णायकों के रहने से पक्षपात का भय नहीं रहता[4]। अपनी अनुपस्थिति में मन्त्री से भी न्याय-सभा में बैठकर न्याय करने को वह कह दिया करता था[5]। दण्ड अपराध के अनुसार ही दिया जाता था[6]। चोरी के बदले शूली[7] अर्थात् मृत्यु-दण्ड गिद्धों से मांस नुचवाना आदि दण्ड दिए जाते थे[8]।

संक्षेप में शान्ति और सुव्यवस्था रखना ही उसका प्रधान कर्तव्य था।

कर (Taxation)—कर लगाने और वसूल करने का मुख्य उद्देश्य यह था कि प्रत्येक मनुष्य अपनी आमदनी का एक बहुत छोटा अंश राजा को दे जिससे वह उनके लिए कल्याणकारक काम कर सके। राज्य में जिस बात का अभाव रहता था उसकी पूर्ति इसी कर से होती थी[9]। अतः राज्यकोष का सदा भरा रहना ठीक था परन्तु लोभ या स्वार्थवश नहीं अपितु प्रजा के सहायतार्थ[10]।

---

१ रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम् ।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः ॥ —रघु १।१७

२ द्वेष्योऽपि सम्मतः शिष्टस्तस्यार्तस्य यथौषधम् ।
त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता ॥ —रघु १।२८

३ स धर्मस्थसखः शश्वदर्थिप्रत्यर्थिनां स्वयम् ।
ददर्श संशयच्छेद्यान्व्यवहारानतन्द्रितः ॥ —रघु १७।३

४ सबहुस्याप्यकाङ्क्षिणो निगमाम्मुचगमो दत्ताव । —माल अंक १ पृ १०६

५ मद्वचनादमात्यमार्यपिशुनं ब्रूहि । चिर प्रजावेक्षणान्न सम्भावितमस्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम् । यत्प्रत्यवेक्षितं पौरकार्यमार्येण तत्पत्रमारोप्य दीयता-मिति । —अभि अंक ६ पृ १ ७

६ यथापराधदण्डानाम् ... —रघु १।६

७ एष नामानुग्रहो यच्छूलारोपणीयं हस्तिपृष्ठत्स प्रतिष्ठापितः ।
—अभि अंक ६ पृ १

८ एष नो स्वामी वध्यहस्तो राजशासनं प्रतीक्ष्यतोऽमुखो दृश्यते ।
गृध्रबलिर्भविष्यसि शुनो मुखं वा द्रक्ष्यसि । —अभि अंक ६ पृ ९९

९ प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् ।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥ —रघु १।१८

१ कोशेनाश्रयणीयत्वमिति तस्यार्थसंग्रहः ।
अम्बुगर्भो हि जीमूतश्चातकैरभिनन्द्यते ॥ —रघु १७।६

प्रजा से आमदनी का १/६ भाग कर के रूप में लिया जाता था। यह 'षष्ठांश वृत्ति' कहलाता था[1]। तपस्विजन भी इस कर से मुक्त न थे[2]। मुनिगण उञ्छवृत्ति से एकत्र धान्य का छठा अंश राजा के नाम पर नदी के किनारे फेंक देता था राजा उसे लेता नहीं था। अभिज्ञानशाकुन्तल में दुष्यन्त ने कहा है कि तपस्वी कर नहीं देते अपनी तपस्या का षष्ठांश देते हैं। इसके अतिरिक्त राजा खानों से भी रुपया वसूल किया करता था। वन-उत्पत्ति पर भी कर लगता था[3] अर्थात् खान की मणि पृथ्वी के धान्य वन के हाथी सब ही राजा की आमदनी के उद्गम स्थान थे। निस्संतान मनुष्य के मर जाने पर उसका धन भी कोष में मिला लिया जाता था[4]। नैगम और सार्थवाह आदि राजा को बहुत कुछ भेंट करते थे[5]। विजय प्राप्त होने पर पराजित राजा हाथी घोड़े सेना और अन्य वस्तुएँ विजेता-पक्ष को देता था[6]।

शासन-प्रबन्ध—भारतवर्ष ने प्रत्येक प्रकार की राजनीतिक सत्ताओं का प्रयोग कर अन्त में यह निष्कर्ष निकाला कि राजा और मंत्रिमंडल के सहयोग से शासन-प्रबन्ध उत्तम है। कवि की भी अपनी यही सम्मति है। मंत्रिमंडल

---

१ यथास्वमाश्रमैश्चक्रे वर्णैरपि षडंशभाक्। —रघु १७।६५
—ओजस्यमिच्छामि तपोपमेन्तु षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः।
—रघु २।६६
—षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एष। —अभि ५।४
२ निवर्त्यते मैर्नियमाभिषेको येभ्यो निवापाञ्जलयः पितॄणाम्।
तान्युञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि शिवानि वस्तीर्थजलानि कच्चित्॥ —रघु ५।८
—नीवारषष्ठभागमस्माकमुपहरन्त्विति। राजा—मूर्ख। तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः।—अभि पृ ६५
३ खनिभिः सुषुवे रत्नं क्षेत्रैः सस्यं वनैर्गजान्।
दिदेश वेतनं तस्मै रक्षासदृशमेव भूः॥ —रघु १७।६६
४ समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः। अनपत्यश्च किल तपस्वी। राजगामी तस्यार्थसंचय इत्येतदमात्येन लिखितम्।
—अभि अंक ६ पृ १११
५ वारणहारोपणमग्नपरा नैगमा समुन्नत। —विक्रम ४।११
६ आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम्।
फलैः संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः॥ —रघु ४।३७
—सेना सरस्समुत्क्षिप्तमुखाद्विपराशय।
उपदा विविशुः शश्वन्नोत्सेकाः कोसलेश्वरम्॥ —रघु ४।७०

राज्य-भार छोड़ कर पुत्र की इच्छा से वसिष्ठ के पास गए[1]। राजा दुष्यन्त के साथ भी यही हुआ। वे मन्त्रियों पर सब छोड़ इन्द्र से मिलने चले गए[2]। पुरूरवा भी राज्य का काम मन्त्रियों पर छोड़ उर्वशी के साथ गन्धमादन पर वन-विहार के लिए चला गया था[3]। राजा की उपस्थिति में भी यदि वह विलास में फँस कर राज्यकार्यों की ओर ध्यान न दे तो मन्त्रियों पर ही सम्पूर्ण उत्तरदायित्व आ जाता था। अग्निवर्ण इसका उदाहरण है[4]। मालविकाग्निमित्र से यह भलीभाँति प्रमाणित हो जाता है कि मन्त्रिपरिषद् के काम करते समय राजा वहाँ नहीं रहता था। परिषद् अपना निर्णय अमात्य के द्वारा राजा को सूचना देती थी। जब राजा और परिषद् का निर्णय एक हो जाता था तब कार्यरूप में परिणति होती थी। अभिज्ञानशाकुन्तल में अमात्य का निर्णय धनमित्र की सम्पत्ति को राजकोष में मिलाना था पर राजा ने अपना निर्णय इसके विपरीत दिया था, वही सर्वमान्य हुआ। अतः ऐसा कहा जा सकता है, कि निर्णय में प्रधान हाथ राजा का रहता था। वह अपनी व्यक्तिगत सम्मति देने के लिए सदा स्वतन्त्र था, वह भी आदेश के रूप में।

परराष्ट्र नीति—राजा त्रयी वार्ता दंडनीति और आन्वीक्षिकी[5] का ज्ञाता होता था। प्रभु-शक्ति[6] मन्त्र-शक्ति[7] और उत्साह-शक्ति[8] तीनों की सहायता से राजा राज्य-भार को सरलता से वहन करने में समर्थ होता था। साम दान

---

१ संतानार्थाय विधये स्वभुजादवतारिता।
तेन धूर्जगतो गुर्वी सचिवेषु निचिक्षिपे॥ —रघु १।३४

२ राजा—मद्वचनादमात्यपिशुनं ब्रूहि—त्वन्मतिः केवला तावत्परिपालयतु प्रजा। अधिज्यमिदमन्यस्मिन्कर्मणि व्यापृतं धनुः। —अभि ६।१२

३ सखी किल तं रविसहायं राजर्षिममात्येषु निवेशितराज्यधुरं गृहीत्वा गन्धमादनवनं विहर्तुं गता। —विक्रम पृ २११

४ सोऽधिकारमभिकः कुलोचितं काश्चन स्वयमवर्तयत्समाः।
संनिवेश्य सचिवेष्वतः परं स्त्रीविधेयनवयौवनोऽभवत्॥ —रघु १९।४

५ विस्तृत वर्णन और उदाहरण के लिए देखिए, अध्याय 'शिक्षा'।

६ अनयत्प्रभुशक्तिसम्पदा वशमेको नृपतीननन्तरान्।
अपरः प्रणिधानयोग्यया मरुतः पंच शरीरगोचरान्॥ —रघु ८।१९

७ मन्त्रः प्रतिदिनं तस्य बभूव सह मन्त्रिभिः।
स जातु सेव्यमानोऽपि गुप्तद्वारो न सूच्यते॥ —रघु १७।५०

८ स भूधराणामधिपेन तस्यां समाधिमत्यामुदपादि भव्या।
सम्यक्प्रयोगादपरिक्षतायां नीताविवोत्साहगुणेन संपत्॥ —कुमार १।२२

दण्ड भेद[1] राजनीति के लिए इन चारों उपायों की भी जानकारी राजा को भली भाँति रहती थी[2]। राजा के सैनिक-कर्तव्यों का उल्लेख भी कवि ने किया है। राजनीति के साथ सैनिक-शक्ति भी उसके लिए आवश्यक थी। शौर्य और नीति दोनों का ही अवलम्बन उसके लिए आवश्यक था। दुर्ग[3] सन्धि विग्रह, यान आसन आदि षड्गुण[4] मौल भृत्य सुहृद् भी द्विषदाटविक आदि ६ बलों[5] का उपयोग भी राजा जानता था। युद्ध में सफलता के लिए रेगिस्तान में खाई खोदने नदी के ऊपर पुल बनाने और जंगल साफ करने का कौशल बहुत आवश्यक था[6]। राजा के लिए इन सबकी जानकारी भी आवश्यक थी।

युद्ध का आदर्श अधम नहीं था। 'यशसे विजिगीषूणां'[7] न कि विजय राज्य-प्राप्ति के लिए होती आदर्श थी[8]। शत्रुदल का संहार कर सिंहासन

---

१ इति क्रमात्प्रयुञ्जानो राजनीतिं चतुर्विधाम् ।
आतीर्थादप्रतीघातं स तस्याः फलमानशे ॥ —रघु १७।६८

—सुरगज इव दन्तैर्भग्नदैत्यासिधारैर्नय इव पणबन्धव्यक्तयोगैरुपायैः ।
हरिरिव युगदीर्घैर्दोर्भिरंशैस्तदीयैः पतिरवनिपतीनां तैश्चकाशे चतुर्भिः ॥
—रघु १०।८६

२ कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम् ।
अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः ॥ —रघु १७।४७

३ दुर्गाणि दुर्ग्रहाण्यासंस्तस्य रोद्धुरपि द्विषाम् ।
न हि सिंहो गजास्कन्दी भयाद् गिरिगुहाशयः ॥ —रघु १७।५२

४ स गुणानां बलानां च षण्णां षण्मुखविक्रमः ।
बभूव विनियोगज्ञः साधनीयेषु वस्तुषु ॥ —रघु १७।६७
रघु १०।८६ रघु ८।२१ षड्गुण (पणबन्ध)

५ देखिए पादटिप्पणी नं० ४

—स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः ।
षड्विधं बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया ॥ —रघु ४।२६

६ मरुपृष्ठान्युदम्भांसि नाव्याः सुप्रतरा नदीः ।
विपिनानि प्रकाशानि शक्तिमत्त्वाच्चकार सः ॥ —रघु ४।३१

७ रघु १।७

८ गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः ।
श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम् ॥ —रघु ४।४३

पर फिर उनको बिठाना इसका प्रमाण था[1]। कूटनीति को मानने पर भी इसका प्रयोग असंगत और निन्द्य समझा जाता था।[2]

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने के लिए षड्गुणों से परिचय ही नहीं अधिकार रखना आवश्यक था। अज इनका प्रयोग करता था। परन्तु प्रधानता सन्धि को ही देता था[3]। परराष्ट्रनीति के लिए इनका उपयोग आवश्यक था। युद्ध का उद्देश्य शक्तिशाली राजाओं का बल कम करना और दुर्बलों की शक्ति बढ़ाना था[4]। कौटिल्य का मत यह राजा के लिए उपयोगी था। मालविकाग्निमित्र में मन्त्री का यह कथन कि नया राजा जिसने प्रजा के बीच अभी पैर न रोपे हों नए पौधे की तरह शीघ्र ही उन्मूलित किया जा सकता है, परराष्ट्रनीति की सफलता का रहस्य था[5]।

इस राजकीय-शक्ति के साथ आध्यात्मिक-शक्ति भी यदि मिल जाय तो राजा सम्पूर्ण विश्व को पराजित कर सकने में समर्थ था।

मन्त्रियों के प्रकार—अतः राजा की सहायता के लिए अनेक मन्त्री थे। वाड्गुण्य का मन्त्री मालविकाग्निमित्र में आया है, जो युद्ध-सम्बन्धी सभी कार्यों को करता है। लगान और व्यय मन्त्री जो राजकोष की देखरेख करता था कई विभागों की आमदनी और व्यय का हिसाब-किताब रखता था और न्याय करता था। अमात्य पिशुन इसी प्रकार का मन्त्री था[6]। राज्यकार्य में

---

१ आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम् ।
फलैः संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः ॥ —रघु ४।३७

२ नयगुप्तविशेषेऽपि तस्मिन्नभ्यागमोचिते ।
भेदेऽभिसारिकावृत्ति जयश्रीर्वीरगामिनी ॥ —रघु १७।६९

३ पणबन्धमुखान्गुणानजः षडुपायुङ्क्त समीक्ष्य तत्फलम् । —रघु ८।२१

४ कामेष्वेवासमत्वाच्च तस्य शक्तिमतः सतः ।
समीरणसहायोऽपि नाम्भःप्रार्थी दवानलः ॥ —रघु १७।५६

५ अचिराधिष्ठितराज्यः शत्रुः प्रकृतिष्वरूढमूलत्वात् ।
नवसंरोपणशिथिलस्तरुरिव सुकरः समुद्धर्तुम् ॥ —माल १।८

६ राजा—वेत्रवति मद्वचनादमात्यमार्यपिशुनं ब्रूहि चिरप्रबोधनान्न संभावितमस्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम् । यत्प्रत्यवेक्षितं पौरकार्यमार्येण तत्पत्रमारोप्य दीयतामिति । —अभि पृ १७

प्रतिहारी—देव अमात्यो विज्ञापयति—अर्थजातस्य गणनाबहुलतयैकमेव पौरकार्यमवेक्षितं तद्देव पत्रारूढं प्रत्यक्षीकरोत्विति ।

—अभि अंक ६ पृ १२

पुरोहित का स्थान भी बहुत महत्त्व का था। धर्म-सम्बन्धी कार्यों में यही सलाह देता था। शकुन्तला को न पहचान पाने पर दुष्यन्त के धर्म-संकट में पड़ने पर इसी ने उचित मन्त्रणा दी थी।

इनके अतिरिक्त 'सेनापति'[1] और आजकल की तरह का 'कलक्टर' उस समय नागरिक स्याल[2] कहाता है। इसकी सहायता के लिए रक्षक[3] आदि भी राजकीय कार्यों में सहायक थे। धर्माध्यक्ष धर्म-सम्बन्धी कार्यों की देख-रेख के लिए नियुक्त किया जाता था। राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला की सखियों को परिचय ही यही दिया था कि मैं राजा की ओर से राज्य को धार्मिक-क्रियाओं की देखभाल के लिए नियुक्त किया गया हूँ[4]। नगर की शान्ति और रक्षा के लिए राष्ट्रीय था[5]। दुगरक्षक भी होते थे। दुगरक्षक वीरसेन का नाम आता है (माल० पृ २६८)।

अत न्याय-विभाग सेना-विभाग पुलिस-विभाग सम्पत्ति-विभाग आदि आजकल की तरह ही विभाजन थे।

राजा की शिक्षा—शासन प्रबन्ध से राजा को कितना योग्य सशक्त और विद्वान् होना चाहिए, इसका आभास मिलता है। व्यक्तिगत जीवन का आनन्द और सुख उसके लिए था अवश्य पर उसमें अधिक तन्मय न होना ही सिद्धान्त था। अत राजा की शिक्षा के ऊपर विशेष ध्यान दिया जाता था। दण्डनीति राजनीति शस्त्रविद्या आदि के साथ शास्त्र इतिहास धर्म आदि का ज्ञान भी उसके लिए आवश्यक था[6]।

राजा के विनोद्—आखेट दोलाधिरोहण रानियों के साथ जलक्रीडा संगीत नाटक पासा खेलना इनके विनोद थे[7]। विलासी राजा मदिरा

---

१ राजा—इदमेव वचनं निमित्तमुपादाय समुन्नमोऽस्त्वता सेनाधिपति ।
—माल अंक १ पृ २६८

२ तत प्रविशति नागरिक स्याल पश्चाद्बद्धपुरुषमादाय रक्षिणौ च ।
—अभि अंक ६ पृ १७

३ देखिए, पादटिप्पणी नं २

४ भवति य पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्त सोऽहमाश्रमिणामविघ्नक्रियोपलम्भाय धर्मारण्यमिदमायात । —अभि अंक १ पृष्ठ १८

५ आर्य कति दिवसान्यावयोर्निभावसुता राष्ट्रियेण भट्टिनीपादमूलं प्रेषितयो ।
—अभि पृ १ ५

६ देखिए, विस्तृत परिचय के लिए, अध्याय 'शिक्षा'

७ देखिए, इसी अध्याय में 'उत्सव और विनोद

और स्त्रियों में अनुरक्ति रखते थे। आदर्श राजा इन सब से दूर रहते थे[1]।

राजचिह्न—पीछे चँवर आदि के डुलाए जाने से, आतपत्र के सिर पर होने से और मुकुट आदि के धारण करने से व्यक्ति पहचाना जाता था कि यह राजा है। राजकीय चिह्नों में सिंहासन, आतपत्र, चँवर, मुकुट, राजदण्ड, पैर रखने की चौकी, दंड आदि मुख्य थे। इनका वर्णन यथाप्रसंग किया जाएगा।

स्वास्थ्य : रोग तथा चिकित्सा

आयुर्वेद का विकास अपनी पूर्णता पर पहुँच चुका था। सिद्धहस्त वैद्य ध्रुवसिद्धि[2] का उल्लेख इसका ज्वलन्त प्रमाण है। अवश्य ही स्वास्थ्य की अवहेलना नहीं की जाती थी। 'समस्त धार्मिक कार्यों में शरीर की रक्षा करना सबसे प्रथम कर्तव्य है'[3] यह उक्ति केवल कहने भर की वस्तु नहीं अपितु स्वास्थ्य की ओर आम जनता की रुचि का प्रकाशन मात्र है। जब तक मनुष्य का शरीर स्वस्थ नहीं होगा तब तक वह किसी काम में भी सफल नहीं हो सकता, यही मूल भाव उस समय के प्रचलित विश्वास 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' का आधार था।

स्वास्थ्य के सम्बन्ध में स्त्री और पुरुषों के स्वस्थ शरीर के विभिन्न दृष्टिकोण थे। पुरुष के शरीर में ओज, शक्ति और कठोरता स्पृहणीय माना जाता था। चौड़ी छाती, साँड़ के-से कन्धे, शाल के वृक्ष की-सी लम्बी भुजाएँ[4] स्वास्थ्य की प्रतीति करा देती हैं। संस्कारोल्लिखित मणि-सा शरीर, अर्थात् कठिनाइयों का सामना करते-करते भी जो निस्तेज और शिथिल न हो अपितु सदा तेज से चमकता रहे, पुरुष-सौन्दर्य का प्रतीक था। स्त्री के शरीर की कोमलता को पुष्टता की अपेक्षा अधिक प्रश्रय दिया जाता था। लता-सी सुकुमार दे

---

१ न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरणं मधु ।
तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरत् ॥ —रघु ९।७

२. ध्रुवसिद्धि चिरप्रमाणीयताम् —माल अंक ४ पृ ११९

३ शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् —कुमार ५।३३

४ व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः । —रघु १।१३

५. चिन्ताजागरणप्रताम्रनयनस्तेजोगुणादात्मनः ।
संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते ॥ —अभि ६।६
—स जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते ।

६ दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ ॥
—रघु ३।१८

उनका सबसे बड़ा सौन्दर्य था। कोमलता के जितने प्रतीक हैं वे सब स्त्री-सौन्दर्य के साथ थे[1]। कालिदास के युग में स्त्री विलास की सामग्री थी। तभी कन्दुक-खेल से थक जाती है[2] केश के सिर फूल भी उन्हें चुभते हैं[3]। उनका पौरुष अपने पति को मेखला दाम से ही बाँधने तक सीमित है[4]। सम्भव है, यह उच्च एवं धनी स्त्रियों के ही सम्बन्ध में चरितार्थ हो सामान्य साधारण वर्ग की नारी का स्वास्थ्य अवश्य अच्छा होगा।

कवि ने पित्त वातुलय अथवा क्षीणस्खलन[5] मांस[6] आदि का अपने ग्रन्थों में संकेत किया है। अवश्य ही इन सबका ज्ञान पूर्णता को पहुँच चुका होगा। पित्त के शमन में भोजन ही लाभदायक होता है। विदूषक की यह उक्ति निष्कारण नहीं अपितु सप्रयोजन है[8]। भोजन को समय पर न करने से भी रोग हो जाते हैं[9]।

---

१ 'कालिदास की सौन्दर्य-प्रतिष्ठा' में इसकी सम्यक् विवेचना की जा चुकी है।

२ श्रमं ययौ कन्दुकलीलयापि या तया मुनीनां चरितं व्यगाह्यत।
—कुमार ५।११

३ महार्हशय्यापरिवर्तनच्युतैः स्वकेशपुष्पैरपि या स्म दूयते।
—कुमार ५।१२

४ रशनागुणेन राजानं ताडयितुमिच्छति। —माल अंक ३ पृ ३३३

—अङ्गुलीकिसलयाग्रतर्जनं भ्रूविभङ्गकुटिलं च वीक्षितम्।
मेखलाभिरसकृच्च बन्धनं वञ्चयन्प्रणयिनीरवाप सः॥ —रघु १९।१७

५ भवति स्वस्थस्य भोजनं पित्तोपशमनसमर्थं भवति।
—विक्रम अंक २ पृ १८९

६ मत्त सम्मदहुताशमस्तर्यं रक्तराटस्तमापमं पती।
येन तस्य मधुनिर्गमात्कृशश्चित्तयोनिरभवत्पुनर्नवः॥ —रघु १९।४६

इसमें 'मधुनिर्गमात्' से केवल वसन्त के चले जाने का ही भाव नहीं वीर्यस्खलन की भी ध्वनि है।

७ देखिए, अध्याय आहार

८ देखिए, पादटिप्पणी नं ५

९ अत्र भवतः उचितवेलातिक्रमे चिकित्सकाः दोषमुदाहरन्ति।
—माल अंक ३ पृ २८८

गया स्थान है।[१] कवि ने भली प्रकार इसका संकेत किया है। दोहद के समय मुख का पीला पड़ जाना, मिट्टी खाना, स्तनों की वृद्धि और चूचुकों का काला पड़ जाना आदि गर्भ के लक्षणों का उल्लेख कवि ने यत्र-तत्र किया है[२]। प्रारम्भिक दिनों में कष्ट होता है परन्तु तत्पश्चात् गर्भिणी पहले की तरह हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर लगने लगती है[३]। जैसे-जैसे गर्भ बढ़ता है उठने-बैठने में कठिनाई होती है। यहाँ तक कि स्वागत के लिए उठना और प्रणाम करना भी भार हो जाता है। थकावट से आँखों में आँसू आ जाते थे[४]। गर्भिणी के मन की प्रत्येक इच्छा की पूर्ति करना अभिभावक का कर्तव्य है[५]।

गर्भ के मर्मज्ञ भी उस समय पाए जाते थे। ऐसे चिकित्सकों की संज्ञा

---

१ २ शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन सालक्ष्यत लोध्रपाण्डुना।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी॥ —रघु ३।२
—तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वरो रहस्युपाघ्राय न तृप्तिमाययौ।
करीव सिक्तं पृषतैः पयोमुचां शुचिव्यपाये वनराजिपल्वलम्॥—रघु ३।३
—दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरं तदीयमानीलमुखं स्तनद्वयम्।
तिरश्चकार भ्रमराभिलीनयोः सुजातयोः पङ्कजकोशयोः श्रियम्॥
—रघु ३।८
—अथाधिकस्निग्धविलोचनेन मुखेन सीता शरपाण्डुरेण।
आनन्दयित्री परिणेतुरासीदनक्षरव्यञ्जितदोहदेन॥ —रघु १४।२६
—तामङ्कमारोप्य कृशाङ्गयष्टिं वर्णान्तराक्रान्तपयोधराग्राम्।
विलज्जमानां रहसि प्रतीतः पप्रच्छ रामां रमणोऽभिलाषम्॥
—रघु १४।२७
—आपाण्डुरपयोधरं ... तस्याः॥ —विक्रम ५।८
३ क्रमेण निस्तीर्य च दोहदव्यथां प्रचीयमानावयवा रराज सा।
पुराणपत्रापगमादनन्तरं लतेव संनद्धमनोज्ञपल्लवा॥ —रघु ३।७
४ सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भगौरवात्प्रयत्नमुक्तासनया गृहागतः।
तयोपचाराञ्जलिखिन्नहस्तया ननन्द पारिप्लवनेत्रया नृपः॥ —रघु ३।११
५ न मे ह्रिया शंसति किंचिदीप्सितं स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी।
इति स्म पृच्छत्यनुवेलमादृतः प्रियासखीरुत्तरकोसलेश्वरः॥
—रघु ३।५
—उपेत्य सा दोहददुःखशीलतां यदेव वव्रे तदपश्यदाहृतम्।
न हीष्टमस्य त्रिदिवेऽपि भूपतेरभूदनासाद्यमधिज्यधन्वनः॥—रघु ३।६
देखिए पादटिप्पणी नं. १ २ —रघु १४।२७

'कुमारभृत्य' थी । किस प्रकार गर्भ पुष्ट हो सकता है और सुविधा एवं सरलता से प्रसव होता है इन सब शास्त्रों के विद्वान् भी उस समय थे[1] ।

शल्य-शास्त्र का भी कवि ने उल्लेख किया है । अंग में भिदी किसी वस्तु को निकालना[2] अथवा किसी अंग को काट देना[3] इसी शास्त्र की विशेषता है ।

सर्प-विष को दूर करने के कई उपाय थे । या तो उस अंग को काट ही दिया जाता था या जला दिया जाता था या घाव में से रक्त निकाल दिया जाता था[4] । तान्त्रिक-विधि भी इसके लिए थी । मन्त्र और औषध से सर्प बाँध जाता था[5] । वह 'उदकुम्भ-विधान' अर्थात् पानी के घड़े के सहारे किसी ऐसी वस्तु से विष उतारा जाता था जिसमें नागमुद्रा बनी हुई हो[6] । मालविकाग्निमित्र में गौतम का विष सर्पमुद्रा वाली अंगूठी लेकर ही दूर किया जाने का प्रपञ्च किया गया था[7] ।

रोगों में छोटे-छोटे सामान्य रोगों के साथ राजयक्ष्मा, अतीसार[9] आदि भयंकर रोगों का भी उल्लेख कवि के ग्रन्थों में है । असाध्य रोगों को वैद्य छोड़ देता था[1] । रोग फैलने न पावें अर्थात् छूत के रोग इधर-उधर फैल कर जनता

---

१ कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भभर्मणि ।
पतिः प्रतीतः प्रसवोन्मुखीं प्रियां ददर्श काले दिवमभ्रितामिव ॥—रघु ३।१२

२ अमोघं संदधे चास्मै धनुष्येकधनुर्धरः ।
ब्राह्ममस्त्रं प्रियाशोकशल्यनिष्कर्षणौषधम् ॥ —रघु १२।९७

३ स्थाज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता । —रघु १।२८
—छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतेर्वा रक्तमोक्षणम् ।
एतानि दष्टमात्राणामायुष्याः प्रतिपत्तयः । —माल ४।४

४ देखिए, पादटिप्पणी नं ३ —माल ४।४

५ राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः । —रघु २।३२

६ उदकुम्भविधानेन सर्पमुद्रितं किमपि कल्पयितव्यम् । तदन्विष्यतामिति ।
—माल अंक ४ प १२

७ इदं सर्पमुद्रितमङ्गुलीयकं तावन्मम हस्ते देहि तत् ।
—माल अंक ४ पृ १२१

८ तं प्रमत्तमपि न प्रभावतः शेकुराक्रमितुमन्यपार्थिवाः ।
आमयस्तु रतिरागसम्भवो दक्षशाप इव चन्द्रमक्षिणोत् ॥—रघु १९।४८

९ मममस्त्वनुपस्थिते ज्वरे पुनरप्यतीसारतया प्रकाश्यताम् । —रघु ८।८४

१ असाध्य इति वैद्येनातुर इव सर्वैर्मुक्तो महाम्नायमवस्था ।
—विक्र अं ३ पृ २७

के लिए हानिकारक न होवें—चिकित्सक इस बात का ध्यान रखते थे।

रोग का उपचार करने के पूर्व उसके निदान के विषय में भी (Diagnosis) जानने की चेष्टा की जाती थी। अतः निदान-शास्त्र का भी उस समय निस्सन्देह अस्तित्व था[२]।

दवा के लिए कवि के ग्रन्थों में ओषधि[३] शब्द का प्रयोग हुआ है। हिमालय को ओषधिप्रस्थ इसीलिए कहा है कि वहाँ ओषधियाँ (जड़ी-बूटी) प्रचुर मात्रा में थीं[४]।

पाणिनि के ग्रन्थ में बवासीर, हृद्रोग, कुष्ठ, श्लेष्म, खाँसी, अतिसार (पेचिश), वातिकी (वायुरोग), अश्मरा (सायण इसको मूत्राविधार कहता है) आदि रोग मिलते हैं, पर कालिदास के ग्रन्थों में इनका उल्लेख नहीं है[५]। केवल कुष्ठ का नाम दो स्थान पर आया है[६]।

उत्सव और विनोद

भारतवर्ष में सदा से ही उत्सवों की धूम रही है। वैसे भी मनुष्यों को उत्सव प्रिय होते हैं[७]। अपने हृदय के आह्लाद और हर्ष को व्यक्त करने

---

१ तं गृहोपवन एव संगताः पश्चिमक्रतुविदा पुरोधसा ।
रोगशान्तिमपदिश्य मंत्रिणः संभृते शिखिनि गूढमादधुः ॥ —रघु १९।५४

२ विकारं खलु परमार्थतोऽज्ञात्वाऽनारम्भः प्रतीकारस्य ।
—अभि अंक ६ पृ ४४

३ स मारुतिसमानीतमहौषधिहतव्यथः ।
लंकास्त्रीणां पुनश्चक्रे विलापाचार्यकं शरैः ॥ —रघु १२।७८
—अमोघं संदधे चास्मै धनुष्येकधनुर्धरः ।
ब्राह्ममस्त्रं प्रियाशोकशल्यनिष्कर्षणौषधम् ॥ —रघु १२।९७
—राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः । —रघु २।३२

४ तत्प्रयान्त्यौषधिप्रस्थं सिद्धये हिमवत्पुरम् ।
महाकोशीप्रपातेऽस्मिन्संगमः पुनरेव नः ॥ —कुमार ६।३३

५ India as known to Panini by V. S. Agarwala, Chap II, Health & Disease.

६ भो वयस्य, वेतसः कुब्जलीलां विडम्बयति उतात्मनः प्रभावेण ? ननु नदीवेगस्य । —अभि अंक २ पृ २८
—ननु साम्प्रतं कुष्ठं धारयितो भिक्षामटति । —माल अंक ५, पृ ११८

७ उत्सवप्रियाः खलु मनुष्याः । —अभि अंक ६ पृ १४

का साधन उत्सव ही है परन्तु भारतवासी प्रकृति के सौन्दर्य को देखकर, विश्वात्मा के सौन्दर्य की कल्पना में विभोर होकर उत्सव मनाते हैं। अतः उत्सव प्रकृति से अनुप्राणित हैं। भारतीय संस्कृति में परमात्मा को आनन्द का प्रतीक कहा गया है। आत्मा भी अतः कारणात् आनन्द में कभी-कभी रमती है। यह तन्मय आनन्द प्रकृति के नित्यप्रति नवीन स्वरूप को देखकर उद्दीप्त हो जाता है। अतः प्रकृति परिवर्तन पर फूलों का फलना देखकर प्रायः उत्सवों की आयोजना की जाती थी[1]। प्रकृति के आधार पर मनाए जाने वाले उत्सवों में विशेष उल्लेखनीय था है—कौमुदी महोत्सव और वसन्तोत्सव।

(अ) कौमुदी महोत्सव—आश्विन की पूर्णिमा को कौमुदी महोत्सव मनाया जाता था। वात्स्यायन ने इसके लिए 'कौमुदीजागर' शब्द का प्रयोग किया है[2]। वात्स्यायन के अनुसार यह देश-व्यापी (माहिमानी) क्रीड़ा थी[3]। मौखियों में इसके लिए दीवाजागर शब्द अभी पिछले दिनों तक प्रचलित था। कालिदास के ग्रन्थों में इस उत्सव का उल्लेख नहीं मिलता।

(ब) वसन्तोत्सव—कालिदास के समय में यह उत्सव धूमधाम से मनाया जाता था परन्तु किसी दुःख के कारण यह उत्सव रोक भी दिया जाता था (अभि० अंक ६ पृ० १ १)। कवि ने वसन्तोत्सव[4] ऋतूत्सव[5] वसन्तावतार,[6] शब्दों का प्रयोग इसी प्रसंग में किया है। वसन्तोत्सव कई दिनों तक मनाया

---

१ आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥ —अभि० ४।९

२. कामसूत्र १।४।४२ भोज के समय में इस उत्सव को 'कौमुदी प्रचार' कहते थे—शृंगारप्रकाश।

३ देखिए, पादटिप्पणी नं० १ १।४।४२

४ अनात्मज्ञ देवेन प्रतिषिद्धे वसन्तोत्सवे त्वमाम्रकलिकाभङ्गं किमारभसे।
—अभि० अंक ६ पृ० १ १

५. किं नु खलु ऋतूत्सवेऽपि निरुत्सवारम्भमिव राजकुलं दृश्यते।
—अभि० अंक ६ पृ० १ १

—अनुभवन्नवदोलमृतूत्सवं पटुरपि प्रियकण्ठजिघृक्षया।
अनयदासनरज्जुपरिग्रहे भुजलतां जडतामबलाजनः ॥ —रघु० ९।४६

६ अद्य प्रथमावतारसुभगानि रक्ताशोकपुष्पाणि प्रेष्य नववसन्तावतारव्यप-देशेनेरावत्या निपुणिकामुखेन भाषितो भवान्—इच्छाम्यार्यपुत्रेण सार्धं दोलाधिरोहण-मनुभवितुमिति। —माल० अंक ३ पृ० २९१

जाता था और इसके अन्तर्गत कई एक प्रकार के उत्सव और क्रीड़ाएँ शामिल थीं जिनमें निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं

(१) मदन-महोत्सव—इस उत्सव का संकेत अभिज्ञानशाकुन्तलम् (अंक ६) में है। चेटियाँ आम की मंजरी लेकर कामदेव की पूजा करना चाहती हैं, करती भी हैं[1]। इससे यह प्रत्यक्ष होता है कि मदन-महोत्सव में कामदेव की आम की मंजरियों से पूजा की जाती थी। कामसूत्र में जिसे 'सुवसन्तक-उत्सव' कहा गया है, वह संभवतः मदनोत्सव ही है। यशोधर ने सुवसन्तक को मदनोत्सव ही माना है और इसे नृत्यगीतवाद्य-प्रधान क्रीड़ा कहा है[2]।

(२) अशोक दोहद—वसन्तोत्सव का यह एक अंग था। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में इसका विशद उल्लेख किया है यह उत्सव प्रायः अन्तःपुर के प्रमदवन में मनाया जाता था। सुन्दर स्त्री के पैर-ताड़न से अशोक में फूल लग जाते हैं—यह एक मान्यता थी। उद्यानपालिका अशोक को न फूलता देखकर रानी के पास जाया करती थी और कहती थी कि इसके फूलने का कोई उपाय करना चाहिए। प्रायः यह पदाघात रानी किया करती थी। यही पदाघात 'दोहद' कहलाता था। रानी के अस्वस्थ होने पर यह काम कोई भी सुन्दर स्त्री करती थी परन्तु उसे रानी का ही पायल पहनना पड़ता था। धारिणी ने अस्वस्थ होने पर अपने पहनने का नूपुर मालविका को दिया था। उस सुन्दरी को अन्य आभूषणों से भी सजाया जाता था। चरणों में बड़े कलात्मक ढंग से महावर लगाया जाता था। बकुलावलिका ने आलक्तक इतना सुन्दर लगाया था कि मालविका को पूछना ही पड़ा कि तुमने यह प्रसाधन-कला किससे सीखी? अलक्ता लगे पैर को प्रायः मुख की वायु से सुखाया जाता था। सुन्दरी पहले अशोक के पत्तों का अवतंस बनाती थी तत्पश्चात् बाएँ पैर से अशोक पर आघात करती थी। यह क्रीड़ा बड़ धूमधाम से मनाई जाती थी। प्रायः अन्तःपुर की रानियाँ और राजा इसमें सम्मिलित रहते थे। कवि ने प्रणय-व्यापार के लिए एकान्त की अवतारणा की अतः अन्य व्यक्तियों को नहीं रखा। इरावती दैवयोग से आती है

---

१ सखि अवलम्बस्व मां यावदग्रपादस्थिता भूत्वा चूतकलिकां गृहीत्वा कामदेवार्चनं करोमि। —अभि अंक ६ पृ १ २

२ सुवसन्तो मदनोत्सव तत्र नृत्यगीतवाद्यप्राया क्रीडा।

—कामसूत्र जयमंगला १।४।४२

३ देखिए माल अंक ३ पूरा और चौथा अंक भी।

और राजा भी मालविका को देखने भर के लिए वहाँ आ पहुँचता है । यह परिवर्तन कवि ने प्रासंगिक और क्षणिक ही किया है । पंचम अंक में तथापि प्रतिहारी आकर राजा को सूचना देती है कि मेरे साथ चलकर उस फूले हुए अशोक को देखकर मेरा उत्सव सफल कर दीजिए[2] । इससे निष्कर्ष निकलता है कि अशोक के फूलने पर उसे देखने का भी उत्सव मनाया जाता था । सब एक साथ कुसुम-समृद्धि देखते थे[3] । ब्राह्मण को दक्षिणा भी मिलती थी जिसे 'वसन्तोत्सवोपायन' कहते थे[4] ।

(३) दोला—वसन्तोत्सव के साथ ही कवि ने इसका उल्लेख किया है । अतः वसन्त ऋतु में ही कालिदास के समय दोला होता था । राजा और रानी दोनों ही दोलोत्सव में भाग लेते थे[5] । राजाओं के दोले प्रायः उनके परिजन झुलाते होंगे । रानियाँ झूला झूलने में पटु होती थीं । परन्तु कभी-कभी आलिंगन-सुख लेने के लिए दोले की रस्सी छोड़कर राजा के गले में अपनी बाहें डाल देती थीं । राजा भी ऐसे अवसर का स्वागत करते थे[6] । राजाओं के झूले प्रायः एक स्थान विशेष में सदा पड़े ही रहते थे । इसे 'दोलागृह' कहते थे[7] ।

(४) नाटक—मनोरंजन के लिए नाटक भी खेले जाते थे । मालविका-

---

१ अथैव प्रथमावतारसुभगानि रक्तकुरवकाण्युपायनं प्रेष्य नववसन्तावतारव्यपदेशेनेरावत्या निपुणिकामुखेन प्रार्थितो भवान्—इच्छाम्यार्यपुत्रेण सह दोलाधिरोहणमनुभवितुमिति । भवताप्यस्यै प्रतिज्ञातम् तदस्मै प्रमदवनमेव गच्छाव ।
—माल० अंक ३ पृ २९१

२ देवी विज्ञापयति—तपनीयाशोकस्य कुसुमसत्कारदर्शनेन ममारंभं सफलं क्रियतामिति । —माल० अंक ५, पृ १४२

३ माल० अंक ५, पृ १४२ से १४५ तक

४ वसन्तोत्सवोपायनसंतुष्टेनामात्येन कथितं त्वरतां भट्टिनीति ।
—माल० अंक ३ पृ ३१

५ देखिए, पादटिप्पणी सं १
—माल० पूरा अंक ३ इसी के प्रसंग से भरा है ।

६ ता स्वयंकृतविरोप्य दोलया प्रेङ्खयन्परिजनापविद्धया ।
मुक्तरज्जुनिबिडं भयच्छलात्कण्ठबन्धनमवाप बाहुभिः ॥ —रघु १९४४
—कुसुमकृतदोलयुक्तां पटुरपि त्रिभिकण्ठजितमुक्तया ।
अनयदासनरज्जुपरिग्रहे भुजलतां जलतामबलाजनः ॥ —रघु ९।४६

७ अनु सम्प्रति दोलागृहं —माल० अंक ३ पृ ३१
यह दोलागृह प्रमदवन में होता था ।

भिन्न-भिन्न नाटक वसन्तोत्सव पर ही जनता के सामने सबसे पहले खेला गया था[1]।

सामान्य वर्ग की स्त्रियाँ वसन्त में विशेष राग रंग मनाती थीं। सिर में चम्पे के फूलों का जूड़ा बनाकर स्तनों पर मनोहर फूलों की माला पहनती थीं[2]। कुसुम्भ के फूलों से रँगी लाल साड़ी, स्तनों पर केसर के रंग में रँगी चोली[3], कानों में कर्णिकार के पुष्प, चंचल काली घुँघराली अलकों में अशोक के पत्र और नवमल्लिका की कलियाँ[4] वसन्तकालीन शृंगार थी। शृंगार कर वे अपने पतियों के पास जाती थीं तथा कामसुख को प्राप्त करती और कराती थीं। वसन्तकाल की वेशभूषा का विस्तृत वर्णन किया जा चुका है[5]।

पुत्रजन्मोत्सव—पुत्र के जन्म पर आमोद-प्रमोद मनाया जाता था। नृत्य और गीत की धूम मच जाती थी। वारवनिताएँ नृत्य करती थीं, मंगल-वाद्य बजते थे[6]। राजा पुत्रजन्म के हर्ष में बन्दियों को कारागार से छोड़ देता था[7]।

विवाहोत्सव—इसके विषय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। विवाह से पूर्व नगर की अच्छी तरह सजावट की जाती थी। इन्द्रधनुष के समान रंग-बिरंगे तोरण और ध्वजियों से नगर सजाया जाता था[8]। वर और कन्या

---

१ अभिहितोऽस्मि विद्वत्परिषदा कालिदासग्रथितवस्तु मालविकाग्निमित्रं नाम नाटकमस्मिन् वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति। —माल० अंक १ पृष्ठ २११

२ ईषत्तुषारैः कृतशीतहर्म्यं सुवासितं चारु शिरश्च चम्पकैः।
कुर्वन्ति नार्योऽपि वसन्तकाले स्तनं सहारं कुसुमैर्मनोहरैः॥ —ऋतु ६।३

३ कुसुम्भरागारुणितैर्दुकूलैर्नितम्बबिम्बानि विलासिनीनाम्।
तन्वंशुकैः कुङ्कुमरागगौरैरलङ्क्रियन्ते स्तनमण्डलानि॥ —ऋतु ६।४

४ कर्णेषु योग्यं नवकर्णिकारं चलेषु नीलेष्वलकेष्वशोकम्।
पुष्पं च फुल्लं नवमल्लिकायाः प्रयान्ति कान्तिं प्रमदाजनानाम्॥
—ऋतु ६।५

५. देखिए, अध्याय 'वेशभूषा'

६ सुखश्रवा मङ्गलतूर्यनिस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम्।
न केवलं सद्मनि मागधीपतेः पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि॥
—रघु ३।१९

७ न संयतस्तस्य बभूव रक्षितुर्विसर्जयेद्यं सुतजन्महर्षितः।
ऋणाभिधानात्स्वयमेव केवलं तदा पितॄणां मुमुचे स बन्धनात्॥
—रघु ३।२०

८ तावत्प्रकीर्णाभिनवोपचारमिन्द्रायुधद्योतिततोरणाङ्कम्।
वरः स वध्वा सह राजमार्गं प्राप ध्वजच्छायनिवारितोष्णम्॥ —रघु ७।४

के राजपथ पर चलते समय स्त्रियाँ उनको देखने के लिए झरोखों पर दौड़ पड़ती थीं[1]। उत्सुकता इतनी गहरी रहती थी कि किसी का जूड़ा खुल जाता था परन्तु उसे बाँधने की सुध ही नहीं रहती थी। केश थामे-थामे ही वह खिड़की पर पहुँच जाती थी। बालों के ढीले पड़ जाने से उनमें गुँथे फूल नीचे गिरते जाते थे[2]। कोई यदि महावर लगवा रही होती थी तो दासी से पैर खींच कर गीले पैरों से ही झरोखे की ओर दौड़ जाती थी। फलस्वरूप झरोखे तक लाल पैरों की छाप-ही-छाप पड़ जाती थी[3]। यदि कोई आँखों में अंजन लगा रही होती थी तो एक ही आँख में लगे-लगे बिना दूसरी में लगाए देखने को अधीर दौड़ पड़ती थी[4]। नीवी-बन्धन यदि हड़बड़ी में खुल जाता था तो कपड़ों को हाथ से थामे-थाम ही झरोखा पर खड़ी हो जाती थी और उसके हाथ के आभूषणों की चमक नाभि तक पहुँच जाती थी[5]। यदि कोई कैसी मणियों की रसना गूँथ रही होती थी और एक छोर को पैर के अँगूठे में बाँध रखा होता था तो आधी गिरी होने पर भी वह वर-वधू को देखने के लिए भागती थी और वहाँ पहुँचते-पहुँचते मणियाँ इधर उधर निकल कर बिखर जाती थीं केवल डोरा पैर में बँधा रह जाता था[6]। वर-कन्या अथवा वर इस प्रकार झरोखों पर बैठी स्त्रियों के

---

१ ततस्तदालोकनतत्पराणां सौधेषु चामीकरजालवत्सु।
बभूवुरित्थं पुरसुन्दरीणां त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि॥ —रघु ७।५

२. आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः।
बद्धुं न संभावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः॥
—रघु ७।६ कुमार ७।५७

३ प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव।
उत्सृष्टलीलागतिरा गवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान॥
—रघु ७।७ कुमार ७।५८

४ विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन संभाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा।
तथैव वातायनसंनिकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती॥
—रघु ७।८ कुमार ७।५९

५. जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम्।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः॥
—रघु ७।९, कुमार ७।६

६ अर्धाचिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती।
कस्याश्चिदासीद्रशना तदानीमङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा॥
—रघु ७।१० कुमार ७।६१

द्वारा पीछे जाते हुए राज-भवन में पहुँचते थे जहाँ विवाह-संस्कार होता था। (यदि स्वयंवर प्रथा है तो वर-कन्या दोनों ही स्वयंवर मंच से राज-भवन साथ-साथ जाते थे। यदि बारात आई है तो वर और उसके साथी ही राज-भवन में जाते थे कन्या राज-भवन में होती ही थी)। विवाह के बाद उन पर अक्षत, खीलें डालकर[1] मनोरंजन के लिए नाटक भी खेला जाता था[2]।

राज्याभिषेक का उत्सव—राज्याभिषेक के लिए चार खम्भों पर आश्रित नया विमान (मंडप) बनवाया जाता था[3]। भद्रपीठ पर बैठे राजा को समस्त तीर्थों का जल लेकर हेमकुम्भों से डालकर नहलाया जाता था[4]। चारों ओर तूर्य पुष्कर आदि मंगल-वाद्यों की सुमधुर ध्वनि गूँजती रहती थी[5]। दूब जौ के अंकुर और बड़ की छाल तथा मधूक के पुष्प से राजकुल के वृद्ध राजा की नीराजना (आरती) करते थे[6]। अथर्ववेद के मंत्रों का उच्चारण करते हुए ब्राह्मण पुरोहित को आगे कर राजा को नहलाते थे[7]। भाट और चारण राजा की प्रशंसा में गीत गाते थे[8]। अभिषेक के पश्चात् स्नातकों को दान दिया जाता था[9] व भी राजा

---

१ तौ स्नातकैर्बन्धुमता च राज्ञा पुरंध्रिभिश्च क्रमशः प्रयुक्तम्।
कन्याकुमारौ कनकासनस्थावार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम्॥ —रघु ७।२८

२ तौ संधिषु व्यञ्जितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम्।
अपश्यतामप्सरसां मुहूर्तं प्रयोगमाद्यं ललिताङ्गहारम्॥ —कुमार ७।९१

३ ते तस्य कल्पयामासुरभिषेकाय शिल्पिभिः।
विमानं नवमुद्वेदि चतुःस्तम्भप्रतिष्ठितम्॥ —रघु १७।९

४ तत्रैनं हेमकुम्भेषु संभृतैस्तीर्थवारिभिः।
उपतस्थुः प्रकृतयो भद्रपीठोपवेशितम्॥ —रघु १७।१

५. नदद्भिः स्निग्धगम्भीरं तूर्यैराहतपुष्करैः।
अन्वमीयत कल्याणं तस्याविच्छिन्नसंततिः॥ —रघु १७।११

६. दूर्वायवाङ्कुरप्लक्षत्वगभिन्नपुटोत्तरान्।
ज्ञातिवृद्धैः प्रयुक्तान्स भेजे नीराजनाविधीन्॥ —रघु १७।१२
मल्लिनाथ पुटोत्तर को मधूक के पुष्प कहते हैं सीताराम चतुर्वेदी इसे दोना कहते हैं।

७. पुरोहितपुरोगास्तं जिष्णुं जैत्रैरथर्वभिः।
उपचक्रमिरे पूर्वमभिषेक्तुं द्विजातयः॥ —रघु १७।१३

८. स्तूयमानः क्षणे तस्मिन्नलक्ष्यत स बन्दिभिः।
प्रवृद्ध इव पर्जन्यः सारङ्गैरभिनन्दितः॥ —रघु १७।१५

९. स तावदभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो ददौ वसु।
यावतैषां समाप्येरन्यज्ञाः पर्याप्तदक्षिणाः॥ —रघु १७।१७

को आशीष देते थे[1]। राज्याभिषेक की प्रसन्नता में राजा बन्दियों को जेल से मुक्त कर देता था। मृत्युदण्ड माफ हो जाता था। बोझा ढोने वाले पशुओं के कन्धे पर से जुए उतार दिए जाते थे। गाय का दूध बछड़ों के लिए छोड़ दिया जाता था[2]। पिंजड़ों से क्रीड़ा-पक्षी छोड़ दिए जाते थे[3]। इसके पश्चात् राजा का राजसी शृंगार होता था। हाथीदाँत के सिंहासन पर, जिस पर उत्तरच्छद बिछा रहता था[4] राजा को बिठा कर प्रसाधक हाथों को अच्छी तरह धोकर, सुगन्धित द्रव्यों के धूम से केशान्त सुखाते थे[5]। फूल और मोतियों की माला केश-संस्कार कर, सिर पर पद्मरागमणि बाँध देते थे[6]। विवाह में जिस प्रकार वर को सजाया जाता था उसी प्रकार राजा का भी शृंगार होता था। कस्तूरी और चन्दन का अंगराग लगाकर गोरोचन से राजा के मुख पर पत्र रचना की जाती थी[7]। हंसाङ्कित दुकूल पहन कर और इस प्रकार फूलों और आभूषणों से अलंकृत होकर राजा वर की तरह ही सुन्दर लगता था[8]। वर की तरह वह मणि-दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखता था[9]। परिचारिकाएँ जय-जयकार

---

१ ते प्रीतमनसस्तस्मै यामाशिषमुदैरयन्।
सा तस्य कर्मनिर्वृत्तैर्दूरं पश्चात्कृता फलैः॥ —रघु १७।१८

२ बन्धच्छेदं स बद्धानां वधार्हाणामवध्यताम्।
धुर्याणां च धुरो मोक्षमदोहं चादिशद् गवाम्॥ —रघु १७।१९

३ क्रीडापतत्रिणोऽप्यस्य पञ्जरस्थाः शुकादयः।
लब्धमोक्षास्तदादेशाद्यथेष्टगतयोऽभवन्॥ —रघु १७।२

४ ततः कक्ष्यान्तरन्यस्तं गजदन्तासनं शुचि।
सोत्तरच्छदमध्यास्त नेपथ्यग्रहणाय सः॥ —रघु १७।२१

५ तं धूपाश्यानकेशान्तं तोयनिर्णिक्तपाणयः।
आकल्पसाधनैस्तैस्तैरुपसेदुः प्रसाधकाः॥ —रघु १७।२२

६ तेऽस्य मुक्तागुणोन्नद्धं मौलिमन्तर्गतस्रजम्।
प्रत्यूपुः पद्मरागेण प्रभामण्डलशोभिना॥ —रघु १७।२३

७ चन्दनेनाङ्गरागं च मृगनाभिसुगन्धिना।
समापय्य ततश्चक्रुः पत्रं विन्यस्तरोचनम्॥ —रघु १७।२४

८ आमुक्ताभरणः स्रग्वी हंसचिह्नदुकूलवान्।
आसीदतिशयप्रेक्ष्यः स राज्यश्रीवधूवरः॥ —रघु १७।२५

९. नेपथ्यदर्शिनश्छाया तस्यादर्शे हिरण्मये।
विरराजोदिते सूर्ये मेरौ कल्पतरोरिव॥ —रघु १७।२६

करती हुई चँवर ढुलाती हुई राजा को सभा-मण्डप में लाती थीं[1]। सभा में वितान तना रहता था[2]। इसके बीच में सिंहासन रखा रहता था इसे मंगलायतन[3] भी कहा जाता था। पैर के पास भद्रपीठ रखा जाता था इस पर सब राजा सिर रख कर प्रणाम करते थे[4]। राजा हाथी पर बैठ कर घूमने निकलता था[5]। स्त्रियाँ झरोखे पर बैठ कर राजा को देखती थीं[6]।

राजा के बाहर से आने के बाद उत्सव—अपने देश से गया हुआ राजा जब बहुत दिन बाद लौटता था तब प्रजा आदर और स्वागत के लिए हाथ ऊँचे कर देती थी[7]। जिस पर राज्य का उत्तरदायित्व राजा की अनुपस्थिति में रहता था वह सेना लेकर आगे स्वागत करने आता था[8]। नगर के बाहर किसी उपवन का प्रबन्ध कर उसमें वह विश्रामार्थ ठहराया जाता था[9]। यहीं सब जाति-बन्धु उससे भेंट करने आते थे[10]। तत्पश्चात् वह सबके साथ नगर में प्रवेश करता था। नगर को पहले ही बन्दनवार आदि से भलीभाँति सजा दिया जाता था[11]। राजा के नगर में प्रवेश करते समय उस पर श्वेत भवनों के झरोखों से

---

१ स राजककुदव्यग्रपाणिभिः पार्श्ववर्तिभिः ।
ययावुदीरितालोकः सुधर्मानवमां सभाम् ॥ —रघु १७।२७

२ वितानसहितं तत्र भेजे पैतृकमासनम् ।
चूडामणिभिरुद्घृष्टपादपीठं महीक्षिताम् ॥ —रघु १७।२८

३ शुशुभे तेन चाक्रान्तं मंगलायतनं महत् ... —रघु १७।२९

४ देखिए, पादटिप्पणी नं० १ —रघु १७।२७

५ स पुरं पुरुहूतश्रीः कल्पद्रुमनिभध्वजाम् ।
क्रममाणश्चकार द्यां नागेनैरावतौजसा ॥ —रघु १७।३२

६ तं प्रीतिविशदैर्नेत्रैरन्वयुः पौरयोषितः ।
शरत्प्रसन्नैर्ज्योतिर्भिर्विभावर्य इव ध्रुवम् ॥ —रघु १७।३५

७ पुरंदरश्रीः पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः ।
भुजे भुजंगेन्द्रसमानसारे भूयः स भूमेर्धुरमाससञ्ज ॥ —रघु २।७४

८ कपि हनूमत्कथितप्रवृत्तिः प्रत्युद्गतो मां भरतः ससैन्यः । —रघु १३।६४

९ [illegible] प्रकृतिपुरःसरेण गत्वा काकुत्स्थः स्तिमितजवेन पुष्पकेण ।
शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्यमार्यः साकेतोपवनमुदारमध्युवास ॥ —रघु १३।७९

१० भर्तुः प्रणाशादथ शोचनीयं दशान्तरं तत्र समं प्रपन्ने ।
अपश्यतां दाशरथी जनन्यौ छेदादिवोपघ्नतरोर्व्रतत्यौ ॥ —रघु १४।१

११ [illegible] ससैन्यस्तूर्यस्वनानन्दितपौरवर्गः ।
विवेश सौधोद्गतलाजवर्षामुत्तोरणामन्वयराजधानीम् ॥ —रघु १४।१

लाजें[1] बरसाई जाती थीं। झरोखों पर स्त्रियाँ बैठी रहती थीं वे राजमहिषी को प्रणाम करती थीं[2]। चारों ओर मंगल-वाद्य बजते रहते थे[3]। राजा के सिर पर छत्र लगा रहता था और आस-पास चँवर डुलते जाते थे[4]। इस प्रकार प्रजाजनों के द्वारा सम्मानित होता हुआ राजा अपने महल में प्रवेश करता था।

गृह-प्रवेश उत्सव—नए मकान के बनने पर पहले विधिपूर्वक उसका पूजन होता था। पशूपहार[5] अर्थात् जानवरों की बलि दी जाती थी।

पानभूमि-रचना[6]—यह भी एक प्रकार का उत्सव था। इसमें सब एक साथ मिल-जुल कर शराब पीते थे। आजकल भी इसका प्रचलन है, इसे 'कॉकटेल पार्टी' कहते हैं।

धार्मिक उत्सव—(अ) पुरुहूत[7]—यह उत्सव इन्द्र के प्रति श्रद्धा और आदर प्रकट करने के लिए मनाया जाता था। श्रीमद्भागवतपुराण के कथनानुसार यह भादों के शुक्लपक्ष में अष्टमी से द्वादशी तक अर्थात् पाँच दिन मनाया जाता था[8]। राजा वृष्टि के लिए इन्द्र की पूजा करता था। मल्लिनाथ इसके

---

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ११
—मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्तमानम्।
अवाकिरन्बाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः॥ —रघु० २।१०
२ श्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेषां कर्णीरथस्थां रघुवीरपत्नीम्।
प्रासादवातायनदृश्यबन्धैः साकेतनार्योऽञ्जलिभिः प्रणेमुः॥ रघु० १४।१३
३ देखिए पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ११ —रघु० १४।१०
४ सौमित्रिणा सावरजेन मन्दमाधूतबालव्यजनो रथस्थः।
धृतातपत्रो भरतेन साक्षादुपायसंघात इव प्रवृद्धः॥ —रघु० १४।११
५ तत्र सपर्यां सपशूपहारां पुरः परार्ध्यप्रतिमागृहायाः।
उपोषितैर्वास्तुविधानविद्भिर्निर्वर्तयामास रघुप्रवीरः॥ —रघु० १६।३९
६ ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचितापानभूमयः।
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः॥ —रघु० ४।४२
—विलीपुलोत्करतोरणा पताका घनूँ चिरन्नीलवरवातीव।
रथस्थिति गानितमधुम्धा राम मुग्धीरिव पानभूमिं॥
—रघु० ७।४९
—प्राकरमालवर्षपर्णिनी पानभूमिरचना प्रियासखः। —रघु० १९।११
७ पुरुहूतध्वजस्येव तस्योन्नयनपङ्क्तयः।
नवाभ्युत्थानदर्शिन्यो ननन्दुः सप्रजाः प्रजाः॥ —रघु० ४।३
८ India in Kalidas By—Sri B. S. Upadhyaya Page 328

विषय में कहते हैं—'एवं च कृत्वे यात्रामित्रकेलीषु विष्ठिर। पयस्य सामर्थ्य—स्यात्तस्य राज्ये न संशय'[१]। काम का कहना है कि—इसमें एक खम्भा गाड़ दिया जाता था इसके ऊपर झण्डा लगाया जाता था। इसके आकार के विषय में वे अपना मत देते हैं—ध्वजाधारं चतुरस्तंभं पुरद्वारे प्रतिष्ठितम्। पौराः पूर्वंसि धारयि पुरहूतमहोत्सवम्'[२]। मल्लिनाथ का कहना है—'चतुरस्रं ध्वजाधारं राजद्वारे प्रतिष्ठितम्। आहुः शक्रध्वजं नाम पौरलोकसुखावहम्[३]।

(ब) प्रवासी-पति की कुशलता के लिए पत्नी पति के लौटने की तिथि तक दिन गिनकर उतने ही फूल ले लेती थी और प्रतिदिन एक-एक कर उन्हें नाप रख देती थी। इससे गणना कर लेती थी कि कितने दिन व्यतीत हो चुके और कितने शेष रहे[४]। श्री भगवतशरण के मतानुसार यह काल्पनिक उत्सव था।

(स) तिथि-विशेष पर गंगा-यमुना के संगम पर स्नान होता था[५]। धर्मसंकट-निवारण के निमित्त सोमतीर्थ[६] आदि स्थानों पर जाया जाता था। यहाँ स्नान करने से पुण्य की प्राप्ति पापों का क्षय हो जाता है, ऐसा विश्वास था। तीर्थ-स्थानों में जाना धार्मिक कृत्य था। यहाँ स्नान करने से समस्त पाप धुल जाते हैं, ऐसी धारणा प्रचलित थी। अतः तीर्थ नदी के किनारे ही बनाए जाते थे। शाकुन्तल का शचीतीर्थ (नूनं ते शक्रावताराभ्यन्तरे शचीतीर्थसलिलं वन्दमानायाः प्रभ्रष्टमंगुलीयकम्—पृ ६) कण्व का शकुन्तला के ग्रह की शान्ति के लिए सोमतीर्थ जाना (अभि पृ ६) ऐसे ही स्थल थे।

---

१ मल्लिनाथी टीका —रघु ४।१

२ India in Kalidasa By Bhagwat Sharan —Page 328

३ मल्लिनाथ की टीका —रघु ४।१

४ बालोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा......—उत्तरमेघ २५

—शेषान्मासान्विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा
विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पैः।
मत्संगं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती
प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः ॥ —उत्तरमेघ २७

५. अद्य तिथिविशेष इति गंगायमुनयोः संगमे देवीभिः सह स्नानविशेषं सम्मतमुपकार्यां प्रविष्टः।

—विक्रम अंक ५ पृ २१६

६ इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः। —अभि अंक १ पृ ६

विनोद

जलक्रीड़ा—ग्रीष्मऋतु में गृहदीर्घिका[1] दीर्घिका[2] अथवा नदी[3] में प्रायः जलक्रीड़ा से मनोरंजन किया जाता था। रानियों के स्नान करने से उनके शरीर पर लगा अंगराग नदी के जल में घुल जाता था। नदी की धारा रंग बिरंगी होकर वैसी ही सुन्दर लगती थी जैसे बादलों से भरी सन्ध्या[4]। रानियों के स्तनों पर लगा चन्दन यमुना की जल-क्रीड़ा से जल मे मिल कर बहने लगता था अतः यमुना का रंग ऐसा प्रतीत होता था मानो वहीं पर उसका गंगाजी की लहरों से संगम हो गया हो[5]। जलविहार से युवतियों के सुगन्धित शरीर का स्पर्श पाकर जल भी महँकने लगता था[6]। जल की उठती हुई लहरें सुन्दरियों की आँखों के अंजन को धोकर मदपान के समय की लाली उनकी आँखों में भर देती थीं[7]। कानों से शिरीष के कर्णफूल खिसक कर नदी मे तैरने लगते थे जिनको देखकर मछलियों को सेवार का भ्रम हो जाता था[8]। वे मूर्ख

---

१ मुमुदिरे स्मितचारुतराननाः स्त्रिय इव श्लथशिञ्जितमेखलाः।
विकचतामरसा गृहदीर्घिका मदकलोदकलोलविहंगमाः॥—रघु ९।३७

२ यौवनोन्नतविलासिनीस्तनक्षोभलोलकमलाश्च दीर्घिकाः।
गूढमोहनगृहास्तदम्बुभिः स व्यगाहत विगाढमन्मथः॥ —रघु १९।९
—आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत्।
वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम्॥
—रघु १६।१३

३ अथोर्मिलोलोन्मदराजहंसे रोधोलतापुष्पवहे सरय्वाः।
विहर्तुमिच्छा वनितासखस्य तस्याम्भसि ग्रीष्मसुखे बभूव॥—रघु १६।५४

४ पश्यावरोधैः शतशो मदीयैर्विगाह्यमानो गलिताङ्गरागैः।
संध्योदयः साभ्र इवैष वर्णं पुष्यत्यनेकं सरयूप्रवाहः॥—रघु १६।५८

५ यस्यावरोधस्तनचन्दनानां प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले।
कलिन्दकन्या मथुरां गतापि गङ्गोर्मिसंसक्तजलेव भाति॥ —रघु ६।४८

६ धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या-
स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः। —पूर्वमेघ ३७

७ विमृष्टमम्बु पुरसुन्दरीणां मदाञ्जनं नौकुलिताक्षिपङ्क्तिः।
तदम्बुभिर्मिर्मदरागशोभां विलोचनेषु प्रतिमुक्तमासाम्॥ —रघु १६।५९

८ अमी शिरीषप्रसवावतंसाः प्रभ्रंशिनो वारिविहारिणीनाम्।
पारिप्लवाः स्रोतसि निम्नगायाः शैवाललोलांश्छलयन्ति मीनान्॥
—रघु १६।६१

बजाने के समान थपकी दे-देकर जल को ताड़ित करती थीं[1] अथवा जल-ताड़ना से मृदंग के समान ध्वनि निकलती थी। कभी एक-दूसरे के मुख पर पानी डालती थीं[2] और सोने की पिचकारियों से रंग छोड़ा करती थीं[3]। जल-क्रीडा का एक रूप गूढ़ मोहन-गृहों में सुरतोत्सव भी था[4]।

मदिरा-पान—यह भी विनोद के साधनों में एक था। उत्सवादि के अवसर पर मदिरा-पान किया जाता था[5]।

मृगया—यह विनोद भी था और व्यसन भी। कवि ने इसकी प्रशंसा करते हुए कहा है कि इससे चर्बी घट जाती है, तोंद छँट जाती है, शरीर हल्का और फुर्तीला हो जाता है, पशुओं के मुख पर दीखते हुए क्रोध और भय का ज्ञान हो जाता है। चलते हुए लक्ष्यों पर बाण चलाने में हाथ सध जाते हैं। इसको मिथ्या ही व्यसन कहते हैं, इसकी तुलना का विनोद और कहाँ मिल सकता है[6]? यही नहीं दुष्यन्त के विषय में सोचता हुआ सेनापति अपने मन में कहता है, कि मनुष्य मृगया को बुरा बताते हैं परन्तु स्वामी को तो इससे बड़ा लाभ हुआ है क्योंकि पहाड़ों में घूमने वाले हाथी के समान इनके बलवान् शरीर के आगे का भाग निरन्तर धनुष की डोरी को खींचने से ऐसा कड़ा हो गया है कि उस पर न तो धूप का ही प्रभाव पड़ता है और न पसीना ही छूटता है। बहुत दौड़-धूप से

---

१ तीरस्थलीबर्हिभिरुत्कलापैः प्रस्निग्धकेकैरभिनन्द्यमानम्।
श्रोत्रेषु संमूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदंगवाद्यम्॥—रघु १६।६४
—आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदंगधीरध्वनिमन्वगच्छत्।
वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृंगाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम्॥
—रघु १६।१३

२ एता करोत्पीडितवारिधारा दर्पात्सखीभिर्वदनेषु सिक्ताः।
वक्रेतराग्रैरलकैस्तरुण्यश्चूर्णारुणान्वारिलवान्वमन्ति॥—रघु १६।६६

३ वर्णोदकैः काञ्चनशृंगमुक्तैस्तमायताक्ष्यः प्रणयादसिञ्चन्।
तथागतः सोऽतितरां बभासे सधातुनिष्यन्द इवाद्रिराजः॥—रघु १६।७

४ दीर्घिकान्तरविलासिनीस्तनाग्रमभासक्ततलाप दीर्घिका।
गूढमोहनगृहास्तदम्बुभि स व्यगाहत विगाढमन्मथ॥—रघु १९।९

५ देखिए अध्याय 'खान-पान'।

६ मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपु
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयो।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुत॥—अभि २।५

यद्यपि ये दुबले हो गए हैं पर पुट्ठों के पक्के होने के कारण इनका दुबलापन नहीं दिखाई पड़ता है[1]। अतः मृगया से शरीर पुष्ट होता था।

मृगया के समय का वेश पहले ही बताया जा चुका है[2]। हाथ में धनुष लिए और गले में जंगली फूलों की माला पहने यवनी सेविकाएँ[3] राजा के साथ रहती थीं। इनके अतिरिक्त श्वगणि[4] वागुरिक[5] और वनग्राही[6] मृगया करते समय राजा की सहायता करते थे। शिकारी कुत्ते शिकार ढूँढ़ते थे वागुरिक जाल आदि डालकर शिकार फँसाते थे और वनग्राही वन के मार्गों पशुओं आदि से परिचित थे व शिकार ढूँढ़कर राजा को सूचना दिया करते थे। शिकार करने योग्य पशु हरिण पक्षी सूअर जंगली भैंसा बारहसिंहा सिंह आदि थे[7]।

मृगया के समय क्लेश-ही-क्लेश मनुष्य को प्राप्त होता था। सड़े हुए पत्तों से युक्त नदियों का कसैला और कड़वा पानी पीना पड़ता था। अबेर-सबेर लोहे की सीखों पर भुना मांस खाने को मिलता था। दौड़ते-दौड़ते शरीर के जोड़ ढीले पड़ जाते थे[8]।

द्यूतक्रीड़ा —विनोद के साधनों में से द्यूतक्रीड़ा भी एक थी परन्तु इसका विस्तृत उल्लेख किस प्रकार यह खेला जाता था कवि के ग्रन्थों में नहीं मिलता।

---

१ अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं रविकिरणसहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम्।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति॥
—अभि २।४

२ देखिए, अध्याय 'वेश-भूषा'।

३ एष बाणासनहस्ताभिर्यवनीभिर्वनपुष्पमालाधारिणीभिः परिवृत इत एवा-गच्छति प्रियवयस्यः। —अभि अंक २ पृ २७

४ ५. श्वगणिवागुरिकैः प्रथमास्थितं व्यपगतानलदस्यु विवेश सः।
स्थिरतुरंगमभूमिनिपानवन्मृगवयोगवयोपचितं वनम्॥ —रघु ९।२१

६. तेन हि निवर्तय पूर्वगतान्वनग्राहिणः। —अभि अंक २ पृ ११

७ देखिए अध्याय 'खान-पान'।

८ पत्रसंकरकषायाणि कटूनि गिरिनदीजलानि पीयन्ते। अनियतवेलं शूल्यमांसभूयिष्ठ आहारो भुज्यते। तुरगानुधावनकण्डितसंधेः रात्रावपि निकामं शयितव्यं नास्ति। —अभि अंक २ पृ २७

९ [illegible]।
[illegible] ॥ —रघु ९।१८
—न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरणं मधु।
तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरत्॥—रघु ९।७

लोक-नृत्य और संगीत—संगीत नृत्य आदि सदा से ही विनोद का अविच्छिन्न माना जाता रहा है। संगीत में चित्त को रमाने की शक्ति सदा से ही मानी जाती रही है[1]। रसिक व्यक्तियों की गोद में वल्लकी या वीणा सदा पड़ी ही रहती थी[2]। विरहिणी स्त्रियाँ संगीत से ही दिल बहलाया करती थीं[3]। स्त्री और पुरुष दोनों ही संगीत के मर्म को समझने वाले थे। अग्निमित्र स्वयं तबला और मृदंग आदि बजाने में प्रवीण था। नर्तकियों के नृत्य करते समय वह तबले से ताल देता था। ऐसा करते समय उसके गले की माला हिलती रहती थी[4]। संगीतशाला[5] और प्रेक्षागृह[6] इस बात को प्रमाणित करते हैं कि संगीत नाटक उस समय के विनोद-साधन थे। नृत्य-समारोह भी विनोद का अच्छा साधन था। कवि की यह उक्ति—देखो समुद्रों के स्वामी का कैसा सुन्दर नृत्य हो रहा है। जल में पड़ी मेघों की परछाईं ही उनका शरीर है। पुरवैया पवन से उठती लहरें नृत्य के लिए उठे हुए उनके हाथ हैं। शंख और हंस आदि पक्षी उनके पैर के घुँघरू और आभूषण हैं। हाथी और मगरों के झुण्ड उनके नीचे वस्त्र हैं, नीले-कमल उनकी मालाएँ हैं। तीर से टकराती लहरें ताल दे रही हैं यह सब 'लोकनृत्य' की ही अभिव्यंजना करता है[7]। मालविका और इरावती का नृत्य एक व्यक्ति का नृत्य है, अतः अकेले और सामूहिक दोनों प्रकार के नृत्य थे।

---

१ अहो रागनिविष्टचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंगः।
तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।—अभि अंक १ पृ ६

२ अङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिते तस्य निन्यतुरशून्यतामुभे।
वल्लकी च हृदयंगमस्वना वल्गुवागपि च वामलोचना॥—रघु १९।११

३ उत्संगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।
तंत्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्
भूयोभूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती॥—उत्तरमेघ २६

४ स स्वयं प्रहतपुष्करः कृती लोलमाल्यवलयो हरन्मनः।
नर्तकीरभिनयातिलंघिनीः पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत्॥—रघु १९।१४

५. भो वयस्य संगीतशालाभ्यन्तरेऽवधानं देहि।—अभि अंक ५ पृ ७९

६ तेन हि द्वावपि वर्गौ प्रेक्षागृहे संगीतरचनां कृत्वा तत्रभवतो दूतं प्रेषयतम्।
—माल अंक १ पृ १०८

७ पूर्वदिगनिलाहततरलोलकोऽधृतभुजः मेघाङ्गैर्नृत्यति सलिलप्लवजलनिधिनाथः
हंसविहङ्गमकुङ्कुमपङ्कजचामरः करिमकरकुसुमपल्लवकनककृताभरणः वेला
सलिलोर्मिप्रकरतरङ्गतालाभिव्यञ्जिताभिनयविधौ स्फुटा नयनोत्सवा।
—विक्रम ४।१४

चित्रकला—विनोद-साधनों में संगीत और नृत्य की तरह चित्रकला का भी प्रचार था। स्त्री और पुरुष दोनों ही इस कला में निपुण थे। विरही पुरुष और विरहिणी स्त्रियाँ विनोद के लिए चित्र खींचा करती थीं[1]। चित्रशाला[2] शब्द से स्पष्ट होता है कि शौक से भी चित्रकार चित्र खींचा करते थे।

कथा-आख्यायिका—कथाओं द्वारा प्राचीन काल से ही विनोद किया जाता था। ग्राम के वृद्धजन कथाएँ सुनाया करते थे और अतिथियों का मन बहलाया करते थे[3]। राजघराने में अस्वस्थ व्यक्ति के मन-बहलाव के लिए भी कथाएँ सुनाने की प्रथा थी। धारिणी का मनोरञ्जन परिव्राजिका कथा सुना कर किया करती थी[4]।

क्रीडापक्षी,[5] क्रीडा-शैल और उद्यान—शुक सारिका मयूर आदि

---

१ मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती —उत्तरमेघ २५
—एषा राजर्षेर्निपुणता। जाने सख्यग्रतो मे वर्तत इति।
—अभि अंक ६ पृ ११४
—अथवा तत्रभवत्या उर्वश्याः प्रतिकृतिं चित्रफलक आलिख्यावलोकयंस्तिष्ठतु।
—विक्रम अंक २ पृ १७८

२ चित्रशालां गता देवी मया प्रत्यग्रवर्णरागां चित्रलेखामाचार्यस्यावलोकयन्ती तिष्ठति।
—माल अंक १ पृ २६४

३ प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्
पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम्। —पूर्वमेघ ३२
—प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे
हैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः।
अत्रोद्भ्रान्तः किल नलगिरिः स्तम्भमुत्पाट्य दर्पा-
दित्यागन्तून्रमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः॥ —पूर्वमेघ ३३
(कुछ लोग इस श्लोक को प्रक्षिप्त मानते हैं)।

४ प्रमदवने देवी निषण्णा रक्ताशोकवारिता परिजनहस्तगतेन चरणेन भगवत्या कथाभिर्विनोद्यमाना तिष्ठति। —माल अंक ४ पृ ३१७

५ क्रीडापक्षी—क्रीडासखीभिर्योऽन्यस्य पञ्जरस्था शुकाश्च। —रघु १७।२
कबूतर और मोर—
—पत्रच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिकापद्मिनीनाम्,
सौधान्यत्यर्थतापाद्वलभिपरिचयद्वेषिपारावतानि।
बिन्दूत्क्षेपान्पिपासुः परिसरति शिखी भ्रान्तिमद्वारियन्त्रम्
सर्वैरुस्रैः समग्रैस्त्वमिव नृपगुणैर्दीप्यते सप्तसप्तिः॥—माल २।१२
तोता—
—अयमपि च गिरं नस्त्वत्प्रबोधप्रयुक्ता-
मनुवदति शुकस्ते मञ्जुवाक्पञ्जरस्थः।—रघु ५।७४

क्रीडापक्षियों से पूछ कर 'क्या तुम अपने किस पति की प्यारी हो? उसे भी कभी स्मरण करती हो?' या हाथों से तालियाँ बजा-बजाकर मोर आदि को नचाकर[१] विरहिणी स्त्रियाँ अपना मनोरञ्जन किया करती थीं। क्रीडा-शैल[३] प्रमदवन[४] और उद्यान विनोद के प्रमुख केन्द्र थे। प्रमदवन में दुष्यन्त[५] पुरूरवा[६] और अग्निमित्र[७] विरहोद्दीप्त मन को बहलाने का प्रयत्न किया करते हैं। उद्यान-यात्राएँ भी हुआ करती थीं। वात्स्यायन के कामसूत्र में भी उद्यान-यात्रा का वर्णन है।

कन्याओं की क्रीडा

(अ) कन्दुक-क्रीडा—बालिकाओं की कन्दुक-क्रीडा का कवि ने बार-बार उल्लेख किया है[८]—

---

१ पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति। —उत्तरमेघ २२

२ तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः। —उत्तरमेघ १९

३ तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः
क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः। —उत्तरमेघ १७
—उत्तरमेघ २१ विक्रम पृ १८८

४ जयतु जयतु देव। महाराज प्रत्यवेक्षिता प्रमदवनभूमयः यथाकाममध्यास्तां विनोदस्थानानि महाराजः। —अभि अंक ६ पृ १०७
—विविक्तादृते नान्यदुत्सुकस्य शरणमस्ति। तत्प्रमदवनमार्गमादेशय ॥
—विक्रम अंक २ पृ १०२
राजा—अद्येमं दिवसमेवमुचितव्यापारविमुखेन चेतसा क्व नु खलु यापयामि।
विदूषक—तत्प्रमदवनमेव गच्छाव। —माल अंक ३ पृ २९१

५ देखिए, पादटिप्पणी नं ४—अभि अंक ६ पृ १०७

६ देखिए, पादटिप्पणी नं ४—विक्रम अंक २ पृ १०२

७ देखिए पादटिप्पणी नं ४—माल अंक ३ पृ २९१

८ करामिघातोत्थितकन्दुकेयमालोक्य बालातिकुतूहलेन।
हृतात्तदक्ष्णोस्तिरिताक्षिताराक्षस्त वैमानकं त्वदीयम् ॥ —रघु १६।८३
—मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैश्च।
रेमे मुहुर्मध्यगता सखीनां क्रीडारसं निर्विशतीव बाल्ये ॥—कुमार १।२९
—विसृष्टरागादधरान्निवर्तितः स्तनाङ्गरागारुणिताच्च कन्दुकात्।
कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी तया करः ॥—कुमार ५।११
—महार्हशय्यापरिवर्तनच्युतैः स्वकेशपुष्पैरपि या स्म दूयते।
—कुमार ५।१२

उत्सवती यही लाल लाल रही थी जब पुरूरवा की आँखें क्षण भर के लिए उसके यौवन पर रीझ गई थी[1]।

युवती स्त्रियों की क्रीड़ायें—काशिकावृत्ति ६।२।७४ में उद्दालकपुष्पभञ्जिका, शालभञ्जिका, तालभञ्जिका आदि क्रीड़ाओं का उल्लेख है। ये स्त्रियों की क्रीड़ाएँ थीं और प्रायः पूर्व के देशों में खेली जाती थीं। वात्स्यायन के कामसूत्र मे सहकारभञ्जिका का भी उल्लेख है। कालिदास के ग्रन्थों में स्पष्ट तो नहीं पर संकेत रूप में इस तरह की क्रीड़ाओं की व्यंजना है। अभिज्ञानशाकुन्तल में दो चेटियाँ सहकार की मञ्जरी तोड़ती हुई और उनसे कामदेव की पूजा करती हुई दिखाई गई हैं[2]। सहकार-भञ्जिका क्रीड़ा भी ऐसे ही कार्यों से सम्बन्ध रखती है। कालिदास की यह पंक्ति 'पहले उद्यान की जिन लताओं को धीरे से झुकाकर सुन्दर स्त्रियाँ फूल उतारा करती थी'[3] में उपर्युक्त क्रीड़ाओं का संकेत जान पड़ता है। शालभञ्जिका का अर्थ अवश्य कालिदास के समय में बदल चुका था। मूल में शालभञ्जिका एक स्त्रीक्रीड़ा थी। परन्तु बाद मे तोरणों पर अङ्कित स्त्रीमूर्तियों के लिए यह शब्द रूढ़ हो गया। कहा जाता है कि बुद्ध की माता मायादेवी लुम्बिनी उद्यान में शालभञ्जिका मुद्रा में खड़ी थीं तब बुद्ध का जन्म हुआ था। यही मुद्रा स्थापत्य कला में ले ली गई और यह शब्द बरेंडी और स्तम्भ के बीच में तिरछे खड़ी स्त्रीमूर्तियों के लिए चल पड़ा। कालिदास ने भी स्तम्भ की योषित्-प्रतिमाओं का उल्लेख किया है[4]।

युवती स्त्रियाँ रात्रि में किए गए रतिविलास को अपनी सखियों से कह-कह कर किस प्रकार विनोद किया करती थी—इसका निर्देश भी कवि ने किया है[5]।

---

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० १ —विक्रम अंक ४ पृ० २११

२ सखि! अवलम्बस्व मां यावदग्रपादस्थिता भूत्वा चूतकलिकां गृहीत्वा कामदेवार्चनं करोमि। —अभि० अंक ६ पृ० १०२

३ आकर्ष्य यस्याः स्वयं च यस्याः पुष्पाण्युपात्तानि विलासिनीभिः।
वन्यैः पुलिन्दैरिव वानरैस्ताः क्लिश्यन्त उद्यानलता मदीयाः॥
—रघु० १६।१९

४ स्तम्भेषु योषित्प्रतिमायातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम्।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति संगान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः॥
—रघु० १६।१७

५ सुरतरसविलासाः सत्सखीभिः समेताः, असमशरविनोदं सूचयन्ति प्रकामम्।
अनुपममुखरागा रात्रिमध्ये विनोदं शरदि तरुणकान्ताः सूचयन्ति प्रमोदान्॥
—ऋतु० ३।२४

फूल तोड़ना[1] माला बनाना[2] पुष्पशय्या रचना[3] फूलों से अपने को अलंकृत करना[4] स्त्रियों के विनोद के ही साधन नहीं उनकी परिष्कृत रुचि के भी परिचायक थे। शकुन्तला की सखियाँ अनसूया और प्रियंवदा[5] और इरावती की दासी[6] सभी फूल चुनने की शौकीन थीं। ऋतुसंहार में इस बात का स्पष्ट और विस्तृत वर्णन है कि किस प्रकार स्त्रियाँ प्रत्येक ऋतु में उस ऋतु में फूलने वाले पुष्पों से अपना शृंगार किया करती थीं।

रघुवंश में एक शब्द 'लीलागार'[7] मिलता है। अवश्य ही यह एक ऐसा स्थान होगा जहाँ तरह-तरह के खेल खेलने का प्रबन्ध रहता होगा।

पेड़ों का विवाह—युवती स्त्रियों की यह भी एक क्रीड़ा थी। किसी वृक्ष का किसी लता से विवाह कर वे अति प्रसन्न हुआ करती थीं। इन्दुमती ने आम और प्रियंगुलता का विवाह ठीक किया था पर सम्पादित करने के पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गई थी[8]। अभिज्ञानशाकुन्तल में भी वनज्योत्स्ना और सहकार के विवाह का प्रसंग है[9]।

---

१ ततः प्रविशतः कुसुमावचयं नाटयन्त्यौ सख्यौ। —अभि अंक ४ पृ ६७
—एषा कुसुमावचयव्यग्रहस्ता सख्यास्ते
परिचारिका मधुकरिका इत एवाभिवर्तते।
—माल अंक ४ पृ १२४

२ तव निःश्वसितानुकारिभिर्बकुलैरर्धचितां समं मया।
असमाप्य विलासमेखलां किमिदं किन्नरकण्ठि सुप्यते॥ —रघु ८।६४

३ मृदुपुष्पशयनान्यनातुरामेत्य दूतिकृतमार्गदर्शनः। —रघु ११।२१
—एषा मे मनोरथप्रियतमा सकुसुमास्तरणं शिलापट्टमधिशयाना सखीभ्याम्
अन्वास्यते॥ —अभि अंक ३ पृ ४१

४ देखिए, अध्याय 'वेशभूषा'

५ देखिए, पादटिप्पणी नं १ —अभि अंक ४ पृ ६७

६ देखिए, पादटिप्पणी नं १ —माल अंक ४ पृ १२४

७ पूर्वाकारापरिजतरम्या अंसतः पाण्डपानी लीलागारेष्वरमत पुत्रवत्सावास्मत्रेषु।
—रघु ८।९५

८ मिथुनं परिकल्पितं त्वया सहकारः फलिनी च नन्विमौ।
अविधाय विवाहसत्क्रियामनयोर्गम्यत इत्यसाम्प्रतम्॥ —रघु ८।६१

९ हला शकुन्तले इयं स्वयंवरवधूः सहकारस्य त्वया कृतनामधेया वनज्योत्स्नेति नवमालिका। एनां विस्मृतासि? —अभि अंक १ पृ १४

आर्थिक जीवन

कालिदास के ग्रन्थों में ऐश्व-आराम, विलास, समृद्धि आदि का वर्णन मनुष्य के सुखी जीवन की ओर इंगित करता है। पूर्वमेघ में बड़े-बड़े महल, बाजार, रत्न, फल, फूल आदि का प्रचुर वर्णन है। अट्टालिकाएँ एवं रत्नजटित आभूषणों का प्रचार देश के समृद्धिशाली होने का द्योतक है। इन्दुमती के स्वयंवर के पश्चात् जब अज नगरी के बीच में से होकर निकले तब बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं से स्त्रियाँ झाँक रही थीं, जो विभिन्न प्रकार के आभूषणों से अपना शृंगार किए हुए थीं। हिमालय की नगरी की समृद्धि भी इसी प्रकार की थी। कुमारसम्भव, रघुवंश, मालविकाग्निमित्र, अभिज्ञानशाकुन्तल सब में ही मदिरा, विलास और आनन्दमय जीवन का वर्णन है। अतः धन का अभाव अथवा दरिद्रता का अस्तित्व कहीं दृष्टिगत नहीं होता।

व्यावसायिक कर्म—मनुष्यों की प्रधान जीविका खेती-बारी थी[1]। उस कवि की रक्षा में कृषक था[2]। गाय इनकी सम्पत्ति थी। अतः दूध, घी आदि की कमी नहीं थी। अतिथि को मधुपर्कादि भेंट करना सामान्य बात थी। धान, यव, कलम, नीवार, पत्रा, केसर आदि मुख्य उपज थी[4]। गाय, बैल, भैंस पालना भी जीविका का साधन था।

नाना प्रकार के आभूषणों से व्यक्त होता है कि सोना, चाँदी आदि के सुन्दर-सुन्दर आभूषण बनाने वाले सुनार होंगे। मणि तराशने वाले कुशल कलाकार होंगे[5]। मालविकाग्निमित्र में नागमुद्रांकित अंगूठी सुनार के यहाँ से ही तत्काल बनकर आई थी[6]। अन्य धातुओं के बर्तन आदि बनते थे अतः इस प्रकार के भी कारीगर होंगे। मिट्टी के बर्तनों से कुम्हार का अस्तित्व भी

---

१ तत्र सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं किञ्चित्पश्चाद् व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण। —पूर्वमेघ १६

२ ते रेणुसन्तापितवर्णमुखैरमुच्छ्रिता कर्मभिरप्यवन्ध्यैः। —रघु १६।२

३ हैयंगवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान्।
नामधेयानि पृच्छन्तौ वन्यानां मार्गशाखिनाम्॥ —रघु १।४५

४ देखिए, अध्याय 'खान-पान'।

५ जिज्ञासापरवशप्रतान्तमनसस्तेऽयोगुणाबालमन
संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षोभोऽपि नालक्ष्यते। —अभि ६।६

६ सखि देव्या इदं विस्मितकायाभरणीयं नागमुद्रासनाथमंगुलीयकं स्निग्ध निध्यायन्ती तवोपालम्भे पतितास्मि। —माल अंक १ पृ २११

व्यक्त होता है। साँस से जो उड़ जायें, इस प्रकार के महीन वस्त्रों का पहनना बताता है कि सूत और सिल्क के बहुत बारीक कपड़े बुनने वाले कारीगर थे[1]। क्षौम पत्रोर्ण कौशेय[2] आदि अनेक प्रकार के वस्त्रों का वर्णन इस जीविका का साक्षात् संकेत है।

शस्त्रादि के प्रयोग से आभास होता है कि लुहार भी थे जो तरह-तरह के शस्त्र और अन्य भी लोहे का सामान बनाते थे। कवि ने एक स्थान पर उपमा द्वारा कि जिस प्रकार घन की चोट से तपाया हुआ लोहा फट जाता है उसी प्रकार अपनी पत्नी के कलंक की बातें सुनकर राम का हृदय फट गया[3] इसका संकेत किया है।

समुद्र में मोती रत्न शंख सीप मूँगे आदि होते हैं। इन सब वस्तुओं का प्रयोग कवि के ग्रन्थों में प्रचुरता के साथ है[4]। समुद्र रत्नों का सागर है, ऐसा अनेक स्थानों में कहा गया है[5]। ताम्रपर्णी नदी मोतियों की खान थी ऐसा भी प्रसंग आया है[6]। अतः समुद्र से इन वस्तुओं को निकालना भी जीविका का एक साधन था।

वन की बहुत-सी वस्तुओं का जीवन में प्रयोग होता था। रङ्कु मृगचर्म कस्तूरी गोरोचन चँवर[7] और इलायची लौंग कालीमिर्च पान का मसाला के पत्ते अधिक मात्रा में होते हैं वन की ही वस्तु है। चन्दन की लकड़ी भी वन से ही प्राप्त की जाती है। हाथी पकड़वाना राजा का सबसे बड़ा धन था[8]।

---

१ अथास्य रत्नग्रथितोत्तरीयमेकान्तपाण्डुस्तनलम्बिहारम्।
निःश्वासहार्यांशुकमाजगाम घर्मः प्रियावेषमिवोपदेष्टुम्॥ —रघु १६।४३

२ देखिए, अध्याय वेश-भूषा।

३ कलत्रनिन्दागुरुणा किलैवमभ्याहतं कीर्तिविपर्ययेण।
अयोघनेनाय इवाभितप्तं वैदेहिबन्धोर्हृदयं विदद्रे॥ —रघु १४।३३

४ देखिए, अध्याय 'वेश-भूषा'।

५ पुर्यरापवामाहुस्ते गुर्ण गुणवत्तमा।
तमेव चतुरन्तेशं रत्नैरिव महार्णवा॥ —रघु १।४८

६ ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः।
ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव संचितम्॥ —रघु ४।५०

७ देखिए, अध्याय 'वेश-भूषा' ८ देखिए अध्याय 'खान-पान'

९ ते रेणुरुक्षैर्गजयूथमुख्यैरम्युन्क्तिता धर्मविरत्यवन्ध्यै। —रघु १६।२

अतः जानवरों की खालें, हड्डियाँ, दाँत, सींग, पूँछ वन से लाने वाले व्यापारी थे। कौटिल्य वनों को कई भागों में बाँट देता है — (१) वे वन जो राजा के आखेट के लिए नियुक्त थे। इसमें जंगली जानवर दाँत और पञ्जे तोड़ कर छोड़े जाते थे (२) सामान्य वन (३) ऐसे प्रदेश जहाँ लकड़ी, रस्सी बनाने के लिए मूँज, लिखने के लिए भोजपत्र, रँगने के लिए किंशुक, कुसुम्भ, कुंकुम, औषधि के लिए जड़ी-बूटियाँ प्राप्त होती हों[२]। कालिदास के ग्रन्थों में भोजपत्र[३] और किंशुक, कुसुम्भ, कुंकुम आदि से वस्त्रों का रँगा जाना[४] वर्णित है। सिन्दूर,[५] मनःशिला[६] गैरिक[७] शैलेय आदि औषधियों के लिए उपयोगी

---

१ खनिभिः सुषुवे रत्नं क्षेत्रैः सस्यं वनैर्गजान्।
दिदेश वेतनं तस्मै रक्षासदृशमेव भूः ॥ —रघु १७।६६

पूँछ के चँवर बनते थे—
लाङ्गूलविक्षेपविसर्पिशोभैरितस्ततश्चन्द्रमरीचिगौरैः।
यस्यार्थयुक्तं गिरिराजशब्दं कुर्वन्ति बालव्यजनैश्चमर्यः ॥ —कुमार १।१३

२ Age of Imperial Unity of India, Page 598
(Radha Kumud Mukerjee Economic Condition)

३ देखिए अध्याय 'शिक्षा'   ४ देखिए, अध्याय 'शिक्षा'

५ विकचनवकुसुम्भस्वच्छसिन्दूरभासा प्रबलपवनवेगोद्भूतवेगेन तूर्णम्।
—ऋतु १।२४

६ गणा नमेरुप्रसवावतंसा भूर्जत्वचः स्पर्शवतीर्दधानाः।
मनःशिलाविच्छुरिता निषेदुः शैलेयनद्धेषु शिलातलेषु ॥ —कुमार १।५५
—अथाङ्गुलिभ्यां हरितालमार्द्रं माङ्गल्यमादाय मनःशिलां च।
कर्णावसक्तामलदन्तपत्रं माता तदीयं मुखमुन्नमय्य ॥—कुमार ७।२३
—कुम्भकर्णः कपीन्द्रेण तुल्यावस्थः स्वसुः कृतः।
रुरोध रामं शृङ्गीव टङ्कच्छिन्नमनःशिलः ॥ —रघु १२।८०

७ ततो गौरीगुरुं शैलमारुरोहाश्वसाधनः।
वर्धयन्निव तत्कूटानुद्धूतैर्धातुरेणुभिः ॥ —रघु ४।७१
—तेषां विभान्ति तरुणारुणरागयोगाद्भिन्नाद्रिगैरिकतटा इव दन्तकोशाः।
—रघु ५।७२
—धातुताम्राधरः प्रांशुर्देवदारुबृहद्भुजः।
प्रकृत्यैव शिलोरस्कः सुव्यक्तो हिमवानिति ॥ —कुमार ६।५१

८ देखिए पादटिप्पणी नं ६ —कुमार १।५५
—अध्यास्य धाम्नः पृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि।
कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु ॥—रघु ६।५१

धातुओं का भी प्रसंग है। अतः वन और पर्वतीय मार्गों से इन वस्तुओं को लाना बेचना भी मनुष्य का पेशा था।

वन का सबसे बड़ा धन गज था। श्री वासुदेवशरण जी ने हाथियों को किस प्रकार पाली-पाली गई हथिनियों के द्वारा जो गणिका कहलाती थी पकड़वाया जाता था। इसका उल्लेख 'हर्षचरित एक अध्ययन' में किया है।[1] आटविक या आटविक राजा स्वयं नए-नए हाथियों को पकड़ कर सम्राट् की सेवा में भेजते रहते थे। हाथियों के लिए विशेषरूप से सुरक्षित वन थे जो नागवन कहलाते थे। इसका अधिकारी हस्त्यध्यक्ष (नागवनाध्यक्ष) कहलाता था। राजा के भूपपाल इनमें बंधकी हाथी रखाए जाते थे। नागवन की सुविधा के लिए कई वीथियों में बाँट दिया जाता था। प्रत्येक वीथी पर एक अधिकारी होता था जो नागवन वीथिपाल कहलाता था। नागवन में किसी नए यूथ के देख जाने की सूचना तुरन्त दरबार में यह अधिकारी भेजा करता था। कालिदास के ग्रन्थों में राजा किस प्रकार हाथियों को इकट्ठा किया करता था इसका उल्लेख है। सम्भवतः यही व्यवस्था उस समय भी होगी। अतः यह सब अधिकारी भी उस समय नियुक्त होंगे।

वणिज[2] सार्थ[3] सार्थवाह[4] श्रेष्ठी[5] आदि शब्दों के व्यवहृत होने से अनुमान किया जाता है कि व्यापार करना भी व्यवसाय था। पूर्वमेघ में हाट का वर्णन किया गया है। अवश्य ही वस्तुओं के बेचने के लिए दुकानदार भी होंगे। श्री राधाकुमुद मुकर्जी का मत है कि साहित्य में श्रेणी शब्द उन व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त हुआ है जो चाहे एक जाति के हों अथवा नहीं पर एक व्यवसाय के अवलम्ब हों। प्रत्येक कारबार अथवा पेशा का एक संगठन हो जाता था। श्रेणी

---

१ वासुदेवशरण अग्रवाल हर्षचरित एक अध्ययन पृ १२८

२. पण्यागम कैवर्तजीविकाय ते सामपण्य वणिजं वदन्ति । —माल १।१७

३ वापीष्वपि स्रवन्तीषु वनेषूपवनेष्वपि
सार्थाः स्वैरं स्वकीयेषु चेरुर्वेश्मस्विवाद्रिषु । —रघु १७।६४
—न इमां तपोवनप्रान्तभूमिं मया सार्थभ्रष्टया भयमध्यकान्तारोत्तमा पथिक
मात्र विरिदामामिनमनुप्रविष्ट । —माल अंक ५, पृ १४८

४ समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः ।
—अभि अंक ६ पृ १११

५ देव इदानीमेव साकेतस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निवृत्तपुंसवना जायास्य श्रूयते ।
—अभि अंक ६ पृ १११

में एक ही पेशे के व्यक्तियों का संगठन होता था पर कई प्रकार के व्यापारियों का संगठन सार्थ कहलाता था।[1] इस सार्थ का मुखिया सार्थवाह कहलाता था जो उनका प्रत्येक प्रकार से मार्ग-निर्देशन किया करता था।[2]

बौद्धिक व्यवसायों में शिक्षक पुरोहित ज्योतिषी वैद्य मुहूर्त निकालने वाले आदि वर्ग के व्यक्ति आते हैं। मालविकाग्निमित्र में गणदास और हरदत्त वेतन लेकर इरावती और मालविका को नृत्यकला की शिक्षा दिया करते थे। राजा की सेवा और सहायतार्थ सरकारी नौकरियाँ भी होती थीं। पुरोहित ज्योतिषी और नैमित्तिक राजा की सहायतार्थ ही थे। सेनापति दुर्गरक्षक नगर रक्षक आदि सब वेतनभोगी ही थे।

कला जीविका का साधन हो चली थी। मालविकाग्निमित्र में दो स्त्रियाँ राजदरबार में लाई जाती हैं। राजा पूछता है— तुम लोग किस कला में दक्ष हो? वे उत्तर देती हैं—'संगीत में'[3]। अतः स्पष्ट ही संगीत जीविका का साधन हो चला था। वेश्या नर्तकी आदि का प्रसंग प्रमाणित करता है कि गणिकावृत्ति और वेश्यावृत्ति भी एक तरह से आजीविका थी। प्रसाधन-कला पंखा झलने की कला और संवाहन (पैर दबाने की कला) भी पेशे के रूप में समाज में प्रचलित थी। संवाहन-कला बहुत अच्छी मानी जाती थी। दुष्यन्त ने शकुन्तला की इसी से सेवा करनी चाही थी[5]।

---

१ Age of Imperial Unity of India Page 601-602.

२ "Different merchants with their carts loaded with their goods and their men made up a company under a comm n captain called Sarthvaha who gave th m directions as to halts watering, outes etc. etc

—Age of Imperial Unity of India Page 602

३ 'कस्मां कलायामभिविनीते भवत्यौ?' भर्तः संगीतकेऽभ्यन्तरे स्वः।

—माल अंक ५, पृ १४५

४ आत्मनमात्मसेवितसेवितस्वेषु प्रसाधका —रघु १७।२२

—यदि आत्मनस्त्वरया इति वक्तुं पूर्वं प्रवृत्तिषु तेन प्रसाधनकलामार्गि नीताधि? —माल पृ १ १

५ किं शितालै करभोरु यथासुखं ते संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्री।

—अभि ३।१८

उच्च शिल्प तथा मकान अट्टालिकाएँ हाट आदि के बनाने वालों[1] अथवा सुनार, धातु से मणि निकालने वालों के अतिरिक्त हीनशिल्प के भी समुदाय थे। इनमें स्वपच[2] धीवर[3] शराब बेचने वाले[4] मांस बेचने वाले[5] मछली पकड़ने वाले[6] नाव चलाने वाले[7] आदि व्यवसाय आते हैं। उद्यान में बेल और पौधों की रक्षा के लिए मालिनें रहती थीं[8]। यह लोग माला आदि भी गूँथती होंगी।

व्यापार-मार्ग—अभिज्ञानशाकुन्तल में समुद्रव्यापारी धनमित्र का नाम आता है अतः व्यापार नदी और समुद्रों द्वारा भी होता था तथा स्थल-मार्ग द्वारा भी। स्थल-मार्ग समुद्र की अपेक्षा अधिक उत्तम था। रघु ने दिग्विजय में पारसी राजाओं को जीतने के लिए यद्यपि वह समुद्र-मार्ग से भी जा सकता था यही स्थल-मार्ग श्रेष्ठ समझा[9]। रघु की दिग्विजय से स्पष्ट होता है कि सम्पूर्ण भारत वर्ष स्थल-मार्गों से भरा था। यही नहीं अरब फारस आदि देश भी स्थल-मार्ग द्वारा भारत से सम्बद्ध थे। मेघदूत में मेघ की यात्रा भी इसी बात की पुष्टि करती है। प्रो० राधाकुमुद मुकर्जी ने कई मार्गों का विवरण दिया है। प्रथम श्रावस्ती से राजगृह तक का था। बीच में १२ रुकने के स्थान (Halts) थे। वैशाली भी एक विश्रामालय था। पटना में गंगा को पार करना पड़ता था। दूसरा मार्ग श्रावस्ती से दक्षिण-पश्चिम की ओर जाता था। तीसरा श्रावस्ती से सिंध की ओर जाता था। राजपूताना के रेगिस्तान को पार करता था। चौथा ग्राण्ड ट्रंक रोड था जो राजगृह से बनारस साकेत श्रावस्ती होता हुआ तक्षशिला और सीमाप्रान्त तक जाता था। यह मध्य और पश्चिमी एशिया को भारत से मिलाता था। मेगस्थनीज ने भी राजपथ (Royal road) का वर्णन किया है जो उत्तर पश्चिम सीमाप्रान्त से पाटलिपुत्र तक था। इसके अतिरिक्त उसके मतानुसार सारा देश सड़कों के जाल से पूर्ण हुआ था। जगह-जगह मील के पत्थर (Mile

---

१ तां शिल्पिसंघाः प्रभुणा नियुक्तास्तथागतां संभृतसाधनत्वात्।
पुरं नवीचक्रुरपां विसर्गान्मेघा निदाघग्लपितामिवोर्वीम्॥ —रघु १६।३८

२ ३ ४ ५ ६ देखिए अध्याय वर्ण-व्यवस्था।

७ रथात्स यन्त्रा निगृहीतवाहात्तां भ्रातृजायां पुलिनेऽवतार्य।
गंगां निषादाहृतनौविशेषस्ततार संधामिव सत्यसंधः॥ —रघु १४।५२

८ विश्रान्तः सन्व्रज वननदीतीरजातानि सिञ्च-
न्नुद्यानानां नवजलकणैर्यूथिकाजालकानि।
गण्डस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानां
छायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम्॥ —पूर्वमेघ २८

९ पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना। —रघु ४।६

stories) भी थे जिनसे फासला पता चलता था[1]। कालिदास के ग्रन्थों में महापथ[2] राजपथ[3] नाम मिलते हैं। बाजार की सड़क आपणमार्ग[4] कहलाती थी। सम्भवतः ऊपर वर्णित मार्गों में से यह महापथ राजपथ आदि हों।

आयात-निर्यात की वस्तुएँ—पश्चिम के घोड़े रघु के दिग्विजय में वर्णित हैं[5]। कवि ने वनायु घोड़ों का नाम लिया है[6] कंबोज के भी घोड़े प्रसिद्ध होंगे। रघु को राजा ने भेंट में घोड़े ही दिए थे[7]। अतः आयात वस्तुओं में घोड़े रेशमी वस्त्र इत्र मूंग आदि का नाम भगवतशरण ने दिया है[8]। राधाकुमुद मुकर्जी ने भी इन्हीं वस्तुओं के (सिवाय घोड़े के) नाम दिए हैं। निर्यात वस्तुओं में जड़ी-बूटियाँ मोती हीरा नीलम चन्दन जानवरों की खाल सीप सूती कपड़ा सोना चाँदी आदि राधामुकुद मुकर्जी के मतानुसार हैं[9]।

मुद्राएँ, तौल और पैमाने (Coins, Weights and measures)—व्यापार की इस समृद्धि से निस्सन्देह किसी सिक्के का जिसके द्वारा क्रय-विक्रय होता था होना स्पष्ट है। अभिज्ञानशाकुन्तल में मन्त्री का कथन कि 'धन की गणना में ही सारा दिन व्यतीत हो गया'[10] भी प्रमाणित करता है कि सिक्के अथवा मुद्रा का प्रचार हो चुका था। कौत्स ऋषि के द्वारा गुरुदक्षिणा के लिए १४

---

१ Age of Imperial Unity of India Page 606.

२ संतानकाकीर्णमहापथं तच्चीनांशुकैः कल्पितकेतुमालम्।
भासोज्ज्वलत्काञ्चनतोरणानां स्थानान्तरं स्वर्ग इवाबभासे ॥ —कुमार ७।३

३ महापथं राजपथं स पश्यन्विमानमाला सरयू च नौभिः।
—रघु १४।१

४ प्रवेशयन्तीरिमुद्यमेनमागुल्फकीर्णापणमार्गपुष्पम्। —कुमार ७।५५

५ संग्रामस्तुमुलस्तस्य पाश्चात्त्यैरश्वसाधनैः।
शार्ङ्गकूजितविज्ञेयप्रतियोधे रजस्यभूत् ॥ —रघु ४।६२

६ दीर्घेष्वमी नियमिताः पटमण्डपेषु निद्रां विहाय वनजाक्ष वनायुदेश्याः।
—रघु ५।७३

७ तेषां सदश्वभूयिष्ठास्तुङ्गा द्रविणराशयः।
उपदा विविशुः शश्वन्नोत्सेकाः कोसलेश्वरम् ॥ —रघु ४।७०

८ India in Kalidasa by B. S. Upadhyaya, Page 264

९ Age of Imperial Unity of India Page 604

१ अर्थजातस्य गणनाबहुलतयैकमेव पौरकार्यमवेक्षितं तदेव पत्रारूढं प्रत्यवेक्ष्यतामिति। —अभि ६ १

करने पर गुरु ने क्रोधित होकर १४ विद्याओं के लिए १४ करोड़ माँगा था[1]। किसी मुद्रा के अभाव में १४ करोड़ माँगना कोई अर्थ नहीं रखता। अतः कोई न-कोई सिक्का उस समय था। कालिदास ने निष्क का नाम लिया है। यह शब्द दो स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है। प्रथम कुमारसम्भव में जहाँ इस कथन से विष्णु के जिस चक्र पर हम (देवतागण) आस लगाए बैठे थे वह तारकासुर के गले से जब टकराता है तब उसमें से निकली चिनगारियाँ ऐसी प्रतीत होती हैं मानो उस राक्षस के गले में निष्क की माला पहना दी गई हो[2]। अनुमान होता है कि निष्क सोने का गोल सिक्का था। मालविकाग्निमित्र में निष्कशत सुवर्णपरिमाण[3] दान में दिया जाता था। श्री राधाकुमुद मुकर्जी के कथनानुसार 'सुवर्ण सोने का सिक्का था जिसकी तौल ८ रत्ती थी'[4]। यदि इसकी सत्यता पर विश्वास किया जाय तो १ सुवर्ण के बराबर एक निष्क था। कवि ने तुला[5] और मानदण्ड[6] दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। अतः क्रय-विक्रय में बाट तराजू आदि का प्रयोग होता था और लेन-देन के लिए सुवर्ण निष्क आदि सिक्के भी थे।

---

१ निर्बन्धसंजातरुषार्थकार्श्यमचिन्तयित्वा गुरुणाहमुक्तः।
वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति॥ —रघु ५।२१

२ जयाशा यत्र चास्माकं प्रतिघातोत्थितार्चिषा।
हरिचक्रेण तेनास्य कण्ठे निष्कमिवार्पितम्॥ —कुमार २।४९

३ माल अंक ५, पृ ११६

४ Age of Imperial Unity of India Page 607

५ प्रशमस्थितपूर्वपार्थिवं कुलमभ्युद्यतनूतनेश्वरम्।
नभसा निभृतेन्दुना तुलामुदितार्केण समारुरोह तत्॥ —रघु ८।१५
—तं कृतप्रणतयोऽनुजीविनः कोमलात्मनखरागरूषितम्।
भेजिरे नवदिवाकरातपस्पृष्टपङ्कजतुलाधिरोहणम्॥ —रघु १९।८
—तस्य पाण्डुवदनाल्पभूषणा सावलम्बगमना मृदुस्वना।
राजयक्ष्मपरिहानिराययौ कामयानसमवस्थया तुलाम्॥ —रघु १९।५
—अपि त्वदावर्जितवारिसम्भृतं प्रवालमासामनुबन्धि वीरुधाम्।
चिरोज्झितालक्तकपाटलेन ते तुलां यदारोहति दन्तवाससा॥
—कुमार ५।३४

६ अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥
—कुमार १।१

धन का एकत्रीकरण—धन को अनेक प्रकार से एकत्र किया जाता था। जमीन में या नदी के किनारे ताँबे के बर्तन में गाड़ दिया जाता था[1]। किसी के पास न्यास रूप में भी रख दिया जाता था[2]।

सामाजिक रीति-रिवाज, आचार तथा व्यवहार
(Social customs manners & decorum)

प्रणाम करने की विधि—गुरुजनों को प्रणाम करने की प्रथा से ही चलन है। स्त्री और पुरुष दोनों के प्रणाम करने का एक ही ढंग आमान्वित होता है। माँ, पिता, गुरु अथवा आचार्य के चरण छूकर अथवा चरणों पर सिर रख कर प्रणाम किया जाता था। राजा दिलीप और सुदक्षिणा ने गुरु वसिष्ठ को चरण छूकर प्रणाम किया था[3]। रघु के वन जाते समय अज ने उनके चरणों में अपना सिर रख दिया था[4]। राम का परशुराम को प्रणाम[5], वन से लौटकर माताओं को प्रणाम[6] करने की यही चरण छूकर ही विधि थी, अथवा सिर झुकाकर ही प्रणाम कर लिया जाता था।

पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी प्रणाम करती थीं। कभी-कभी अपना नाम लेकर भी प्रणाम किया जाता था। वन से लौटकर सीता ने 'मैं ही पति को कष्ट देने वाली कुलक्षणा सीता हूँ' कहकर सासों को *प्रणाम किया था*[7]। उर्वशी के पुत्र आयुस ने भी 'उर्वशी का पुत्र आयुष आपको प्रणाम करता है' कह कर

---

१ Age of Imperial Unity of India Page 600

२ देखिए, पादटिप्पणी न. १

अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः ।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ॥
—अभि. ४।२२

—पुनर्ग्रहीतुं नियमस्थया तया द्वयेऽपि निक्षेप इवार्पितं द्वयम् ॥
—कुमार. ५।११

३ तयोर्जगृहतुः पादान् राजा राज्ञी च मागधी ।
तौ गुरुर्गुरुपत्नी च प्रीत्या प्रतिननन्दतुः ॥ —रघु. १।५७

४ तमरण्यसमाश्रयोन्मुखं शिरसा वेष्टनशोभिना सुतः ।
पितरं प्रणिपत्य पादयोरपरित्यागमयाचतात्मनः ॥ —रघु. ८।१२

५ राघवोऽपि चरणौ तपोनिधेः क्षम्यतामिति वदन्समस्पृशत् । —रघु. ११।८९

६ उभावुमाभ्यां प्रणतौ हतारी यथाक्रमं विक्रमशोभिनौ तौ । —रघु. १४।२

७ क्लेशावहा भर्तुरलक्षणाहं सीतेति नाम स्वमुदीरयन्ती ।
स्वर्गप्रतिष्ठस्य गुरोर्महिष्यावभक्तिभेदेन वधूर्ववन्दे ॥ —रघु. १४।५

नारद को प्रणाम किया था[1]। स्त्रियाँ कुमारी होने पर भी चरण छूकर प्रणाम करती थीं[2]।

वन्दे[3] प्रणाम[4] अभिवादये[5] आदि शब्द प्रणाम करने के लिए प्रयुक्त किए जाते थे। तपस्वी विद्वानों आदि को राजा दुष्यन्त[6] और अग्निमित्र[7] का प्रणाम करना उनके शिष्टाचार और नम्रता की अभिव्यंजना करता है।

कुमार आयुस का राजा के पास जाकर चरण छूकर प्रणाम करना[8] इस बात का द्योतक है कि शैशवावस्था से ही शिष्टाचार की यह सामान्य रीतियाँ सिखाई जाती थी।

पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी तपस्विजन[9] देवी-देवताओं[10] और पिता[11] को प्रणाम करती थीं। कभी 'वन्दे'[12] कह कर और कभी 'पादवन्दनं करोमि'[13] कह कर वे अपने शील का परिचय दे दिया करती थीं।

---

१ भगवन् मौर्वरेय आयु प्रणमति। —विक्रम अंक ५, पृ २५३

२ तामर्चिताभ्यः कुलदेवताभ्यः कुलप्रतिष्ठां प्रणमय्य माता।
अकारयत्कारयितव्यदक्षा क्रमेण पादग्रहणं सतीनाम्॥ —कुमार ७।२७

३ इत्यादृतेन कथितौ रघुनन्दनेन व्युत्क्रम्य लक्ष्मणमुभौ भरतो ववन्दे।
—रघु १३।७२
—रामेण मैथिलसुतां दशकण्ठकृच्छ्रात् प्रत्युद्धृतां धृतिमतीं भरतो ववन्दे।
—रघु १३।७७
देखिए पिछले पृष्ठ पर पादटिप्पणी नं ७ - रघु १४।५

४ प्रासादवातायनदृश्यबन्धैः साकेतनार्योऽञ्जलिभिः प्रणेमुः। —रघु १४।१३
—उमापि नीलालकमध्यशोभि विस्रंसयन्ती नवकर्णिकारम्।
चकार कर्णच्युतपल्लवेन मूर्ध्ना प्रणामं वृषभध्वजाय॥—कुमार ३।६२

५ भगवति अभिवादये। —माल अंक १ पृ २७३
—अभिवादये भगवन्तौ। —अभि अंक २ पृ १७
—सर्वानभिवादये। —अभि अंक ५, पृ ८९

६ देखिए पादटिप्पणी नं ५ —अभि अंक २ पृ १७ अंक ५, पृ ८९

७ देखिए पादटिप्पणी नं ५ —माल अंक १ पृ २७३

८ कुमारो राजानमुपगम्य प्रणामं करोति। —विक्रम अंक ५, पृ २४७

९ अम्ब पादवन्दनं करोमि। —विक्रम अंक ५, पृ २४८-२४९

१० गौतमी—जाते ज्ञातिजनस्निग्धाभिरनुज्ञातगमनासि तपोवनदेवताभिः।
प्रणम भगवतीः। —अभि अंक ४ पृ ७

११ तात वन्दे। —अभि अंक ४ पृ ५८

१२ देखिए पादटिप्पणी नं ११   १३ देखिए पादटिप्पणी नं ९

परिचारिका अपने स्वामी को 'जयतु जयतु भर्ता'[1] 'जयतु देवो भर्ता'[2] 'विजयतां विजयतां देवः'[3] कह कर प्रणाम करती थी । स्वामिनी के लिए 'जयतु भट्टिनी'[4] 'जयतु जयतु भर्तृदारिके'[5] शब्द प्रयोग किए जाते थे ।

स्त्रियाँ पति को 'जयतु जयतु आर्यपुत्र'[6] कह कर प्रणाम करती थी ।

आशीर्वाद देने की प्रणाली—अवस्था और पद के अनुसार आशीर्वाद का ढंग भी बदल जाता था । राजा के तपस्वी को प्रणाम करने पर वे राजा को आशीर्वाद देते थे 'चक्रवर्तिन पुत्र माप्नुहि'[7] । राजा 'प्रतिगृहीतम्'[8] कह कर नम्रता सूचित करता था । स्त्रियों को 'पति के अखण्ड प्रेम को प्राप्त करो पति की प्यारी बनो और पुत्र की माता बनो' आदि आशीर्वाद दिए जाते थे ।[9] बच्चों को 'चिरञ्जीवी हो'[10] ऐसा आशीष दिया जाता था । 'तुम्हारा कल्याण हो तुम फूलो फलो'[11] भी बच्चों के लिए ही प्रयुक्त किया जाता था । माँ बच्चे को आशीर्वाद देती थी कि 'पिता की सेवा करने वाले बनो ।'[12]

विदा देते समय 'तुम्हारा मार्ग कल्याणकारी हो'[13] ऐसा कहा जाता था ।

---

१ माल अंक ४ पृ २१ १२५, १२७ १४२ १६७ (पञ्चमोऽङ्क)
अभि अंक ६ पृ ११९
२. माल अंक ४ पृ १२१ ३ माल अंक ५ पृ १४ १४४ १६२
४ माल अंक ३ पृ १६७ १४९ ५. माल अंक ५ पृ १४९
६ माल अंक ३ पृ १४४ अंक ४ पृ ११८ अभि अंक ७ पृ १४१
७ सर्वथा चक्रवर्तिन पुत्रमाप्नुहि । —अभि अंक १ पृ ८
—जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपमिदं तव ।
पुत्रमेवंगुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि ॥ —अभि १।१२
८. अभि अंक १ पृ ८ ९ देखिए, अध्याय 'गृहस्थ जीवन'
१० सीता तमुत्थाप्य जगाद वाक्यं प्रीतास्मि ते सौम्य चिराय जीव ।—रघु १४।५९
११ स्वस्ति भवते । अथवा भवान् । —विक्रम अंक ५ पृ २४७
—आयुष्मानेधि । —विक्रम अंक ५, पृ २५४
—स्वस्ति भवते । —विक्रम अंक ५, प २५५
१२ जात पितुराराधयिता भव । —विक्रम अंक ५, पृ २४८
१३ अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः ।
परभृतविरुतं कलं यथा प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम् ॥ —अभि ४।१
—रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभिश्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः ।
भूयात्कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः ॥
—अभि ४।११

बराबर वालों से और बड़ों से भी गले मिल कर विदा की जाती थी[1]। मिलने पर प्रसन्नता से कण्ठ में लगा कर दृढ़ आलिंगन कर लिया जाता था[2]।

अतिथि-पूजा—अतिथि देवता के समान सबके लिए पूज्य होता था। उसके आराम और सुविधाओं का बहुत ध्यान रखा जाता था। रघु की कौत्स-पूजा इसका आदर्श है। अतिथि को कभी-कभी कन्या भी समर्पित कर देते थे। दुष्यन्त के आगमन पर प्रियंवदा कहती है—यदि तात आज आश्रम में होते तो इस अतिथि को अपनी विशेष प्रिय वस्तु (शकुन्तला) दे देते[3]। पार्वती का बटुक वेष में आए शिव का सत्कार-वृत्ति सामाजिक आचार की पूर्णता है। तपस्वियों के द्वार पर पधारने पर हिमालय ने गृहस्थ-धर्म के सच्चे फल को प्राप्त किया—ऐसी उक्ति ही न कही वरन् आतिथ्य-सत्कार के लिए अपनी कन्या और स्त्री दोनों को समर्पित किया[4]।

अतिथि के स्वागत करने की विधि—जिसके यहाँ अतिथि आता था उसे आतिथेय[5] कहते थे। कभी-कभी अतिथि द्वार पर आकर अपने आने की घोषणा मैं आया हूँ कहकर करते थे[6]। अतिथि के आने का आभास पाने पर अर्घ्य आदि उसको समर्पित किया जाता था। चरण धोने के लिए जल दो

---

१ वत्से परिष्वजस्व मां सखीजनञ्च। —अभि पृ ७२

२ सौमित्रिणा तदनु संससृजे स चैनमुत्थाप्य नम्रशिरसं भृशमालिलिङ्ग।
रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणकर्कशेन क्लिश्यन्निवास्य भुजमध्यमुरःस्थलेन॥
—रघु ११।७२

३ सख्यौ—हला शकुन्तले। अद्य यदि तात संनिहितो भवेत्।
शकुन्तला—तदा किं भवेत्?
सख्यौ—इमं जीवितसर्वस्वेनाप्यतिथिविशेषं कृतार्थं करिष्यति।
—अभि अंक १ पृ १९

४ एते वयममी दाराः कन्येयं कुलजीवितम्।
ब्रूत येनात्र वः कार्यमनास्था बाह्यवस्तुषु॥ —कुमार ६।६३

५ स मृण्मये वीतहिरण्मयत्वात्पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशीलः।
श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः॥ —रघु ५।२

६ अयमहं भोः। —अभि अंक ४ पृ ५८

७ अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृपं सोऽनवेक्ष्य भरताग्रजो यतः॥ —रघु ११।६९,
रघु ११।६६ कुमार ६।५

'पादोदकम्'[1] कहलाता था, बैठने को आसन[2] तथा फल[3] आदि भेंट किया जाता था। सम्माननीय अतिथियों को मधुपर्क भेंट किया जाता था। दामाद का सम्मान देवता अथवा सम्माननीय अतिथि के तुल्य ही होता था[4]। मधुपर्क में दही, दर्भ, चावल आदि रहते थे।

अतिथि का विशेष सम्मान प्रीति-वचनों से किया जाता था। उसका और उससे सम्बद्ध अन्य व्यक्तियों का कुशल पूछना, उसके आने का आशय जानना तथा उसके आशय की पूर्ति के लिए तन, मन, धन से प्रयत्न करना आतिथ्य का काम था। सामाजिक आचार का सबसे बड़ा अंश सौम्य, मधुर वचनों से सत्कार करना था। राजा दुष्यन्त का परिचय और आने का उद्देश्य अनसूया बड़ी चतुराई और सभ्यता, शिष्टता और उच्च संस्कृतियुक्त सुष्ठु रीति से जानने का प्रयत्न करती है[5]। रघु ने कौत्स का सत्कार भी बहुत आदरपूर्ण वचनों से किया तथा उसके गुरु आदि की कुशल पूछते हुए उनके आने का अभिप्राय बहुत नम्रता से पूछा। राजा हिमालय ने भी सप्तर्षियों का सत्कार करते हुए नम्रता से अपनी समस्त सेवाओं को अर्पित कर आने का अभिप्राय जानने का प्रयत्न किया[6]।

अन्य रीति-रिवाज—विवाह सम्बन्धी सभी रीति-रिवाज, बड़े भाई का पहले विवाह होना, नगर की सजावट, उत्सव, कुछ पड़ावों तक पहुँचाने जाना आदि यथास्थान वर्णन किया जा चुका है। मृत्यु के समय के भी सभी आचारों पर दृष्टि डाली जा चुकी है। राज्याभिषेक, जन्मोत्सव आदि पर बन्दियों को मुक्त करना आजकल की नई वस्तु नहीं अपितु तब भी प्रचलित थी।

---

१ हला शकुन्तले गच्छोटजम् फलमिश्रमर्घमुपहर। इदं पादोदकं भविष्यति॥
—अभि पृ १७

२ तमर्घ्यमासनाद्यैमानस्यासनपरिग्रह
इत्युवाचस्वरन्यार्थं प्रांजलिभूधरेश्वर॥ —कुमार ६।५१

३ देखिए पादटिप्पणी नं १

४ देखिए, अध्याय 'विवाह'

५ आर्यस्य मधुरालापजनितो विश्रम्भो मां मन्त्रयते कतम आर्येण राजर्षिवंशो अलंक्रियते कतमो वा विरहपर्युत्सुकजन: कृतो देश: किं निमित्तं वा सुकुमारतरोऽपि तपोवनगमनपरिश्रमस्यात्मा पदमुपनीत: ।—अभि अंक १ पृ १८

६ देखिए अध्याय 'आश्रम'

किसी से भेंट खाली हाथ नहीं की जाती थी[1]। फल[2] या फूल[3] लेकर भी भेंट की जाती थी। भेंट में स्त्रियाँ भी अर्पित की जाती थीं[4]। अतः दास-प्रथा उस समय थी। पत्र के साथ भी कुछ भेंट में भेजा जाता था[5]।

युद्ध करते समय सैनिकों के साथ उनकी स्त्रियाँ भी रहती थीं[6]। सैनिक युद्ध करते समय नाम लेकर युद्ध करते थे[7]। युद्ध में हाथी को मारना वर्जित था[8]।

दूषित वस्तुओं को शुद्धि अग्नि में डालकर कर दी जाती थी[9]।

नैतिकता

भारतवर्ष में नैतिकता सदा उच्च-से-उच्च और नीच-से-नीच रूप में रही है। स्वयं कालिदास की कृतियों में भी यही बात परिलक्षित है। एक ओर आदर्श प्रेम का चित्र है तो दूसरी ओर घोर विलास का नग्न स्वरूप। श्री राम

---

१ सखि भवस्यामापयति परिजनपाणिनाऽस्मात्पुत्रजनेन तत्र भवती देवी द्रष्टव्या। तद्वीजपूरकेण शुश्रूषितुमिच्छामीति ॥ —माल अंक ३ प ७१

२ देखिए, पादटिप्पणी नं १

३ विदूषक— देवीं द्रष्टुमीप्सामायपुष्पग्रहणकारणात्प्रमदवनं गतोऽस्मि।

—माल अंक ४ पृ ११८

४ कंचुकी—विजयता देव। देव आमात्यो विज्ञापयति—विदर्भविषयापायम इ शिल्पकारिके मार्गपरिश्रमात्कृशे शरीरे इति पूर्व न प्रवेशिते। सम्प्रति देवोपस्थानयोग्य संवृत्ते। तदाज्ञा देवो दातुमर्हतीति।

—माल अंक ५, पृ १४५

५ अयं देवस्य सेनापते पुष्यमित्रस्य सकाशात्सोत्तरीयप्राभृतको लेख प्राप्त।

—माल अंक ५, प १५२

६ सच्छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्यं भग्नाक्षपर्यस्तरथं क्षणेन। रामापरित्राणविहस्तयोधं सेनानिवेशं तुमुलं चकार ॥ —रघु ५।४९

७ नरस्तु तूर्यस्वनितास्वनाद्यो नारीरमन्ति स्म युद्धोपदेशात्। बाणाक्षरैरेव परस्परस्य नामोर्जितं चापभृत शशंसु ॥ —रघु ७।३८
—स्वभुजु नामसद्भावयन्नुपशान्त राजस्वात्मपराक्रमेण। —रघु ७।४१

८ तमापतन्तं नृपतेरवध्यो वन्य करीति श्रुतवान्कुमार। —रघु ५।५०

९ कंचुकी—आर्य प्रयाच्छितोऽयं मणि वस्तौ प्रवेशयताम्।
राजा—वैमनस गच्छ अग्निशुद्धमेनं कृत्वा पेटके प्रवेशय।

—विक्रम अंक ५, प २४२

शिष्टाचार और आचार-विचार में उस समय के व्यक्ति दक्ष थे। मूक भी चतुर था जो अवसर पर अपने मालिक से प्रार्थना कर काम निकाल लेता था[1]। दरबारी आचार की झलक कवि के ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर पाई जाती है। शिवजी के विवाह के लिए प्रस्थान करने पर झट सूर्य ने विश्वकर्मा के हाथ का बनाया हुआ नया छत्र शिव जी के सिर पर लगा दिया। ब्रह्मा और विष्णु ने आकर जय-जयकार की। इन्द्र आदि लोकपालों ने दर्शन की इच्छा से नन्दी को संकेत किया और नन्दी के द्वारा ले आए जाने पर उन्होंने शिवजी को प्रणाम किया। शिव ने भी ब्रह्मा की ओर सिर झुकाकर विष्णु जी से कुशल-मंगल पूछकर, इन्द्र की ओर मुस्कराकर और अन्य देवताओं को केवल देखकर आदर प्रदर्शित किया[2]। नाटकों में भी इसी प्रकार की मधुर शिष्टता पाई जाती थी। स्वर्ग लौटने की इच्छुक उर्वशी सखी के द्वारा विनय करती है—'महाराज की आज्ञा हो तो आपकी कीर्ति को अपनी प्रिय सखी के समान स्वर्ग ले जाऊँ[3]। इसी प्रकार अनसूया की दुष्यन्त के प्रति उक्ति में 'महाराज के मधुर भाषण से मुझे धैर्य हुआ है, इसलिए मैं आपसे पूछने का साहस करती हूँ कि आपने किस राजर्षि का वंश अलंकृत किया है? किन देशवासियों को आपने अपनी विरहव्यथा से पीड़ित किया है तथा किसलिए आपने अपने अत्यन्त कोमल शरीर को तपोवन का क्लेश पहुँचाया है[4]।"

---

१ तस्यानुमेने भगवान्विमन्युर्व्यापारमात्मन्यपि सायकानाम्।
कालप्रयुक्ता खलु कार्यविद्भिर्विज्ञापना भर्तृषु सिद्धिमेति॥ —कुमार० ७।९३

२. उपाददे तस्य सहस्ररश्मिस्त्वष्ट्रा नवं निर्मितमातपत्रम् —कुमार ७।४१
—तमन्वगच्छत्प्रथमो विधाता श्रीवत्सलक्ष्मा पुरुषश्च साक्षात्।
जयेति वाचा महिमानमस्य संवर्धयन्तौ हविषेव वह्निम्॥
—कुमार ७।४३
—तं लोकपाला पुरुहूतमुख्याः श्रीलक्षणोत्सर्गविनीतवेषाः।
दृष्टिप्रदाने कृतनन्दिसंज्ञास्तद्दर्शिताः प्राञ्जलयः प्रणेमुः॥—कुमार ७।४५
—कम्पेन मूर्ध्नः शतपत्रयोनिं वाचा हरिं वृत्रहणं स्मितेन।
आलोकमात्रेण सुरानशेषान्सम्भावयामास यथाप्रधानम्॥—कुमार ७।४६

३ महाराजेनाभ्यनुज्ञातेच्छामि प्रियसखीमिव महाराजस्य कीर्तिं सुरलोकं नेतुम्।
—विक्रम अंक १ पृ ११४

४ आर्यस्य मधुरालापजनितो विश्रम्भो मां मन्त्रयते कतम आर्येण राजर्षेर्वंशोऽलङ्क्रियते कतमो वा विरहपर्युत्सुकजनः कृतो देशः किं निमित्तं वा सुकुमारतरोऽपि तपोवनगमनपरिश्रमस्यात्मा पदमुपनीतः। —अभि अंक १ पृ १८

दाक्षिण्य अर्थात् एक ही समय कई स्त्रियों के साथ प्रेम निबाहना कवि के नायकों का गुणगान था[1]। ऐसे भी व्यक्ति थे जिनपर स्त्रियों के कटाक्ष का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था[2]। परन्तु इस प्रकार के त्यागी तपस्वी कम ही थे। राजे-महाराज प्राय: अपनी रानियों से सन्तोष करते थे परन्तु कुछ ऐसे भी थे जो अवसर पड़ने पर दूती नौकरानी किसी को भी न छोड़ते थे[3]। अग्निवर्ण और अग्निमित्र दोनों ही ऐसे रसिक थे। नौकरानियाँ रानियों के डर से मिलन के अवसर पर भी काँपती रहती थीं[4]। एक के पश्चात् दूसरी दूसरी के पश्चात् तीसरी शादी करते जाना कामुकता का ही लक्षण था। अग्निमित्र का बेटा यज्ञ में विजयी हुआ था अत: वह अवश्य ही काफी अवस्था का होगा। मालविका उसके सम्मुख बहुत छोटी थी। दुष्यन्त और शकुन्तला में भी यही भेद था। अत: काम और विलास ही पुरुषों के गुण थे। पत्नी और प्रेमिकाओं के पैर में महावर लगाना[5] रानियों या पत्नियों को धोखा देना[6] चोरी पकड़े जाने पर तरह-तरह के बहाने बनाना[7] उनके लिए साधारण बात थी। पुत्र उत्पन्न हो जाने पर स्त्रियों को वृद्ध समझ कर पुरुष उपेक्षा करने लगते थे ('मा वृद्धा मां राजा परिहरिष्यतीति'—विक्रम पृ २४४)। कालिदास ने काम-भावनाओं को अपने ग्रन्थों में खूब अच्छी तरह

---

१ दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि नायकानां कुलव्रतम्।
तन्मे दीर्घाक्षि ये प्राणास्ते त्वदाशानिबन्धना: ॥ —माल ४।१४

२. पुरा स दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिश्चरन्मृगै: सार्धमृषिर्मघोना।
समाधिभीतेन किलोपनीत: पञ्चाप्सरोयौवनकूटबन्धम् ॥ —रघु १३।३९

३. स्वल्पपुण्यशयनीयलतागृहमेत्य दूतिकृतमार्गदर्शन:।
अन्वभूत्परिजनाङ्गनारतं सोऽवरोधभयवेपथूत्तरम् ॥ —रघु १९।२३
—संज्ञा वा उपचार: परपरिजने सामन्तं वक्तुमर्थं न शक्यते।
—माल पृ ३३५

४ देखिए, पादटिप्पणी नं ३

५. स स्वयं चरणरागमादधे योषितां न च तथा समाहित:।
लोभ्यमाननयन: श्लथांशुकैर्मेखलागुणपदैर्नितम्बिभि: ॥ —रघु १९।२६

६. मित्रकृत्यमपदिश्य पार्श्वत: प्रस्थितं तमनवस्थितं प्रिया:।
विद्म हे शठ पलायनच्छलान्यञ्जसेति रुरुधु: कचग्रहै: ॥ —रघु १९।३१

७ अविश्वसनीया: पुरुषा:। सुन्दरि, न मे मालविकया प्रयोजनम्।
मया त्वं चिरयसीति यथाकथंचिदात्मा विनोदित:।
—माल अंक ३ पृ ३१

दिखाया है[1]। यह समस्त कृतियाँ साक्षी हैं कि सचाई, ईमानदारी त्याग आदि पहले महान् पुरुषों में ही था। आम जनता का जीवन इन सबसे रहित था। साधारण जनता की दृष्टि में नैतिकता क्या वस्तु थी? यह इन मुहावरों के द्वारा व्यक्त होती है जो कवि के ग्रन्थों में सर्वत्र बिखरे हुए हैं— आपकी आँखों की मधु तो आ गई पर मधुमक्खी भी पास बैठी है, इसलिए सावधानी से काम कीजिएगा।[2] विदूषक की अग्निमित्र से यह उक्ति उसके (राजा) चरित्र की चंचलता व्यक्त करती है—'हाथी जब कमलिनी को देख लेता है तब उसे जल में छिपे हुए घड़ियाल नहीं सूझते हैं'[3] अग्निमित्र का इरावती के आ जाने का भय दिखाने पर भी कहना उसकी धृष्टता का परिचायक है। इरावती की सखी का 'हम सखी थीं आम की कोंपल तोड़ने और काट लिया चींटियों ने'[4] रानी से कहना अग्निमित्र के पकड़े जाने का साक्षी है। परन्तु पकड़े जाने पर भी विदूषक का सुझाना कि कुछ तो बात बनाइए चोरी करते हुए पकड़ा जाता चोर भी यह कह देता है कि मैं चोरी करने के लिए सेंध थोड़े ही बना रहा था मैं देखना चाहता था कि मुझे भीत तोड़ने की विद्या भली प्रकार आई कि नहीं?[5] इसी प्रकार 'कहीं भला पृथ्वी पर पानी बरसाने के लिए देव मेंढकों की टर-टर की बाट थोड़े ही जोहते हैं'[6] आदि प्रमाणित करते हैं कि आम जनता का यही हाल था। नैतिकता का स्तर बहुत गिर चुका था। व्यभिचार बुरी तरह था इसकी अभिव्यञ्जना इससे होती है ('स सैन्यपरिभोगेण गजदानसुगन्धिना कावेरीं सरितां पत्युः शङ्कनीयामिवाकरोत्' —रघु ४।४५)। इस प्रकार का एक उदाहरण और भी है—जब मछली मछुए के हाथ से निकल कर पानी में भाग जाती

---

१ देखिए, अध्याय 'गृहस्थ जीवन' और 'परिशिष्ट २ कालिदास के समय में काम-भावना।

२ उपस्थितं नयनमधु सन्निहितमक्षिका च। तदप्रमत्तः इदानीं पश्य।
—माल अंक २ पृ २८२

३ न हि कमलिनीं दृष्ट्वा ग्राहमवेक्षते मतंगजः।—माल अंक १ पृ २८८

४ नवचूतकमनु भट्टिनी चूताङ्कुरं गृह्णन्त्यो पिपीलिकाभिर्दष्टम्।
—माल अंक १ पृ १ ?

५ भो अतिपरस्य किमप्युत्तरम्। कर्मगृहीतेनापि कुम्भीलकेन सन्धिच्छेदे शिक्षितोऽस्मीति वक्तव्यं भवति।—माल अंक १ पृ ११

६ दर्दुरा व्याहरन्तीति किं देवः पृथिव्यां वर्षितुं विरमति।
—माल अंक ४ ११४

है तब वह भी निराश होकर नहीं कहता है—'या मुझे पुण्य ही होगा'।[1]

राजा के अफसर आदि एक ओर कर्तव्य-पालन का भी दृष्टान्त रखते हैं और दूसरी ओर सिपाही आदि किस प्रकार घूस लेते हैं घूस लिए पैसों की शराब पी डालते हैं इसका भी उदाहरण प्रस्तुत करते हैं[2]। उस समय लूट मार, चोरी आदि खूब होती थी[3]। चोरी के अपराध में फाँसी की सजा भी दे दी जाती थी या कुत्तों से नुचवा दिया जाता था (अभि अंक ६)।

पुरुषों की तरह स्त्रियों के भी दोनों पक्ष दिखाए गए हैं। एक ओर पतिव्रता और सती नारियों के वृत्तान्त हैं दूसरी ओर स्त्रियों की कामुकता भी चित्रित की गई है। अभिसारिका[4]

---

१ भिन्नहृस्ते मत्स्ये पक्वामिते निर्विण्णो धीवरो भवति वत्स धर्मो मे भविष्य-तीति। —विक्रम अंक ३ पृ २ १

२ भट्टारक—इतोऽर्धं युष्माकं सुमनो मूल्यं भवतु।
जानुक—एतावद्युज्यते। श्याल—धीवर महत्तरस्त्वं प्रियवयस्क इदानी मे संवृत्त। कादम्बरीसाक्षिकमस्माकं प्रथमसौहृदमिष्यते। तच्छौण्डिकापणमेव गच्छाम। —अभि अंक ६ प ११

३ अभि अंक ६ 'कुम्भीरक' शब्द का प्रयोग पृ ९७ माल अंक ३ पृ ११ कुम्भीलकेन सन्धिच्छेदे शिक्षितोऽस्मीति। —विक्रम पृ १८९
—कुम्भीरकैः परिहृतमुखान्तरसमापाणिमभिविविधवर्ईककलापधारि।
कौरवनारिभिनरत्नविरोधकामामापरवुष्यसहमाविरमूतनीकम्॥
—माघ ११।

४ अपि रोचते तेऽयं समाम्नानामरणभूषितो नीलांशुकपरिग्रहोऽभिसारिकावेष।
—अभि अंक ३ पृ १६८
—उदितप्रभावक्षितयामभूमन प्रयान्ति रागादभिसारिका स्त्रियः।
—ऋतु १।१
—यत्रौषधिप्रकाशेन नक्तं दर्शितसञ्चराः।
अनभिज्ञास्तमिस्राणां दुर्दिनेष्वभिसारिकाः॥ —कुमार ६।४३
—निशासु भास्वत्कलनूपुराणां यः सञ्चरोऽभूदभिसारिकाणाम्।
—रघु १६।१२
—कृष्णपक्षनिशीथेऽपि तस्मिन्सन्मार्गयोगिनी।
भेजेऽभिसारिकावृत्ति जयश्रीर्वीरगामिनी॥ —रघु १७।६६

वेश्या[1] वारांगना[2] नर्तकी[3] आदि का सूक्ष्म वर्णन स्त्रियों की बस्तियों का परिचय देता है। राजा का मुख आसव पीना रात्रि में कामी रति करके कि सन्तुष्ट हो जाने पर उन्हें छोड़ न दे[4] पति के सोने का आयास पाकर उसे करधनी से बाँध देना[5] पहाड़ की गुफाओं में पण्य स्त्रियों के साथ यौवन का उपभोग[6] छुप-छिप कर घनी अँधेरी रात में प्रेमी से मिलने जाना[7] आदि स्त्रियों की विलास-प्रियता की अभिव्यक्ति है। परकीया का भी प्रसंग इसी मनोविकृति का द्योतक है[8]।

---

१ यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ॥ —पूर्वमेघ २७
—वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू-
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान् ॥ —पूर्वमेघ ३६

२. विभिन्नवैदूर्यनिभैस्तृणांकुरैः समाचिता प्रोत्थितकन्दलीदलैः ।
विभाति शुक्लेतररत्नभूषिता वरांगनेव क्षितिरिन्द्रगोपकैः ॥ —ऋतु २।५
—मुखश्रवा मंगलतूर्यनिस्वना प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम् ।
—रघु ३।१९
—यस्मिन्महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम् ।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम् ॥
—रघु ६।७५

३ स स्वयं प्रहतपुष्करः कृती लोलमाल्यवलयो हरन्मनः ।
नर्तकीरभिनयातिलंघिनीः पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत् ॥ —रघु १९।१४
—सौख्यमेत्य मृदुवीणापरिगृहीतनर्तकीमुखमासु तद्वपु ।
वर्तते स्म स कथञ्चिदालिखन्नंगुलीक्षरणसन्नवर्तिकः ॥—रघु १९।१९

४ तस्य सावरणदृष्टसंधयः काम्यवस्तुषु नवेषु संगिनः ।
वल्लभाभिरुपसृत्य चक्रिरे सामिभुक्तविषयाः समागमाः ॥ —रघु १९।१६

५. अंगुलीकिसलयाग्रतर्जनं भ्रूविभंगकुटिलं च वीक्षितम् ।
मेखलाभिरसकृच्च बन्धनं वञ्चयन्प्रणयिनीरवाप सः ॥ – रघु १९।१७

६ देखिए, पादटिप्पणी नं १ —पूर्वमेघ २७

७ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ४ —ऋतु २।१

८. निद्रावशेन भवताप्यनवेक्ष्यमाणा पर्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव ।
लक्ष्मीर्विनोदयति येन दिगन्तलम्बी सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः ॥
—रघु ५।६७

प्रेमी प्रेमिकाओं के मिलन के संकेत-गृह[1] होते थे। दूतियाँ दोनों का मिलन करवाने में सहायक होती थीं[2]। मालविका और अग्निमित्र का मिलन बकुलावलिका ने कराया था। रानी धारिणी अशोक के फूलने के उत्सव पर स्वयं महाराज से कहती है कि लीजिए, आर्यपुत्र अशोक का ऐसा संकेत-गृह आपके लिए बना दिया है जहाँ आप युवतियों से मिल सकते हैं[3]। दूतियाँ ही प्रेम का संदेश एक-दूसरे के पास ले जाती थीं[4]। वे ही मिल के आकर विवाह ठीक करवाती थीं[5]। वे ही सहायिका थीं[6] और वे ही मंडा फोड़ने वाली थीं[7]।

प्रेम के सम्बन्ध में न केवल कवि ने प्रेम-चर्चा का परिचय दिया अपितु इस व्यापार की छोटी-छोटी बात बताना भी न भूला। अभिसारिका नीलांशुक परिधान पहनती थी[8]। प्रेमी और प्रेमिका दोनों ही मिलने के लिए अधीर रहते थे। मिलने में विघ्न पड़ने पर सौगुना चाव बढ़ जाता था[9]। प्रेमिका के नूपुर की

---

१ देखिए, अध्याय 'विवाह' परिशिष्ट २ कालिदास के समय में काम-भावना।

२. तेन दूतिविदितं निषेदुषा पृष्ठतः सुरतवाररात्रिषु।
शुश्रुवे प्रियजनस्य कातरं विप्रलम्भपरिशंकिनो वचः ॥ —रघु १९।१८

३ आर्यपुत्र । एष तेऽस्माभिस्तस्यां बन्धनस्थायास्त्वयाशोक संकेतगृहं कल्पितं ।
—माल अंक ४ पृष्ठ १४४

४ तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः ।
प्रवालशोभा इव पादपानां शृंगारचेष्टा विविधा बभूवुः ॥ —रघु ६।१२

५. प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतिसंदर्शिताभ्यः समधिकतररूपाः शुद्धसंतानकामैः ।
अधिविविदुरमात्यैराहृतास्तस्य यूनः प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ राजकन्याः ॥
—रघु १८।५३

६ मायकमान्तरं प्रस्तुतेन प्रत्यासन्नमाने दत्तपूर्त्तीरेण ।
दासनैनेयं स्थापिता नौ निदेशे स्थाने प्राप्ता कामिना दूत्यधीना ॥
—माल ३।१४

७ संगमाय निशि गूढचारिणं चारदूतिकथितं पुरोगता ।
वंचयिष्यसि कुतस्तमोवृतः कामुकेति चकृषुस्तमंगनाः ॥ —रघु १९।३३

८ हला चित्रलेखे अपि रोचते तेऽयं ममाभरणभूषितो नीलांशुकपरिग्रहोऽभिसारिकावेषः । —विक्रम अंक ३ पृष्ठ १९८

९ नद्या इव प्रवाहो विषमशिलासंकटस्खलितवेगः ।
विघ्नितसमागमसुखो मनसिशयः शतगुणी भवति ॥ —विक्रम ३।८

चाह करना, पति के सुख के लिए सर्वस्व त्याग को प्रस्तुत होना, पति की मृत्यु के बाद सती होने की आकांक्षा रखना स्त्रियों के उज्ज्वल चरित्र के साक्षी हैं[1]। पति की सेवा कर स्त्री अपने पति को वश में कर लेती थी। स्त्रियों की सहनशीलता पृथ्वी के समान थी[2]।

---

१ देखिए, अध्याय 'गृहस्थ जीवन'। इसकी विशद विवेचना की जा चुकी है।

२ महासारप्रसवयो सदृशक्षमयोर्द्वयोः ।
धारिणीभूतधारिण्योर्भव भर्ता शरच्छतम् ॥ —माल १।१४

दसवाँ अध्याय

ललितकला

भारत के प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारों ने अपनी सात्विक सुकुमार और उत्प्रेरक भावनाओं को कागज धातु प्रस्तर आदि के माध्यम से साकार कर न केवल अपनी कला एवं प्रतिभा का ही परिचय दिया अपितु यह भी प्रमाणित कर दिया कि अन्तर्भावनाओं के विकास एवं स्थैर्य के लिए अमुक प्रकार का ही अवलंबन उपयुक्त हो ऐसा सर्वथा सत्य नहीं।

कला की उत्कृष्ट भावना एवं आन्तरिक उदात्त प्रेरणा किसी भी उपकरण द्वारा अभिव्यक्त की जा सकती है। पार्थिव द्रव्यों में कला ही सौन्दर्य एवं सजीवता की सृष्टि करती है। दूसरे शब्दों में सौन्दर्य-सृष्टि अथवा भावनाओं की सजीव साकार और मौलिक अभिव्यक्ति ही कला है।

अतः कला ललित है। लालित्य-प्रधान होने के कारण ही ललित इसकी संज्ञा हुई। स्वयं कालिदास ने सभी प्रकार की कलाओं को ललितकला कहा है। अवश्य ही कवि का आशय इस शब्द से काव्य संगीत नृत्य अभिनय आदि कलाओं से होगा। मालविका के नृत्य के सम्बन्ध में भी ललित शब्द का उपयोग किया गया है[2]। ललित की तरह शिल्प शब्द भी इसी आशय के लिए कवि ने प्रयोग किया है।

विद्वानों की एकसम्मति के अनुसार काव्य संगीत चित्रकला अभिनय मूर्तिकला वास्तुकला आदि ललित कलाओं के भेद हैं। परन्तु यह सब माध्यम की विभिन्नता के कारण ही है। वस्तुतः कला अखण्ड तथा अभेद्य है।

---

१ गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ । —रघु ८।६७

२ अव्याजसुन्दरीं तां विज्ञानेन ललितेन योजयता ।
परिकल्पितो विधात्रा बाणः कामस्य विषदिग्धः ॥ —माल २।११

३ भो वयस्य न केवलं रूपे शिल्पेऽप्यद्वितीया मालविका ।

ललित कलाएँ पाँच मानी जाती हैं—काव्य संगीत चित्रकला मूर्तिकला और वास्तुकला। इनमें काव्यकला सर्वोत्तम समझी जाती है और वास्तुकला सबसे निकृष्ट। इनका इसी क्रम में आगे वर्णन किया जायगा।

काव्यकला—किसी गुण या कौशल के कारण जब किसी वस्तु में विशेष उपयोगिता और सौन्दर्य आ जाता है तब वह वस्तु कलात्मक हो जाती है। ललितकला लालित्य के कारण ही उपयोगी कला से श्रेष्ठ मानी जाती है और ललित कलाओं में काव्यकला सर्वोच्च।

मेघदूत-सा सुन्दर काव्य शकुन्तला-सा ललित-लावण्यपूर्ण नाटक इसका स्पष्ट प्रमाण है कि जिस समय कालिदास ने अपने काव्य एवं नाटकों की रचना की उस समय की जनता में इनके प्रति यथेष्ट परिष्कृत रुचि होगी। रुचि को विकसित करने के लिए ही कवि ने इन शब्दों का प्रयोग किया है कि नए-पुराने पन के भेद भाव को छोड़कर वास्तविक महत्त्व और गुण की ओर ध्यान देकर प्रत्येक के गुण को ग्रहण करना चाहिए[1]।

कवि के समस्त काव्य एवं नाटक काव्यकला के चरम आदर्श हैं। शकुन्तला का छन्द में प्रणयावस्था का संकेत देना मालविका का एक छन्द में ही अपने प्रणय को व्यक्त करना वैतालिका का अलबत्त राजा की स्तुति करना इस बात के परिचायक हैं कि जनता की प्रवृत्ति काव्योन्मुख थी।

नाट्यकला—'काव्येषु नाटकं रम्यम्' और 'नाटकान्तं कवित्वम्' किस जनसमुदाय से छिपा नहीं है। कवि द्वारा रचित नाटक नाट्यकला की चरम विकसित अवस्था को ही व्यक्त नहीं करते अपितु तत्कालीन समाज नाटक देखने का कितना शौकीन था इसकी भी अभिव्यक्ति करते हैं।

विवाह-संस्कार की समाप्ति पर आनन्द एवं उल्लास को प्रकट करने के लिए नाटक खेला जाता था। अथवा नाटक के ही सदृश हावभाव और गुरमादि के द्वारा कुछ अभिनय किया जाता था। इसमें राग रस वृत्ति आदि का सुन्दर सामञ्जस्य रहता था[2]। इसी प्रकार वसन्तोत्सव पर भी नाटक

---

१ पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥ —माल १।२

२ तौ संधिषु व्यञ्जितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम्।
अपश्यतामप्सरसां मुहूर्तं प्रयोगमाद्यं ललिताङ्गहारम्॥ —कुमार ७।९१

खेला जाता था। मालविकाग्निमित्र वसन्तोत्सव पर ही खेला गया था[1]।

इसी प्रकार भरतमुनि प्रणीत नाटक में उर्वशी, मेनका आदि का अभिनय करना प्रमाण है कि समय-समय पर नाटक खेले जाते थे। नाटक खेलना ही केवल मनोरंजन की वस्तु न था। तत्त्व और गुणों की दृष्टि से इसका उत्तम होना, विद्वानों की प्रशंसा प्राप्त करना[2] इसकी साहित्यिक उपादेयता को व्यक्त करता है।

नाट्यकला सर्वमान्य कला मानी जाती थी। आचार्य गणदास का कथन 'यों तो सभी अपनी-अपनी विद्या पर अभिमान करते हैं पर हमारा नाट्यकला पर अभिमान मिथ्या नहीं है' स्पष्ट कर देता है कि मनुष्य पृथक्-पृथक् विद्या एवं कला में सिद्धहस्त होते थे पर नाट्यकला का विशेष आदर था। 'नाटक मुनियों के नेत्रों को सुन्दर लगने वाला यज्ञ है। यही एक ऐसा उत्सव है जिसमें सब मनुष्यों को चाहे वे किसी भी रुचि के हों आनन्द प्राप्त होता है'[3]। आदि नाट्यप्रशस्तियाँ नाट्यकला की महत्ता को प्रकाशित करती हैं।

योग्य गुरु से विद्या सीखना, सिखाना, राजा-रानी का सम्मान प्राप्त करना नाट्यकला के प्रति विशेष आदरभाव व्यक्त करता है। आचार्य गणदास और हरदत्त दोनों का राजा को प्राश्निक बनाने को प्रस्तुत होना, राजा का इस कला में निष्णात होना बताता है। राज्य द्वारा कलाकारों विशेषकर नाट्यकला को विशेष संरक्षण प्राप्त था। यह गणदास के कथन 'मैंने नाट्यकला की शिक्षा बड़े योग्य गुरु से ली है, मैंने नाट्यकला के व्यावहारिक पाठ भी दिए और उसमें देव और देवी का कृपापात्र भी रहा' से परिपुष्ट हो जाता है[4]।

स्त्री और पुरुष दोनों ही समान रूप से इस कला के मर्मज्ञ थे। आचार्य प्रथम राजा से ही निर्णय करने के लिए कहते हैं। परन्तु अवश्य ही राजा उन

---

१ अभिहितोऽस्मि विद्वत्परिषदा कालिदासग्रथितवस्तु मालविकाग्निमित्रं नाम नाटकमस्मिन् वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति। —माल० अंक १ पृ० २११

२ आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥ —अभि० १।२

३ देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्॥ — माल० १।४

४ मया सुतीर्थादभिनयविद्या शिक्षिता। दत्तप्रयोगश्चास्मि। देवेन देव्या च परिगृहीतः। —माल० अंक १ पृ० २७१

शब्द प्रयुक्त किया है[1] और एक स्थान पर 'प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रम्'[2] कहकर अपनी सम्मति पूर्णतः व्यक्त कर दी है। इससे इतना अवश्य स्पष्ट है कि नाटक का स्वरूप और उसकी सफलता का आधार 'प्रयोग' ही था।

नाटक का स्वरूप में सत्व, रज, तम तीनों गुण तथा अनेक प्रकार के चरित होने के कारण तत्कालीन समाज के साथ इसका गाढ़ सम्बन्ध रहता था। समाज में भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्य रहते हैं अतः नाटक की इसी विविधता के कारण प्रत्येक की रुचि एवं प्रकृति इसमें परितोष प्राप्त करती थी[3]।

नाट्यकला का विकास—नाटक के सभी अंग तथा इसके अनेक पारिभाषिक शब्दों का कवि ने प्रयोग किया है। इस दृष्टि से नाटक में पाँचों सन्धियाँ, कैशिकी, आरभटी, सात्वती और भारती वृत्ति, शृंगार आदि रस, छलित, चतुष्पदादि राग तथा मधुराग विक्षेप और संस्कृत, प्राकृत भाषाओं सबका कितना महत्त्व था, स्वयं कालिदास इन सबको कितना मान देते थे, यह कुमारसम्भव में उनके द्वारा भलीभाँति व्यक्त कर दिया गया है[4]।

भरत मुनि-प्रणीत नाटक आठ रसों से परिपूर्ण था। इन्द्रादि देवता-गण और लोकपाल इसके ललित अभिनय को देखने के इच्छुक थे[5]। अतः नाटक [illegible]

---

१ देखिए, पिछले पृ. की पादटिप्पणी नं. ४, ५

—अहो प्रयोगाभ्यन्तरः प्रश्नः। —माल. अंक २ पृ. १८९

—देव मनीषिणामिदानीं प्रयोगमवलोकयितुं क्रियतां प्रसादः।

—माल. अंक २ पृ. १८७

—तदिदानीं कतमं प्रयोगमाश्रित्यैनमाराधयाम। —अभि. अंक १ पृ. ४

—अभ्यर्थयिष्ये प्रथममथाप्यतमभिज्ञानशाकुन्तलं

नामापूर्वनाटकं प्रयोगैरधिक्रियतामिति। —अभि. अंक १ पृ. ५

२ देखिए पिछले पृ. की पादटिप्पणी नं. २

३ त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्। —माल. १।४

४ द्विधा प्रयुक्तेन च वाङ्मयेन सरस्वती तन्मिथुनं नुनाव।
संस्कारपूतेन वरं वरेण्यं वधूं सुखग्राह्यनिबन्धनेन॥
—तौ सन्धिषु व्यञ्जितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम्।
अपश्यतामप्सरसां मुहूर्तं प्रयोगमाद्यं ललिताङ्गहारम्॥

—कुमार. ७।९० ९१

५ मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः॥ —विक्रम. २।१८

सैद्धान्तिक नहीं अपितु व्यावहारिक भी था। कवि का यह कथन इस सभा ने पुराने कवियों के बहुत से नाटक देखे हैं आज मैं इनको भी कालिदास-रचित *विक्रमोर्वशीय नामक एक नया त्रोटक दिखलाना चाहता हूँ* अतः समस्त अभिनेताओं को जाकर समझा दो कि अपना अभिनय बड़ी सावधानी से करें[१] भी इसी बात की पुष्टि करता है कि नाटक खेले जाते थे।

सैद्धान्तिक पक्ष में सन्धियाँ रस वृत्ति राग तथा संस्कारयुक्त भाषा का विशेष स्थान है। भाषा कितनी महत्त्वपूर्ण है, यह बहुधा कवि उपमा के द्वारा ही व्यक्त करता है। अतः संस्कारवती भाषा को कवि मान देता है[२]।

रंग—नाटक में सम्पूर्ण नाट्यगृह के लिए कवि ने 'रंग' शब्द का प्रयोग किया है[३]। इसमें रंगमंच अभिनेता दर्शकगण सभी आ जाते हैं।

प्रेक्षागृह—वह स्थान जहाँ नाटक खेला जाता था और संगीतादि का प्रदर्शन होता था प्रेक्षागृह कहलाता था[४]।

नेपथ्य—वह स्थान जहाँ पात्रों को सजाकर अभिनय के लिए प्रस्तुत किया जाता था नेपथ्य कहलाता था। आजकल इसके लिए ग्रीन रूम शब्द का प्रयोग किया जाता है। अभिज्ञानशाकुन्तल में सूत्रधार का कथन— 'आर्ये यदि शृंगार हो चुका हो तो यहाँ चली आओ" इसका स्पष्ट प्रमाण है[५]। इसी प्रकार जब तक नृत्य प्रारम्भ नहीं हुआ मालविका तिरस्करिणी के पीछे नेपथ्यगता

---

१ परिषदेषा पूर्वेषां कवीनां दृष्टरसप्रबन्धा। अहमस्यां कालिदासग्रथितवस्तुना नवेन त्रोटकेनोपस्थास्ये। तदुच्यतां पात्रवर्गः स्वेषु पाठेष्ववहितैर्भवितव्यमिति।
—विक्रम अंक १ पृ १११

२ स्वरसंस्कारवत्यासौ पुत्राभ्यामथ सीतया।
ऋचेवोदर्चिषं सूर्यं रामं मुनिरपूजयत्॥ —रघु १५।७६
—प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च॥
—कुमार १।२८

३ अहो रागनिविष्टचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंगः।—अभि अंक १ प ५

४ तेन हि द्वावपि वर्गौ प्रेक्षागृहे संगीतरचनां कृत्वा तत्रभवतो दूतं प्रेषयतम्।
—माल अंक १ पृ २७८

५ सूत्रधार (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य)—आर्ये यदि नेपथ्यविधानमवसितम् इतस्तावदागम्यताम्। —अभि अंक १ पृ ३

थी और राजा उसे देखने को इतना अधीर था कि चाहता था पर्दा हटा दूँ[1]। नेपथ्य का दीर्घ रूप में प्रयोग परिव्राजिका कथन से भी पुष्ट होता है[2]।

तिरस्करिणी—परदे के लिए कवि ने तिरस्करिणी शब्द का प्रयोग किया है,[3] अतः परदे का व्यवहार होता अवश्य था। श्री भगवतशरण उपाध्याय 'नेपथ्य परिगता' से रंगमंच सहित मानते हैं। 'संहर्तु' से उनका अनुमान है कि परदा समेटा जाता था। और एक से अधिक परदों का चलन था[4]। वैसे भी कवि के ग्रन्थों के वाक्यांशों से इसकी पुष्टि होती है। 'ततः प्रविशति आसनस्थो राजा'[5] का शब्दार्थ यही हुआ कि आसन पर बैठा हुआ राजा प्रवेश करता है। इसमें विरोधाभास है। आसन पर आसीन राजा प्रवेश नहीं कर सकता। अतः सिंहासन पर राजा को बैठाकर परदा हटा दिया जाता होगा। श्री काले का भी ऐसा ही अनुमान है[6] अतः परदा का अस्तित्व स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है।

एक प्रश्न और है—परदे अनेक थे अथवा एक। इसके सम्बन्ध में श्री काले और श्री भगवतशरण उपाध्याय का मत है कि अनेक थे[7]। परन्तु अनेक के इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। कालिदास के कुछ नाटक इतने लम्बे हैं कि एक रात में समस्त नाटक नहीं दिखाया जा सकता। हाँ सभी नाटक इतने लम्बे नहीं हैं कि जिनको एक रात में न दिखाया जा सके। मालविकाग्निमित्र तो बहुत ही छोटा है। गत वर्ष दिल्ली में अभिज्ञानशाकुन्तल का भी अभिनय एक बार में (एक रात से भी कम में) किया जा चुका है। फिर भी राजा के प्रत्येक काम करने का समय निश्चित था ऐसा स्पष्ट किया जा चुका है। अतः सम्पूर्ण नाटक के स्थान पर एक अंक ही प्रतिदिन दिखाया जाता होगा ऐसी ही सम्भावना है। कालिदास के सम्पूर्ण नाटकों में बीच में कहीं पटाक्षेप (ड्राप सीन) नहीं है।

---

१ नेपथ्य परिगतायाश्चक्षुर्दर्शनसमुत्सुकं तस्याः।
संहर्तुमधीरतया व्यवसितमिव मे तिरस्करिणीम् ॥ —माल २/१

२ सर्वाङ्गसौष्ठवाभिव्यक्तये विगतनेपथ्यो पात्रयो प्रवेशोऽस्तु।
—माल अंक १ पृ २७

३ देखिए, पादटिप्पणी नं १

४ देखिए, 'इण्डिया इन कालिदास' पृ २१४

५ माल अंक २ पृ २८१

६ भगवतशरण उपाध्याय 'इण्डिया इन कालिदास' पृ २२४

७ देखिए पादटिप्पणी नं ६

इसके अतिरिक्त एक अंक में आजकल की तरह कई दृश्य भी नहीं हैं। एक अंक अखण्ड है और प्रत्येक अंक के पश्चात् 'इति निष्क्रान्ता सर्वे' सरीखे वाक्यों का प्रयोग है। अतः एक परदे से भी काम चल सकता है।

रंगमञ्चीय परिधान (Stage Dresses)—भिन्न-भिन्न पात्रों के लिए भिन्न-भिन्न परिधान थे। कौशिकी का कथन 'मैं निर्णायक के अधिकार से कहती हूँ कि दोनों शिष्य सूक्ष्म परिधान में प्रवेश करें, जिससे उनका सर्वांग सौष्ठव भलीभाँति प्रकाशित हो सके'[1] प्रमाणित करता है, कि यह विशिष्ट परिधान नृत्य का प्रदर्शन करने वाले को दिया जाता होगा। इसी प्रकार कवि ने एक स्थान पर अभिसारिका-परिधान को स्पष्ट किया है कि वह नीलांशुक धारण करती है और शरीर पर एक-दो आभूषण होते हैं[2]। जिससे किसी प्रकार का शब्द उत्पन्न हो अथवा चमक पैदा हो वह उन आभूषणों का परित्याग कर देती है। आने जाने वाले पहचानने न पावें इसके लिए उसे काला वस्त्र धारण करना होता है। इसी प्रकार आखेटक वेश[3] का संकेत भी मिलता है। अपनी अंगरक्षक मानिनी विरहिणी तपस्विनी व्रतनिरता आदि सभी की विभिन्न वेशभूषा पर प्रकाश डाला जा चुका है[4]। कंचुकी अपने वेश से पहचाना जाता था और मुनि वल्कल से। इस प्रकार सबका पृथक्-पृथक् परिधान था।

रंगमञ्च की तैयारी (Stage Preparation)—इसमें वास्तविक रूप से वस्तुओं का आयोजन नहीं किया जाता था। केवल अभिनय ही करके मुद्राओं आदि के द्वारा भाव की प्रतीति करा दी जाती थी। पात्रों के विभिन्न प्रकार के कर्म-व्यापार आंगिक चेष्टाओं द्वारा प्रदर्शित किए जाते थे। यथार्थ व्यापार के स्थान पर कवि ने *रूपयति* और *नाटयति*[5] शब्दों का प्रयोग किया है, जो इस कथन का पोषक है।

---

१ नियमाधिकारे ब्रवीमि। सर्वाङ्गसौष्ठवाभिव्यक्तये विगतनेपथ्ययोः पात्रयोः प्रवेशोऽस्तु। —माल अंक १ पृ २०९

२ एतस्मिन् विज्ञप्तेऽपि राजते तेऽयं समात्मामरणभूषितो नीलांशुकपरिग्रहोऽभिसारिकावेषः। —विक्रम अंक ३ पृ १९८

३ अपनयन्तु भवन्तो मृगयावेषम्। —अभि अंक २ पृ ३२

४ देखिए, अध्याय 'वेशभूषा'। उसकी वेशभूषा पर सविस्तर प्रकाश डाला जा चुका है।

५ इति शरसंधानं नाटयति। —अभि अंक १ पृ ७
—इति भूयो रथवेगं निरूपयति। —अभि अंक १ पृ ९

भूमिका—रूपसी की भूमिका में उर्वशी का आना और वारुणी की भूमिका में मनका का आना 'भूमिका' शब्द की अभिव्यक्ति कर देता है[1]। जो जिसका अभिनय करता था उसके लिए वह उसकी भूमिका में आया ऐसा कहा जाता था। अतः भूमिका पारिभाषिक शब्द है।

अभिनय—इसमें भावों की बहुत महत्ता दी जाती थी। मालविकाग्निमित्र 'भावाविव शरीरिणौ'[2] भावों की साकारता की प्रतीति करवाते हैं। मालविका की प्रशंसा करते समय परिव्राजिका भी यही कहती है—'अंगैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थ'[3]।

आंगिक सात्विक एवं वाचिक तीनों प्रकार के अभिनय थे[4] अथवा तीनों अभिनय के अंग थे। नृत्य के साथ ही कवि अभिनय को लेता है। इस पर नृत्यकला का वर्णन करते समय प्रकाश डाला जाएगा।

संगीत—नाटक में स्थान-स्थान पर संगीत का भी आयोजन किया जाता था। एक स्थान पर 'पंचांगाभिनय' का कवि ने निर्देश किया है। कदाचित् इसमें गीत वाद्य सात्विक वाचिक आंगिक पांच वस्तुओं से कवि का आशय है। मालविका का शर्मिष्ठा-कृत चतुष्पदी का छलिक इसकी पुष्टि करता है[5]। गीत के

—इति बृहद्वेधनं रूपयति। —अभि अंक १ पृ १२

—सर्वा उगन्धर्वा आकाशोत्पतनं रूपयन्ति। —विक्रम अंक १ पृ १५४

१ रूपसीभूमिकायां वर्तमानोर्वशी वारुणीभूमिकायां वर्तमानया मेनकया पृष्टा।
—विक्रम अंक १ पृ १९२

२ तावभिनयाचार्यौ परस्परजयैषिणौ।
त्वां द्रष्टुमुद्यतौ साक्षाद्भावाविव शरीरिणौ॥ —माल १।१

३ माल २।८

४ अंगसत्त्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन्।
स प्रयोगनिपुणैः प्रयोक्तृभिः संजघर्ष सह मित्रसंनिधौ॥ —रघु १९।३६

५ इदानीमेव पंचांगाभिनयमुपदिश्य मया विश्रम्यतामित्यभिहिता दीर्घिका-वलोकनगवाक्षगता प्रवातसेवमाना तिष्ठति। —माल अंक १ पृ २५६

६ अंगैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव॥—माल २।८

सारा वातावरण शान्त एवं निस्तब्ध हो जाता था और सम्पूर्ण रंग चित्रलिखित हो जाता था[1]।

हास्य—नाटक नीरस न लगे इसलिए संगीत के साथ-साथ हास्य का भी आयोजन किया जाता था। विदूषक का यही महत्त्व था। इसके अतिरिक्त भी 'प्रमथमुखविकारैः हासयामास भूतम्'[2] पार्वती को हँसाने के लिए गणों ने तरह तरह के मुँह बनाए थे। अतः मुखमुद्रा के द्वारा हँसाना हास्य का संचार करना नाटक का आवश्यक अंग था।

रिहर्सल—नाटकाभिनय के पूर्व उसका अभ्यास (रिहर्सल) होता था। इस दिन मांगलिक उद्घाटनार्थ ब्राह्मण-भोज किया जाता था[3] ऐसा मालविका ग्निमित्र के द्वारा स्पष्ट हो जाता है।

रंगशाला के प्रथम उद्घाटन के अवसर पर ब्राह्मण-भोज एक निश्चित सामाजिक प्रथा का संकेत करता है। विदूषक की उक्ति 'जब पहले-पहल अपनी सिखाई हुई विद्या लोगों के आगे दिखाई जाती है तो सबसे पहले ब्राह्मण की पूजा करनी चाहिए और इसका दूसरा वाक्यांश 'महाब्राह्मण यह प्रथम नेपथ्य-ग्रहण नहीं है अन्यथा तुम्हारे जैसे दक्षिणा पर जीने वाले ब्राह्मण को हम अच्छी तरह पूजा करते' उसम सामाजिक प्रथा के होने का प्रतीक है[4]।

कवि के समय म अनेक प्रकार के नाटकों का चलन था। स्वयं कवि ने दो नाटक और एक त्रोटक लिखा है। इसी प्रकार कवि ने 'छलिक' शब्द का प्रयोग किया है। अनुमान है कि यह कोई प्राकृत नाटक होगा। छलिक का प्रयोग कठिन माना जाता था—छलिकं दुष्प्रयोज्यमुदाहरन्ति[5]।

---

१ अहो रागनिविष्टचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंगः।
—अभि अंक १ पृ ५

२ कुमार ७।९५

३ प्रथमोपदेशदर्शने प्रथमं ब्राह्मणस्य पूजा कर्तव्या।
—माल अंक २ पृ २८६

४ महाब्राह्मण ! न खलु प्रथमं नेपथ्यग्रहणमिदम्। अन्यथा कथं त्वां दक्षिणीयं नार्चयिष्याम। —माल अंक २ पृ २८६

५ देव शर्मिष्ठाया: कृतिरभिनवा चतुष्पदवस्तु।
तस्यास्तु छलिकप्रयोगमेकमना: श्रोतुमर्हति देव ॥—माल अंक २ पृ २८१

६ माल अंक १ पृ २७८

संगीत-कला

प्राचीन भारतीय दार्शनिकों का कहना है कि भाषा एवं संगीत एक ही विद्या के दो अंग हैं। संगीत एवं व्याकरण के तत्वसूत्र माहेश्वर सूत्र हैं। पाँच स्थानों से उच्चरित व्याकरण के पाँच शुद्ध स्वर अ इ उ ऋ लृ हैं। इनमें दो मिश्रित रूप हैं ए और ओ। दो अमिश्रित जोड़े हुए रूप हैं ऐ और औ। प्रथम तीन स्वरों (अ इ उ) के दीर्घ रूप भी हैं। इस प्रकार स्वर बारह हो जाते हैं।

संगीत के सात स्वरों में भी पाँच स्वर प्रधान और दो गौण हैं। प्रधान स्वरों के नाम मध्यम गान्धार, ऋषभ षड्ज एवं धैवत हैं। गौण स्वर पंचम एवं निषाद हैं। कोई-कोई धैवत और निषाद को गौण मानते हैं। शेष पाँच प्रधान हैं। इन सात स्वरों के अतिरिक्त दो और मिश्रित स्वर हैं उनके नाम 'काकली' और 'अन्तरस्वर' हैं। संगीत में इन मिश्रित स्वरों का नाम साधारण अर्थात् बीच का स्वर है। तीन अन्य स्वरों के एक-एक विकृत रूप हैं। इस तरह यहाँ भी स्वरों की संख्या बारह हो जाती है।

कालिदास ने नाट्यकला के समान ही संगीतकला को महत्त्व दिया है। ललितकला में जो स्थान संगीतकला को मिला वह मूर्तिकला वास्तुकला को नहीं। कवि ने ललित शब्द का उपयोग इस कला की अभिव्यक्ति के लिए अधिक किया है। इन्दुमती ललितकलाओं में अज की शिष्या थी[1]। अतः यहाँ संगीत और चित्रकला से ही कवि का आशय है। इसी प्रकार का संगीत के प्रति अभिव्यक्ति का एक उदाहरण मालविकाग्निमित्र में भी मिलता है[2]।

संगीतशास्त्र का नाट्यशास्त्र से कितना सम्बन्ध है, यह कभी दिखाया जा चुका है। वास्तव में नाट्य बिना संगीत के अधूरा ही है। संगीत के तीन भेद हैं—गीत वाद्य और नृत्य।

गीत—आजकल की तरह गीत के शास्त्रीय गीत और हल्के-फुल्के गाने दो भेद नहीं थे। कुछ पारिभाषिक शब्द जैसे ताल स्वर, उपगान मूर्च्छना आदि से ऐसा आभासित होता है कि रागबद्ध शास्त्रीय गीत तथा उत्सवों आदि पर गाए जाने वाले लोकगीत (जो बहुधा प्राकृत में होते थे) दो प्रकार के गीत

१ गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ। —रघु ८।६७
२ अव्याजसुन्दरीं तां विज्ञानेन ललितेन योजयता।
परिकल्पितो विधात्रा बाणः कामस्य विषदिग्धः॥ —माल० २।११

गीत म केवल कण्ठ-संगीत है, परन्तु संगीत में गीत के साथ वाद्यादि के रहने का अनुमान है, (पूर्वमेघ ६)। यह कवि के प्राकृतगीतों से स्पष्ट हो जाता है। मालविका के गीत में नृत्य का भी योग था[१]। यक्ष की पत्नी वीणा बजा-बजाकर पति के गुणों के गीत गाती थी[२]। आज भी दक्षिण-भारत में मद्रास की तरफ वीणा बजाकर गीत गाने का रिवाज है। वैसे भी कण्ठ-संगीत में पीछे-पीछे सारंगी और तानपूरा आजकल भी बजाया जाता है। उस समय भी गीत के साथ कोई-न कोई वाद्य बजाया जाता था। लोकगीत के वाद्यों में वंशी अपरिहार्य जान पड़ती है क्योंकि कवि ने अरण्य प्रदेशों के गीतों के साथ वंशवाद्य का वर्णन किया है[३]। वस्तुतः वंशी आज भी पहाड़ी देशों में अधिक प्रचलित है। प्राचीन काल में उन प्रदेशों का यह मुख्य वाद्य था यह कालिदास के उद्धरण से स्पष्ट है। दूसरी बात और भी महत्त्वपूर्ण है। वे वंशी वाद्य को 'तान' के रूप में प्रयोग करते थे और यह माना जाता था कि 'तान' का सच्चा रूप वंश वाद्य में ही साध्य है[४]। इसीलिए भरत ने तान को वंशी की ध्वनि में तलाश

---

१ कीचकैरन्ध्रभिहितवचनैः सूचित सम्यगङ्ग
पारम्पर्यो न्यसमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायोनिमृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव ॥ —माल. २।८

२ उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा। —उत्तरमेघ २६

३ सकीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम्।
शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः ॥ —रघु. २।१२

—शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः।
निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिः स्यात्
संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः ॥ —पूर्वमेघ ६

—यः पूरयन् कीचकरन्ध्रभागान् दरीमुखोत्थेन समीरणेन।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् ॥

—कुमार. १।८

४ तानो नाम स्वरान्तरसञ्चारी रागाभिव्यक्तिहेतुरेखापरनामा वंशवाद्य साध्यः प्रमाणभूतः स्वरविशेषः। टीका मल्लिनाथ—रघु. १।८

है। कवि ने मूर्च्छना शब्द का प्रयोग दो स्थानों पर किया है। कुमारसम्भव[1] तथा मेघदूत[2] में।

ताल—गाने बजाने में लगते हुए स्वरों के और बोलों के समय को मिलाने को ताल कहते हैं। ताल ताली बजा के बताया जाता है, इसी कारण इसको ताल की संज्ञा दी गई है। मेघदूत में यक्ष की पत्नी घुंघरुदार कंगन वाले हाथों से तालियाँ बजा-बजाकर मोर को नचाया करती थी[3]। इसमें ताल शब्द का प्रयोग कवि ने किया है और मल्लिनाथ ने 'ताली' का अर्थ करतलध्वनि किया है, जिसमें ताल के वास्तविक अर्थ की स्पष्ट प्रतीति होती है।

लय—एक मात्रा से दूसरी, दूसरी से तीसरी, तीसरी से चौथी मात्रा तक पहुँचने में जो बराबर-बराबर समय लगता है उसी को लय कहते हैं। लय तीन हैं। पहली लय की गति मन्द रहती है। दूसरी लय की गति पहली से दूनी रहती है, तीसरी की दूसरी से दूनी रहती है। मालविकाग्निमित्र में मालविका के नृत्य करते समय 'लय' का उपयोग कवि ने किया है।[4]

तान[5]—तान शब्द का अर्थ तानना या विस्तार करना है। तान स्वरों के उस समूह को कहते हैं जिनसे राग का विस्तार किया जाता है।—स्वयं कवि तान का यही अर्थ लेता है। प्राचीन काल में वीणा के वाद्य को तान के रूप में प्रयुक्त करते थे यह पीछे कहा जा चुका है।

उपगान[6]—गीत गाने के पूर्व स्वरालाप द्वारा राग का आवाहन करके राग का रूप स्पष्ट करते हैं। यही उपगान कहलाता है। इसमें ताल की आवश्यकता नहीं रहती पर स्वर ज्ञान अवश्य अच्छा होना चाहिए।

---

१ स प्रबुद्ध्यत पुष्करस्तोषित सारकुम्भकम्पाकरे समम्।
मूर्च्छनापरिगृहीतकैशिके किन्नरैरुपसि गीतमंगल।—कुमार ८।८५

२ तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचि
द्भूयो भूयः स्वयमपिकृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती॥—उत्तरमेघ २६

३ तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः।—उत्तरमेघ १९

४ अंगैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः।
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु॥—माल २।८

५ य पूरयन्कीचकरन्ध्रभागान्दरीमुखोत्थेन समीरणेन।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणाम् तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम्॥—कुमार १।८

६ मालविका उपगानं कृत्वा चतुष्पदवस्तु गायति।—माल अंक २ पृ २८२

वर्णपरिचय[1]—वर्ण संगीत का पारिभाषिक शब्द है। गाने-बजाने में स्वरों की जो चाल मिलती है, उसे वर्ण कहते हैं। यह चार प्रकार का होता है, स्थायी वर्ण—इसमें एक ही स्वर बार-बार गाया जाता है, जैसे स स स स रे रे रे रे आरोही वर्ण—इसमें स्वरों को नीचे से ऊपर ले जाया जाता है जैसे स रे ग म रे ग म प अवरोही वर्ण—इसमें स्वरों को ऊपर से नीचे ले जाया जाता है, जैसे स नी ध प नी ध प म संचारी वर्ण—इसमें उपरोक्त तीनों प्रकारों का मिश्रण हो जाता है।

परिचय का अर्थ अभ्यास है, जिसे आजकल 'रियाज' कहते हैं। अतः वर्ण परिचय का अर्थ स्वरों का अभ्यास है। कवि ने अभ्यास के ही अर्थ में सदा परिचय का उपयोग किया है[2]।

मायूरी और मार्जना[3]—मृदंग के विशेष-विशेष प्रकार के बजाने के लिए मायूरी और मार्जना शब्दों का प्रयोग होता है। श्री जी एन मजूमदार भी इनको विशेष-विशेष प्रकार के बजाने की रीति के लिए कवि ने प्रयुक्त किया ऐसा मानते हैं।

पादन्यास[4]—नृत्य करते समय विशेष प्रकार के पद धरने को पादन्यास कहा जाता है।

द्विपदिका[5]—एक विशेष प्रकार की मुद्रा है ऐसा श्री मजूमदार जी का कहना है, साथ में यह एक छन्द का भी नाम है।

—

१ कलविशुद्धाया गीते स्वरसंयोगः श्रूयते। जाने तत्रभवती हंसपदिका वर्णपरिचयं करोतीति। —अभि अंक ५ पृ ७६
२ देखिए, पादटिप्पणी नं १
—अभिनयान्परिचेतुमिवोद्यता मलयमारुतकम्पितपल्लवा।
अमदयत्सहकारलता मनः सकलिका कलिकामजितामपि ॥—रघु० ९।३३
३ जीमूतस्तनितविशङ्किभिर्मयूरैरुद्ग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य।
निर्ह्रादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था मायूरी मदयति मार्जना मनांसि ॥
—माल० १।२१
४ अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु। —माल० २।८
५ अनन्तरे द्विपदिकया दिशो अवलोक्य—विक्रम अंक ४ पृ २२२
नोट : पादटिप्पणी ३ व ४ के लिए देखिए लेख—Kalidas and Music by G. N. Majumdar — Annals of Bhandarkar Research Institute Vol. VII

शाखा[1]—नृत्य करते समय बाहुओं की एक विशेष मुद्रा का नाम है। बाहुओं को लहराकर भावनाओं को अभिव्यक्त किया जाता है।

सत्त्व[2]—स्वयं सात्त्विक भाव के सत्त्व को बोधा बूटी कहा है। अतः पारिभाषिक रूप में ही कवि ने इसको लिया है।

राग—राग शब्द का कवि ने अनेक स्थानों में प्रयोग किया है[3]। अनुमान अवश्य किया जाता है कि चूँकि उसने अन्य पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है और उनसे उसका संगीत-सम्बन्धि ज्ञान व्यक्त होता है, अतः अवश्य ही राग का आशय संगीत वाले राग से ही होगा।

भरत मुनि के अनुसार भैरव, कौशिक, हिंडोल, दीपक, सुराग और मेघ—६ विशेष राग हैं। कवि ने इनमें से कौशिक का विशेष रूप से निर्देश किया है[4]।

कैशिक—कैशिक राग बहुत सुन्दर राग माना जाता है। इसका उल्लेख रामायण में भी है जहाँ कैशिक राग में निष्णात के लिए कैशिकाचार्य शब्द का व्यवहार किया गया है। मंगल कौशिक सम्भवतः अत्यन्त प्राचीन कौशिक रागों में गिना जाता था परन्तु श्री के. वी. रामचन्द्रन के अनुसार यह कौशिक राग जिसका व्यवहार शिव को जगाने के लिए किया गया था 'ठौंठी' ढंग का था[5]।

सारंग—सारंग का अर्थ है हिरन और इसमें सारंग राग की भी प्रतिध्वनि होती है। अभिज्ञानशाकुन्तल के नटी के गाने के पश्चात् सूत्रधार कहता है

---

१ शाखायोनिम् दुर्लभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्ती।
भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव ॥ —माल. २।८

नोट देखिए मिस—Kalidas and Music by G. N. Majumdar—Annals of Bhandarkar Research Institute Vol. VIII

२ प्रतियोजयितव्यवल्लकीसमवस्थामथ सत्त्वविप्लवात्।
स निनाय नितान्तवत्सलः परिगृह्योचितमङ्कमङ्गनाम् ॥ —रघु. ८।४१
—वल्लकीपक्षे तु सत्त्वं तंत्रीभावभावात्मक वक्ताकाविशेष ॥—टीका मल्लिनाथ

३ अहो रागनिविष्टचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंगः।
—अभि. अंक १ पृ. ५
—तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः। —अभि. अंक १ पृ. ६
—स्त्री सन्निधि व्यभिचवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम्। —कुमार. ७।९१

४ स व्यवृणुत सत्त्वोचितं ... समम्।
मूर्च्छनापरिगृहीतकैशिके किन्नरैरुषसि गीतमङ्गलः ॥ —कुमार. ८।८५

५ Kalidas & Music by K. V. Ram Chandran, Coimbatore Journal of the U. P. Historical Society Volume XXII, Pts. I, II 1949

'तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः । (कण्व पश्य) 'एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ॥ इस श्लोक में हिरन के साथ-साथ सारंग राग का नाम भी ठीक बैठ जाता है । श्री के० सी० रामचन्द्रन इस सारंग से मतलब गौड़ सारंग से ले लेते हैं[१] ।

ललित[२]—ललित शृंगारी राग है और चतुरिका का गीत 'तुज्झ ण आणे हिअअं मम उण कामो दिवापि रत्तिम्मि' आर्या छन्द है जो गाया जाता था । अतः विरह के भावों की अभिव्यक्ति विरह के भावों की पूर्ति—इस पद का उपयुक्त अर्थ है । इसकी पुष्टि कुमारसम्भव के श्लोक से भी होती है,[३] जहाँ 'प्रतिबद्धरागम्' को मल्लिनाथ ने 'प्रतिनियमेन प्रवर्तितो वसन्तललिताविरागो यस्मिंस्तम्' कहकर स्पष्ट किया है । इसमें ललित के साथ वसन्त राग भी अभिव्यक्त हो जाता है ।

विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक में बहुसंख्यक प्राकृत अवतरण प्रक्षिप्त हैं, क्योंकि श्री पण्डित द्वारा संगृहीत आठ पाण्डुलिपियों में से ६ में वे नहीं हैं । फिर भी इनमें कई सांगीतिक रागों का निर्देश मिलता है । खण्डिता एक प्रकार का गीत है जिसको नृत्य द्वारा हाथ द्वारा तालों के साथ गाया जाता है । इसी प्रकार द्विपदी भी एक गान-प्रकार है । जम्भलिका अन्य प्रकार का गीत है । चच्चरी संगीत का एक राग है । चर्चरी भी एक राग है जिसको प्रेम के प्रभाव में पाया गाया जाता है । इसी प्रकार 'भिन्नक' राग विशेष का नाम है । वलन्तिका भी एक प्रकार का राग है जो विशेष भावुक भावव्यञ्जना के साथ गाया जाता है । ककुभ भी एक राग था ।

शास्त्रीय गीतों के अतिरिक्त लोकगीत भी थे जो विजय विवाहादि उत्सवों पर गाए जाते थे । कदाचित् ईख की छाया में बैठकर गाने की प्रथा भी थी[४] । इसी प्रकार जलक्रीडा के समय भी वे मनोरञ्जन के लिए गीत गाती थीं[५] । एक

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ५

२ तेन ह्यस्मान् उपन्यासपूर्वं विस्मय तावल्ललितपदबन्धनम् ।
—अभि० अंक ३ प० ४८

३ तौ सन्धिषु व्यञ्जितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम् ।
अपश्यतामप्सरसां मुहूर्तं प्रयोगमाद्यं ललिताङ्गहारम् ॥ —कुमार० ७।९१

४ इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम् ।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः ॥—रघु० ४।२०

५. तीरस्थलीबर्हिभिरुत्कलापैः प्रस्निग्धकेकैरभिनन्द्यमानम् ।
श्रोत्रेषु सम्मूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदङ्गवाद्यम् ॥ —रघु० १६।६४

बात विशेष रूप से कथनीय है—जहाँ कहीं भी गीत गाने का प्रसंग है वहाँ स्त्रियाँ ही गाती हुई दिखाई गई हैं यद्यपि संगीताचार्य पुरुष ही होते थे।

वाद्य-संगीत—प्राचीन वाद्यविद् जनों ने वाद्ययन्त्रों को चार भागों में विभक्त किया है (१) तन्त्रीगत (२) आनद्ध तथा अवनद्ध (३) सुषिर अर्थात् रन्ध्रयुक्त और (४) घन अर्थात् धातुनिर्मित। तन्त्रीगत में समस्त तारों के वाद्य आते हैं उदाहरणार्थ वीणा। अवनद्ध में मुरज पटह, पुष्कर आदि का नाम है। रन्ध्रयुक्त वाद्य वंशी आदि को सुषिर कहा जाता है। करताल आदि धातुमय वाद्यों को घनवाद्य कहते हैं।

अथवा लक्ष्य के अनुसार वाद्ययन्त्रों के चार भेद किए जा सकते हैं शुष्क गीतानुग नृत्तानुग और द्वयानुग। इनमें से कवि ने 'गीतानुग' शब्द का प्रयोग किया है और इसका इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है[२]।

तन्त्रीगत वाद्य—तन्त्रीगत वाद्ययन्त्र का साधारण नाम वीणा है। 'संगीत दामोदर' में उन्तीस प्रकार की वीणाओं का उल्लेख है। 'अलावनी ब्रह्मवीणा किन्नरी लघुकिन्नरी विपञ्ची वल्लकी ज्येष्ठा चित्रा घोषवती जया हस्तिका कुब्जिका कूर्मी सारंगी परिवादिनी त्रिशवी शतचन्द्री नकुलौष्ठी हंसवी औदुम्बरी पिनाकी निःशंक शुष्कल गदावारणहस्त रुद्र स्वरमण्डल कपिलास मधुस्यन्दी और घोष।

कवि ने साधारणतः 'वीणा' शब्द प्रयुक्त किया है[३] परन्तु 'संगीत दामोदर'

---

१ पुनश्चतुर्विधं वाद्यं लक्ष्ये लक्ष्यानुसारतः।
शुष्कं गीतानुगं नृत्तानुगमन्यद् द्वयानुगम्॥
गानुर्वाजितं वाद्य तत्र शुष्कं मयुच्यते।
सहिना गीतनृत्ताभ्यां तद्गोष्ठीत्युच्यते बुधैः॥ —संगीतरत्नाकर

२ घोषेषु सम्मूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदङ्गवाद्यम्। —रघु० १६।६४

३ अथ रोधसि दक्षिणोदधेः श्रितगोकर्णनिकेतमीश्वरम्।
उपवीणयितुं ययौ रवेरुदयावृत्तिपथेन नारदः॥ —रघु० ८।३३
—वाद्यैर्मन्द्रस्तनितमधुरं देवमुत्कंठिताभ्या
मिश्रक्लैर्मलकलमयाडीपिनिर्मुक्तमाम। —पूर्वमेघ ४६
—उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणाम्। —उत्तरमेघ २६
—वनिता रसनीकिलापरा वीणया मधुरवादितोरुका।
चिन्यवाय कनकेन वेत्रिणस्ते विजिह्मयना व्यनोमयन्॥ —रघु० १६।१६

के वीणा के प्रकारों के अनुसार उसने वल्लकी[1] और परिवादिनी[2] का भी उल्लेख किया है। एक स्थान पर 'तंत्री'[3] का भी प्रयोग मिलता है।

इनमें अवश्य ही थोड़ा-बहुत भेद रहता होगा। कवि ने जहाँ परिवादिनी और वल्लकी कहा है, वहाँ वे इसी विशेष प्रकार की वीणा का संकेत करती हैं। मल्लिनाथ परिवादिनी को वीणा ही कहते हैं। इसमें सात तार होते हैं। परिवादिनी वीणा। वीणा तु वल्लकी। विपंची सा तु तंत्रीभिः सप्तभिः परिवादिनी।

एओलियन हार्प (Aeolian Harp)—श्री के० वी० रामचन्द्रन के मतानुसार प्राचीन भारत, चीन और ग्रीस में एक विशेष प्रकार की वीणा प्रयोग की जाती थी जिसे वे 'एओलियन हार्प' कहते हैं। इस वीणा के तार पृथक्-पृथक् मोटाई के होते थे और वे ध्वारियों पर पृथक्-पृथक् स्वर में मिलाए जाते थे। वायु के चलने से उसके प्रवाह के अनुसार इनमें पृथक्-पृथक् स्वर उत्पन्न होते थे और इनके मिश्रण से दिव्य संगीत की उत्पत्ति होती थी। इसका उदाहरण आप माघ के निम्नलिखित श्लोक से देते हैं—

> रणद्भिराघट्टनया नभस्वतः पृथग्विभिन्नश्रुतिमंडलैः स्वरैः।
> स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनामवेक्षमाणा महतीं मुहुर्मुहुः॥

कवि कालिदास ने भी इसी 'एओलियन हार्प' का रघुवंश में नारद के वर्णन में संकेत किया है। वायु के चलने से तारों के कम्पन द्वारा उत्पन्न उस दिव्य संगीत को सुनकर इन्दुमती ने सदा के लिए आँखें बन्द कर ली थीं। प्राचीन संगीत-शास्त्र के अनुसार राग तीन ग्रामों में गाए जाते थे। षड्ज, गांधार और मध्यम। गांधार ग्राम केवल देवताओं द्वारा ही प्रयुक्त होता था अथवा किन्नर गन्धर्व द्वारा। इनके मतानुसार 'एओलियन हार्प' इसी ग्राम में मिली रहती थी जो मनुष्यों द्वारा न बजाई जाकर, वायु के चलने से आप ही बजती थी[4]।

---

१ प्रतियोजयितव्यवल्लकीसमवस्थामथ सत्वविप्लवात्।
स निनाय नितान्तवत्सलः परिगृह्योचितमंकमंगनाम्॥ —रघु ८।४१
—उपात्तवल्लकीकाकलीगीतनिस्वनैर्विनोद्यते पुष्प इवाथ मन्मथ। ऋतु १।८

२ भ्रमरैः कुसुमानुसारिभिः परिकीर्णा परिवादिनी मुनेः।
ददृशे पवनावलेपजं सृजती बाष्पमिवाञ्जनाविलम्॥ —रघु ८।३५

३ सुतंत्रिगीतं मदनस्य दीपनं शुचौ निशीथेऽनुभवन्ति कामिनः। —ऋतु १।३

४ Kalidas and Music by K. V. Ram Chandran
Journal of U. P. Historical Society Vol XXII Pts 1 2 (1949)

वीणा सदा गोद में रखकर बजाई जाती थी ऐसा कई स्थानों पर संकेत मिलता है[1]। स्वयं कवि वीणा बजाना जानता होगा अन्यथा 'इन्दुमती के मृत शरीर को अज ने उसी प्रकार अपनी गोद में रख लिया जैसे वीणा बजाने के लिए गोद में रख ली जाती है' यह उपमा उसे कभी न सूझती। इसी प्रकार वीणा के तारों के भीग जाने से उसकी ध्वनि में दोष उत्पन्न हो जाता है यह वह जानता होगा इसीलिए 'यक्ष-पत्नी अपने आँसुओं से भीगे वीणा के तारों को पोंछ लेती थी' ऐसा उसने कहा है[2]।

सुषिर अर्थात् रन्ध्रयुक्त वाद्य—इन वाद्यों में शंख, तूर्य तथा वंशी के समस्त प्रकार आते हैं। कवि ने सुषिरवाद्यों में वेणु[3], कीचक[4], शंख

---

१ उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणाम्। —उत्तरमेघ २६
—वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नखपदाङ्कितोरवः।
शिल्पकार्य उभयेन वेजितास्तं विजिह्मनयना व्यलोभयन्॥—रघु १९।३५
देखिए, पिछले पृ. की पादटिप्पणी नं. १ —रघु ८।४१
—अङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिते तस्य निन्यतुरशून्यतामुभे।
वल्लकी च हृदयंगमस्वना वल्गुवागपि च वामलोचना॥—रघु १९।१३

२ तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती। —उत्तरमेघ २६

३ वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नखपदाङ्कितोरवः। —रघु १९।३५

४ सकीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम्।
शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः॥ —रघु २।१२
—यः पूरयन् कीचकरन्ध्रभागान्दरीमुखोत्थेन समीरणेन।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम्॥
—कुमार १।८
—शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः .... —पूर्वमेघ ६

५ पुरोपकण्ठोपवनाश्रयाणां कलापिनामुद्धतनृत्यहेतौ।
प्रध्मातशङ्खे परितो दिगन्तांस्तूर्यस्वने मूर्च्छति मङ्गलार्थे॥ —रघु ६।९
—ततः प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे निवेश्य दध्मौ जलजं कुमारः —रघु ७।६३
—शङ्खस्वनाभिज्ञतया निवृत्तास्तं सन्नशत्रुं ददृशुः स्वयोधाः।
निमीलितानामिव पङ्कजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमाशशाङ्कम्॥
—रघु ७।६४
—प्रसन्नदिक्पांसुविविक्तवातं शङ्खस्वनानन्तरपुष्पवृष्टि।
शरीरिणां स्थावरजङ्गमानां सुखाय तज्जन्मदिनं बभूव॥ —कुमार १।२३

तूर्य[1] को दिया है। इसका संकेत ही उसके ग्रन्थ में मिलता है। कीचक के विषय में विस्तारपूर्वक वर्णन आगे किया जायगा।

शंख मांगलिक वाद्य है। विवाहादि मांगलिक अवसरों पर तथा रण में इसका उपयोग किया जाता था। तूर्य भी मांगलिक वाद्य है। श्री भगवत्शरण इसे मङ्गलवाद्यों में मानते हैं[2] पर कवि के ग्रन्थों में इसका संकेत नहीं है कि युद्ध के समय इसका प्रयोग किया जाता था।

एओलियन फ्लूट (Aeolian Flute)—एओलियन हार्प की तरह ही श्री के० सी० रामचन्द्रन् एओलियन फ्लूट की कल्पना करते हैं। यह वंशी भी पवन के प्रवाह से आप ही बजने लगती है, ऐसा उनका विचार है।

य: पूरयन् कीचकरन्ध्रभागान्दरीमुखोत्थेन समीरणेन।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम्॥
—कुमार १।८

टीकाकार के मतानुसार इसके दो अर्थ हो सकते हैं, या तो कीचकों में वंशस्वर अथवा तान का गुण संचित था अथवा किन्नरों के गीत के वे अनुगामी थे। श्री रामचन्द्रन् दूसरा अर्थ लेते हुए कहते हैं कि यह कीचक किन्नरों के गीत के अनुसार इधर-उधर तानादि लेते थे और यह वायु के चलने से आप ही उत्पन्न होता था। इसकी पुष्टि वे दूसरे श्लोक से करते हैं—

स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम्।
शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभि:॥ —रघु २।१२

---

१ सुखश्रवा मंगलतूर्यनिस्वना: प्रमोदनृत्यै: सह वारयोषिताम्।
न केवलं सद्मनि मागधीपते: पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि॥—रघु ३।१९
देखिए, पिछले पृ० की पादटिप्पणी नं० ४ —रघु ६।८
—पप्रमात्मन: सपदि सन्निकृष्टो मन्द्रध्वनिस्त्याजितयामतूर्य:।
प्रासादवातायनदृश्यवीचि: प्रबोधयत्यर्णव एव सुप्तम्॥ —रघु ६।५६
—पुत्रजन्मप्रवेश्यानां तूर्याणां तस्य पुंस्त्रिय:।
आरम्भं प्रथमं चक्रुर्देवदुन्दुभयो दिवि॥ —रघु १०।७६
—विग्नस्तूर्यभिरभिघ्नतूर्यस्त्रुतानो दिगन्त-
नाकोदर्द यान्तु बघूपु पुष्पमात्ममयेषा —रघु १६।८७
—गन्धोन्मादितमधुकरगीतैर्वाद्यमानैः परभृततूर्यैः प्रसृतपवनोद्वेल्लितपल्लव
निकरः सुललितविविधप्रकारं नृत्यति कल्पतरु:॥ —विक्रम ४।१२
२ 'इण्डिया इन कालिदास' पृ० २२७

जब दिलीप वन में प्रविष्ट हुए तब उन्होंने वनदेवताओं को उच्च स्वर से अपना यश गाते हुए तथा एओलियन फ्लूट (कीचक) को उनके संगीत का अनुकरण करते हुए सुना ।

यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि उद्गीयमान या उद्गास्यमान का *अब यही गान्धार ग्राम में गाना है, जिसका देवतागण ही प्रयोग करते थे* अथवा जिसका देवयोनि के किन्नर, गंधर्व उपयोग करते थे।

शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः ।
निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिः स्यात्
सङ्गीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः ॥—पूर्वमेघ ६

इन सभी श्लोकों में कीचक वंशी की तरह ही दिव्य ध्वनि करते हैं यह कवि द्वारा प्रदर्शित किया गया है। अन्तर यही है, वंशी मनुष्य द्वारा बजाई जाती है और कीचक वायु द्वारा स्वतः ध्वनि उत्पन्न करते हैं। अपेक्षा इसके कि यह कहा जाय कि वायु बाँसों में प्रविष्ट होकर सुन्दर ध्वनि उत्पन्न करती है, यह अधिक अच्छा है कि इसको एओलियन फ्लूट की संज्ञा दी जाय। डाक्टर कस्टर के मतानुसार यह एक विशेष प्रकार की लम्बाई का बाँस है जिसे एक ऊँचे पेड़ पर रख दिया जाता है। इसकी गाँठों पर छेद कर दिए जाते हैं। हवा के चलने पर इससे ऐसी सुन्दर और तेज ध्वनि उत्पन्न होती है कि वह बहुत दूर से भी सुनी जा सकती है। ग्यारहवीं शताब्दी की कविता 'अर्जुन-विवाह' में इसका प्रसंग है। जावा में आज भी यह एओलियन फ्लूट है और इसका नाम सुन्दरी है।

महाराज उदयन की घोषवती जब खो जाने के पश्चात् बाँसों के झुरमुट में पड़ी थी तब उस एओलियन हार्प और बाँसों ने मिलकर ऐसा सुन्दर संगीत उत्पन्न किया था कि उसे सुनकर तत्काल ही राजा ने उसे प्राप्त कर लिया। उसकी यह वीणा आप ही बज रही थी और बाँसों से ध्वनि आप ही निकल रही थी। कारण केवल वायु का चलना था[1]।

अवनद्ध वाद्य—इसमें चर्मबद्ध वाद्य आते हैं। कवि ने इस वर्ग के

१ यह सम्पूर्ण मत श्री रामचन्द्रन का है—
Kalidas and Music by Sri K V Ram Chandran Journal of U. P Historical Society Volume XXII Pts 1 2 1949 (Pages 94 to 101)

मुरज, पुष्कर एवं मृदंग में क्या भेद है, इसका संकेत कवि के ग्रन्थों में नहीं है। मालविकाग्निमित्र के प्रथम अंक में नेपथ्ये मृदंगध्वनि के बाद है— 'पुष्करस्य मायूरी मदयति मार्जना मनांसि" (श्लोक २१) इस पर एक कहता है, "धैर्यविलम्बिनमपि त्वरयति मां मुरजवाद्यरागोऽयम्"। अतः स्पष्ट ही या तो कवि के समय तक आते-आते भेद नष्ट हो गया था या भेद इतना सूक्ष्म था कि कवि उससे अवगत न था।

पुष्कर का अर्थ वायु, जल, मेघ और वाद्य विशेष है। प्रारम्भिक पुष्कर सब भांड (Pot Drums) होते थे। कवि ने 'मार्जना' शब्द का प्रयोग (मालविकाग्निमित्र प्रथम अंक श्लोक २१ में) किया है, जिससे इसे पृथक्-पृथक् ग्राम में मिलाने का आशय है। एक टीकाकार के अनुसार 'मायूरी' को मयूरों को बादल की ध्वनि के सदृश लगी थी, का दायाँ भाग 'ष' है, बायाँ 'म' से और ऊपर का 'प' से मिला था। मुख्य स्वर 'म' था जो मालविका के प्रथम प्रसंग के बिलकुल अनुकूल था। इसीलिए 'मध्यमस्वरोत्था मायूरी' शब्दों का प्रयोग कवि ने किया है। तीन स्वरों से यह मिलाया जाता है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि इसके तीन मुख होते थे। इस पर वायु, जल और मेघ का प्रभाव पड़ता था। कवि को इसकी आवाज मेघ से बहुत मिलती हुई लगती थी[1]।

संगीत में 'जल' का भी विशेष महत्त्व है। जलतरंग में जल की क्या महत्ता है, यह संगीतज्ञोविदों से छिपा नहीं है। कालिदास ने जिस प्रकार पुष्कर पर जल और मेघ का प्रभाव दिखाया है उसी प्रकार रघुवंश के १६ में सर्ग में प्रमदाओं का जल-क्रीड़ा करते समय हाथों के थपेड़ों से मृदंग की-सी ध्वनि करना दिखाया है।

तीरस्थलीबर्हिभिरुत्कलापैः प्रस्निग्धकेकैरभिनन्द्यमानम्।
श्रोत्रेषु संमूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदङ्गवाद्यम्॥ —रघु० १६।६४

इसके विषय में डाक्टर कुस्म का कहना है कि जल में अथवा जल के ऊपर हाथों को खड़े अथवा पड़े ढंग से विभिन्न प्रकार द्वारा लयबद्ध प्रहार करना 'चिबलन' कहलाता है। मृदंगवाद्य के बजाने का एक विशेष ढंग भी चिबलन कहलाता। इस प्रकार बाद को मृदंग का एक प्रकार ही 'चिबलन' कहलाने लगा[2]।

---

१ देखिए, पिछले पृ० की पादटिप्पणी न० २ —माल० १।२१ [illegible]
२ Cibilan is the rhythmic beating with the hand in different ways either with the crooked or flat of hand on and in the water producing in this way a surprisingly good ensemble effect

पुष्कर शब्द का अर्थ एक विशेष पक्षी भी है, जिसकी ध्वनि नूपुर या किंकणी के ध्वनि के सदृश होती है। किंकिणी की ध्वनि को घनवाद्य के अन्तर्गत गृहीत किया गया है। पथिक प्राय हंसों की ध्वनि को अपनी प्रेमिका की करधनी की किंकिणी की आवाज समझ बैठते थे। हंसों की ध्वनि के नूपुरों की ध्वनि के साम्य होने के कारण शीतकाल में हंसों की ध्वनि को स्त्रियों के नूपुरों में वास माना जाता था। शातकर्णी मुनि की कथा मे भी जिसका उल्लेख वाल्मीकि के आधार पर कालिदास ने भी किया है कई ध्वनियों का एकत्र उल्लेख मिलता है, जिसमें एओलियन हार्प एओलियन फ्लूट और पक्षियों की ध्वनि मुख्य है। कालिदास ने पंचाप्सर नामक क्रीडासर मे इन विभिन्न वाद्यों का समावेश व्यक्त किया है, जो सदा मृदंग घोष के साथ दिशाओं को मुखरित करते थे परन्तु जिनके उद्गम का स्पष्टीकरण न हो पाता था। वे मानो जलान्तर्गतसौध से प्रवाहित होते थे¹।

घनवाद्य—इसके अन्तर्गत केवल घण्टा का नाम कालिदास के ग्रन्थों में मिलता है²।

नृत्य, संगीत अथवा नृत्यकला

नृत्यकला मे नृत्य के तीन भेद कहे जाते है—नृत्त (ताण्डव) नृत्य (लास्य) और नाट्य। नृत्त मे भाव नही होते नृत्य में भाव होते है। नृत्त में पुरुषत्व है,

---

The chiblon has also gvan s name to a certain way of drum playing thus the chiblon afterwa d became the ame of one of the drum form themselves

—Kalidas & Music by K V Ram Chandran Journal of U P Historical Society Vol. XXII Pts I II (1949)

१ एतन्मुनेर्मानिनी शातकर्णे: पंचाप्सरो नाम विहारवारि।
आभाति पर्यन्तवन विदूरान्मेघान्तरालक्ष्यमिवेन्दुबिम्बम् ॥ —रघु १३।३८
—पुरा स दर्भांकुरमात्रवृत्तिश्चरन्मृगै: सार्धमृषिर्मघोना।
समाधिभीतेन किलोपनीत: पंचाप्सरो यौवनकूटबन्धम् ॥ —रघु १३।३९
—तस्यायमन्तर्हितसौधभाज: प्रसक्तसंगीतमृदंगघोष:।
वियद्गत: पुष्पकचन्द्रशालाः क्षणं प्रतिश्रुन्मुखरा: करोति ॥
—रघु १३।४०
२ रथो रथांगध्वनिना विजज्ञे विलोलघण्टाक्वणितेन नाग:।
स्वभर्तृनामग्रहणाद्बभूव सान्द्रे रजस्यात्मपरावबोध: ॥ —रघु ७।४१

ओज है, कठोरता है; नृत्य में सुकुमारता और स्त्रीत्व। नाट्य में भाव, रस और अभिनय का समन्वय है।

स्वयं कवि ने नृत्त और नृत्य दोनों का उपयोग किया है और दोनों को स्पष्ट भी किया है कि महादेव जी ने किस प्रकार उमा से विवाह कर अपने शरीर में नाट्य के ताण्डव और लास्य दो भाग कर दिए हैं[1]। अतः वे नृत्य के दो भेद ताण्डव और लास्य स्वीकार अवश्य करते हैं।

यद्यपि नृत्त और नृत्य दोनों का कवि ने उपयोग किया, परन्तु ऐसा आभासित होता है कि वस्तुतः उन्होंने नृत्त और नृत्य का भेद नहीं माना है। मयूर के नृत्य के लिए नृत्त और नृत्य दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है[2]। इसी प्रकार मालविका के नृत्य में भाव के साथ-साथ रस का भी उल्लेख है, पर उन्होंने उसे 'नृत्त' कहा है[3]।

यदि एक ओर वे श्री महादेव जी के ताण्डव नृत्त का वर्णन करते हैं[4] तो दूसरी ओर वे वारयोषितों के नृत्य का विशद उल्लेख करते हैं[5]। यह नर्तकियाँ

---

१ देवानामिदमामनन्ति मुनयः कान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्॥ —माल० १।४

२ पुरोपकण्ठोपवनाश्रयाणां कलापिनामुद्धतनृत्यहेतौ।
प्रध्मातशङ्खे परितो दिगन्तांस्तूर्यस्वने मूर्च्छति मङ्गलार्थे॥ —रघु० ६।९

—उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः। —अभि० ४।१२

३ वामं सन्धिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामाविटपसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम्।
पादाङ्गुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम्॥ —माल० २।६

४ नृत्तारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या। —पूर्वमेघ ४

५ पादन्यासैः क्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः। —पूर्वमेघ ३९

पुत्रजन्मोत्सव पर भी नृत्य किया करती थीं[1] और वैसे राजा के आमोद-प्रमोद के लिए भी[2]।

नृत्य के प्रकार—ऐसा प्रतीत होता है कि कवि के समय में चामर-नृत्य का बड़ा चलन था। स्त्रियाँ हाथ में चामर लेकर तरह-तरह की भाव-भंगिमा द्वारा नृत्य करती थीं[3]। इसी प्रकार बाहुओं को शाखाओं की तरह हिला-डुला कर नृत्य करना भी नृत्य का विशेष प्रकार है, इसमें हाव-भाव का आधिक्य रहता था[4]। नृत्य का एक प्रकार छलिक भी है, जिसे मालविका ने किया था।

नृत्य के साथ संगीत का भी आयोजन रहता था। मालविका के नृत्य में हाव-भाव गीत रस सब ही थे[5]। इसी प्रकार रघुवंश में उन्होंने नृत्य के साथ

---

१ सुखश्रवा मंगलतूर्यनिस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम् ... ...
—रघु ३।१९

२ स स्वयं प्रहतपुष्करः कृती लोलमाल्यवलयो हरन्मनः ।
नर्तकीरभिनयातिलङ्घिनीः पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत् ॥
—रघु १९।१४

—चारुनृत्यविगमे च तन्मुखं स्वेदभिन्नतिलकं परिश्रमात् ।
प्रेमदत्तवदनानिलः पिबन्नत्यजीवदमरालकेश्वरौ ॥—रघु १९।१५

—अंगसत्त्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन् ।
स प्रयोगनिपुणैः प्रयोक्तृभिः संजघर्ष सह मित्रसंनिधौ ॥—रघु १९।३६

३ पादन्यासैः क्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः ।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान् ॥ —पूर्वमेघ १९

४ श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः ।
उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः ॥ —रघु ९।३५

—मुकलितविविधप्रकारं नृत्यति कल्पतरुः । —विक्रम ४।१२

—पूर्वदिग्पवनाहतकल्लोलोद्गतबाहुः मेघागमे नृत्यति सकलविहगकलितविनादः ।
—विक्रम ४।४४

—अंगैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव ॥—माल० २।८

५ देखिए, पादटिप्पणी नं ४ —माल २।८

गीत प्रवर्तित किया है[1]। नृत्य सिखाने वाले नाट्याचार्य कहलाते थे[2]। 'लासक' शब्द का प्रयोग भी कवि ने नृत्य-शिक्षक के लिए किया है[3]।

नृत्य और अभिनय—जैसा पहले कहा जा चुका है कि नृत्य का तीसरा प्रकार नाट्य है, जिसमें नृत्त और नृत्य दोनों का समन्वय है या दूसरे शब्दों में भाव, रस और अभिनय तीनों का समन्वय नाट्य था। अभिनय के द्वारा चित्त वृत्ति का साधारणीकरण मालविका के नृत्य की विशेषता थी[4]। मालविका ने अभिनय के द्वारा अपने हृदय के अनुराग को व्यक्त किया था। अभिनय के भेदों को कवि नृत्य के साथ ही लेता है। आंगिक वाचिक आदि अभिनय का नृत्य से क्या सम्बन्ध है, यह रघुवंश में कवि ने भली प्रकार व्यक्त किया है[5]। मालविका के—

'जनमिममनुरक्तं विद्धि नाथेति गेये वचनमभिनयन्त्या स्वाङ्गनिर्देशपूर्वं।
प्रणयगतिमदृष्ट्वा धारिणीसंनिकर्षादहमिव सुकुमारप्रार्थनाव्याजमुक्तः॥

श्लोक में 'वचनमभिनयन्त्या' में वाचिक अभिनय, स्वाङ्गनिर्देश से आंगिक तथा व्यक्त प्रेम सात्त्विक अभिनय में आता है। मल्लिनाथ 'सत्त्वं अन्तःकरणं' कहकर स्पष्ट करते हैं[6]। मालविका के पंचांगाभिनय से गीत वाद्य और नृत्य में हो तीन आंगिक सात्त्विक तथा वाचिक अभिनय से कवि का आशय होगा। मालविका का चलिक नृत्य भी इसी की पुष्टि करता है।

निस्सन्देह कवि संगीतज्ञ था। संगीत-सम्बन्धी छोटी-छोटी बातों को प्रदर्शित करना इसकी पुष्टि करता है। बेसुरे स्वर को ताड़न समान कहना[7] राग के पूर्व

---

१ देखिए पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी सं० ४—रघु १९।१९
२ सम्पूर्ण मालविकाग्निमित्र में नृत्य-शिक्षक के लिए नाट्याचार्य शब्द आया है।
३ नवजलकणसंगाच्छीततामादधानः कुसुमभरनतानां लासकः पादपानाम्।
जनितरुचिरगन्धः केतकीनां रजोभिः परिहरति नभस्वान्प्रोषितानां मनांसि॥
—ऋतु २।२७
४ जनमिममनुरक्तं विद्धि नाथेति गेये वचनमभिनयन्त्या स्वाङ्गनिर्देशपूर्वम्।
प्रणयगतिमदृष्ट्वा धारिणीसंनिकर्षादहमिव सुकुमारप्रार्थनाव्याजमुक्तः॥
—माल २।५
५ अङ्गसत्त्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन्।
स प्रयोगनिपुणैः प्रयोक्तृभिः संजघर्ष सह मित्रसंनिधौ॥—रघु १९।३६
६ रघु १९।३६
७ स्वरेण तस्याममृतस्रुतेव प्रजल्पितायामभिजातवाचि।
अप्यन्यपुष्टा प्रतिकूलशब्दा श्रोतुर्वितन्त्रीरिव ताड्यमाना॥—कुमार १।४५

वर्ण परिचय[1] स्वरालाप[2] तत्पश्चात् गीत गाना[3] संगीत के क्रम को बताता है। साथ ही ताल के लिए मुरज पुष्कर अथवा मृदंग का होना किसी तंत्रीवाद्य पीछे-पीछे अनुकरण करना[4] उसके संगीत-सम्बन्धी ज्ञान का परिचायक है। आजकल भी तानपूरा या सारंगी गाने के साथ-साथ बजती रहती है तथा तबला या पखावज ताल के लिए प्रयुक्त होता है।

कवि ने सर्वत्र संगीत को कामसुख के रूप में लिया है[5]। फलस्वरूप अग्निवर्ण रात-दिन संगीत में डूबा रहता था। वह कामी राजा कामिनियों के साथ उन भवनों में दिन-रात पड़ा रहता था जिनमें बराबर मृदंग बजते रहते थे और प्रतिदिन ऐसे एक-से-एक बढ़कर उत्सव होते थे कि उनके आगे पिछले दिन का उत्सव फीका पड़ जाता था[6]। इन्दुमती ने अज से ही ललितकलाओं की शिक्षा ली थी[7]। अतः राजभवन में संगीत प्रतिदिन होता था। मालविकाग्निमित्र में राजा संगीत में इतना रुचि रखने लगा था कि वह रानी की आलोचना का कारण हो गया था[8]। अग्निमित्र को विलासिक बताना[9] इसकी पुष्टि करता है कि वह

---

१ आर्य तत्रभवती हंसपदिका वर्णपरिचयं करोतीति। —अभि अंक ५, पृ ७१

२,३ उपगानं कृत्वा चतुष्पदवस्तु गायति। —माल अंक २ पृ २८२

४ पीछे बताया जा चुका है। देखिए, वाद्य यंत्र—मृदंग कोणक वेणु।

५ सुतंत्रिगीतं मदनस्य दीपनं शुचौ निशीथेऽनुभवन्ति कामिनः। —ऋतु १।३

—न रसनाचलितावलग्ननितम्बमेखलैर्विबोध्यते सुप्त इवाद्य मन्मथः।

—ऋतु १।८

—अंकमंकपरिवर्तनोचिते तस्य निन्यतुरशून्यतामुभे।

वल्लकी च हृदयंगमस्वना वल्गुवागपि च वामलोचना॥ —रघु १९।१३

—मधुना दशनरोचिताधरा वीणया मगधराधितोरव।

चित्तहारि उभयेन वैजितान्म विजितानुगमया व्यलोभयत्॥

—रघु १९।१५

६ कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्य वेश्मसु मृदंगनादिषु।

ऋद्धिमन्तमधिकर्द्धिरुत्तरः पूर्वमुत्सवमपोहदुत्सवः॥ —रघु १९।५

७ गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ। —रघु १९।८

यदि राजकार्येभ्योऽवसरमनिरुपणानुरूपस्य तत्र यौवनं भवेत्।

—माल अंक १ पृ २०१

८ अत्रभवान् चित्र मम च गणदासहरदत्तयोर्नाट्याचार्ययोर्मतं च

पात्र प्रयोगे च विमृशतु। देव एव मे विदेशेऽनुग्रहम्॥

—माल अंक १ पृ २०१

संगीतज्ञ था । अग्निवर्ण भी नृत्य का आचार्य था और वह नर्तकियों की संगीत सम्बन्धी अशुद्धियों को ठीक कर देता था जिनसे उनके शिक्षक लज्जित हो जाते थे[1] ।

संगीत और नृत्य का इतना अधिक प्रचार था कि संगीतध्वनि से नगर सदा प्रतिध्वनित रहते थे । अलकापुरी मृदंग के मधुर वाद्य-यंत्रों से सदा गूँजती रहती थी[2] । नृत्यकला की शिक्षा वारयोषिताओं के अतिरिक्त कुलीन कन्याएँ भी लेती थीं । मालविका और रानी इरावती दोनों नृत्यकला में दक्ष थीं । 'संगीत-शाला'[3] संगीत के प्रति लोगों की आस्था का प्रमाण है । संगीतशाला की तरह नाट्यशाला भी थी जहाँ नृत्य आदि किया जाता था । मालविका का नृत्य ऐसी ही नाट्यशाला में हुआ था ।

चित्रकला

चित्रकला का आधार कपड़ा कागज लकड़ी आदि कोई भी वस्तु हो सकती है, जिसपर चित्रकार तूलिका अथवा लेखनी से भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं और जीवधारियों की आकृति अंकित कर सके । अपनी तूलिका अथवा शलाका द्वारा समतल धरातल पर स्थूलता सूक्ष्मता दूरी निकटता प्रदर्शित करना ही उसकी प्रतिभा एवं कलानैपुण्य है । चित्रकार अपनी चित्रकला के द्वारा मानसिक सृष्टि का सृजन करता है । किसी घटना दृश्य अथवा व्यक्ति को चित्रित करने के लिए उसके बाह्य अंगों के साथ सजीवता लाना भी उसके लिए वाञ्छनीय है । अतः मानसिक भावों की सजीव सृष्टि ही उसकी सफलता का मापदण्ड है ।

काव्यकला की तरह चित्रकला भी आन्तरिक अभिव्यक्ति का सुन्दर माध्यम है । कालिदास को जितने काव्य नाट्य संगीत प्रिय हैं, उतनी ही चित्रकला । उस समय के समाज में भी इस कला के प्रति कितनी रुचि और सम्मान भाव

---

१ स स्वयं प्रहतपुष्करः कृती लोलमाल्यवलयो हरन्मनः ।
नर्तकीरभिनयातिलंघिनीः पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत् ॥ —रघु १९।१४

२ विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम् ।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुंगमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥ —उत्तरमेघ १

३ भो वयस्य संगीतशालान्तरेऽवधानं देहि तावत्संगीतशाला गच्छामि ।
—माल० अंक १ पृ० २१२

था यह कवि के शब्दों से स्वत सिद्ध हो जाता है। चित्रशाला[1] तथा चित्रमण्डप[2] दोनों शब्द जनता की अभिरुचि तथा चित्रप्रियता की ओर संकेत करते हैं। इसी चित्रशाला की तरह भवभूति ने उत्तररामचरित (अंक १) में वीथिका शब्द का प्रयोग किया है जहाँ दीवारों पर चित्र चित्रित किए गए थे।

कवि ने चित्र[3] तथा प्रतिकृति[4] दो शब्दों का चित्रकला के लिए प्रयोग किया है। जिस पर रखकर चित्र खींचा जाता था वह चित्रफलक[5] कहलाता था। यह एक लकड़ी का चौकोर तख्ता था।

चित्रलेखा[6] और वर्णराग[7] शब्दों से व्यक्त होता है कि पहले साधारण रूपरेखा खींचकर रंग भरे जाते थे। रंगों के लिए गीले रंगों का प्रयोग होता था (Water Colour) क्योंकि जब राजा चित्रशाला में प्रविष्ट हुआ था तब चित्र प्रत्ययवर्णयुक्त गीले थे। ये चित्र सूखने के लिए लटका दिए जाते थे। अत या तो ये वस्त्र पर बनाए जाते होंगे या कागज पर।

---

१ चित्रशालां गता देवी सह प्रत्यग्रवर्णरागां चित्रलेखामाचार्यस्यालोकयन्ती तिष्ठति। —माल पृ २६४
२ तपोवनावासिभिरिष्टमित्रैर्यायास्तिथुषो सप्तसु चित्रवत्सु। —रघु १४।२५
३ मालविकामुपगतामवेक्ष्य पूर्व चित्रार्पिता पुनरिमां बहुमन्यमान।
—अभि ६।१५
—इयं चित्रगता भट्टिनी। —अभि पृ १११
—स जनो देव्या पार्श्वगतश्चित्र दृष्ट। —माल अंक १ पृ २६१
—प्रमोद चित्रगतो भर्ता। —माल अंक ४ पृ १२५
४ तत्र मे प्रतिकृति लिखितामि। —माल अंक ४ पृ १२
—तत्र मे चित्रफलकगता स्वहस्तलिखितां तत्रभवत्या शकुन्तलाया प्रतिकृति मानयति। —अभि पृ १ ८
—अथवा तत्रभवत्या उर्वश्या प्रतिकृति चित्रफलके आलिख्य आत्मनोऽर्पयिष्यामि॥
—विक्रम पृ १०८
५ देखिए पादटिप्पणी नं ४ —अभि पृ १ ८
—तत्र मे चित्रफलकगतो चित्रफलकमादायागमिष्यामि च। —अभि पृ १२
—आप सानुमती अवलम्बस्व चित्रफलकम्। —अभि पृ ११५
देखिए, पादटिप्पणी न ४ —विक्रम प १०८ अथवा तत्रभवत्या...
१० देखिए, पादटिप्पणी नं १ —माल प २६४ चित्रशालां गता...

तिलक मंजरी (पृ   ७१ १७२) में सबसे प्रथम भित्तिचित्र शब्द आया है। कवि कालिदास ने भी भित्तिचित्रों का प्रसंग दिया है। घर की दीवारों को तरह-तरह के चित्रों से अंकित दिखाया है। 'सद्मसु चित्रवत्सु' [1] 'सचित्राः प्रासादा' [2] में जहाँ सुन्दर चित्रों की पेंटिंग से युक्त सौन्दर्य के प्रतीक प्रासाद नेत्रों के सम्मुख घूम जाते हैं वहाँ द्वार पर लिखित शंख पद्म आदि के चित्र [3] कलाप्रियता और सौन्दर्य दोनों की अभिव्यक्ति करते हैं।

एक प्रसंग मेघदूत में भी चित्रों का आया है, कि मेघ वायु के झोंकों के साथ वहाँ के भवनों के ऊपरी खण्डों में घुसकर चित्रों को अपने जल-कणों से भिगो कर नम कर देते हैं [4]। इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि ये भित्तिचित्र थे या भूचित्र। व्यक्ति इतने कलाप्रिय थे कि घर के तोरण पर इन्द्रधनुष कमल शंख आदि के चित्र बनाते थे [5]। ऐसे भित्तिचित्र भी थे जिनमें केलिताड़ागों के चित्रण थे जिनमें हाथी कमल के ताल में उतरते दिखाए गए थे और हथिनियाँ उन्हें सूँड से कमल की डंठल तोड़कर दे रही थीं [6]। अजन्ता के चित्रों की तरह

---

१ तमीयथाप्राधितमिन्द्रियार्थानासेदुषः सद्मसु चित्रवत्सु।
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु संचिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन् ॥
—रघु १४।२५

२ विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः। —उत्तरमेघ १

३ दृष्ट्वा चैतौ हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथा
द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शंखपद्मौ च दृष्ट्वा। —उत्तरमेघ २

४ नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमि
रालेख्यानां नवजलकणैर्दोषमुत्पाद्य सद्यः।
शंकास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशा जालमार्गै
र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ॥ —उत्तरमेघ ८

५ तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयं दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन।
—उत्तरमेघ १२

देखिए, पादटिप्पणी न ३ —उत्तरमेघ २

६ चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभंगाः। —रघु १६।१६

कालिदास ने भी शिला पर गैरिक आदि धातुओं से यक्षपत्नी का यक्ष द्वारा चित्र बनाना कहा है[1]।

चित्रकला के उपकरण—चूँकि मोटे एवं सूक्ष्म दोनों प्रकार के चित्रों का अंकन है, इसलिए तूलिका[2] तथा वर्तिका[3] (Brush & Colour Pencils) दोनों शब्द कवि ने कदाचित् इसी विभिन्नता को दिखाने के लिए प्रयुक्त किए हैं। शलाका[4] भी इसी प्रकार की वर्तिका का कोई प्रकार प्रतीत होती है, जिससे चित्र की रूपरेखा बनाई जाती थी। कूर्च तूलिका की तरह ही ब्रश था। श्री भगवतशरण तूलिका को मोटी नोक वाली कलम कहते हैं और कूर्च को ब्रश। लम्बकूर्च[5] से दो बातें प्रतीत होती हैं प्रथम यह कि कूर्च के दो प्रकार थे लम्बे और छोटे दूसरे कूर्च आजकल के ब्रश की तरह बालों की कोई वस्तु थी जिसमें रंग भरा जाता था। जिस बक्स में चित्रकला के लिए आवश्यक वस्तुएँ संगृहीत रहती थी वह 'वर्तिकाकरण्ड'[6] कहलाता था।

चित्र की रूपरेखा बनाने के लिए काले पेंसिल प्रयुक्त होती थी[7]। धातुराग भी चित्र की रूपरेखा के लिए प्रयुक्त किए जाते थे[8]। मल्लिनाथ के अनुसार धातुराग में गैरिक तथा अन्य धातुएँ हैं[9]। चित्रकार पहले चित्र की

---

१ त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्
आत्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः॥ —उत्तरमेघ ४७

२ उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन॥—कुमार १।३२

३ गच्छ वर्तिकां तावदानय। —अभि अंक ६ पृ ११५

४ तया दुहित्रा सुतरां सवित्री स्फुरत्प्रभामण्डलया चकाशे।
विदूरभूमिर्नवमेघशब्दादुद्भिन्नया रत्नशलाकयेव॥ —कुमार १।२४
—तस्याः शलाकाञ्जननिर्मितेव कान्तिर्भ्रुवोरानतलेखयोर्या।
तां वीक्ष्य लीलाचतुरामनङ्गः स्वचापसौन्दर्यमदं मुमोच॥—कुमार १।४७

५ यथार्थं पश्यामि वृत्तिस्थमनेन चित्ररूपेण लम्बकूर्चानां तापसानां कदम्बे।
—अभि प ११६

६ वर्तिकाकरण्डकं गृहीत्वेतोमुखं प्रस्थितास्मि। —अभि प ११६

७ देखिए, पादटिप्पणी नं ४ —तस्याः शलाकाञ्जननिर्मितेव...... ....

८ देखिए, पादटिप्पणी नं १ —त्वामालिख्य प्रणयकुपितां ....

९ 'धातुरागैर्धातुविकारैर्गैरिकादिभिः' इति यावत्। —उत्तरमेघ ४२

स्थूल रेखाएँ खींचते थे जो रेखा[1] कहलाती थी। यह रूपरेखा कवि की सम्मति में लाल चाक से जिसे 'गैरिक' कहते थे खींची जाती थी। काली पेन्सिल भी रेखा के लिए प्रयुक्त की जाती थी।

वर्ण—चित्र में रंग की बड़ी उपयोगिता थी। लाल पीला भूरा आदि रंगों का सम्मिश्रण चित्र को अनुपम सौन्दर्य प्रदान करता था[2]। रंगों का ठीक-भरा जाना ही सौन्दर्य की वृद्धि में सहायक था[3]।

चित्र के प्रकार

(१) सामूहिक चित्र—मालविकाग्निमित्र प्रथम अंक में रानी के साथ दासियों में मालविका का चित्र था[4]। इसी प्रकार शकुन्तला के चित्र में उसके साथ उसकी दोनों सखियाँ भी थीं[5]।

(२) व्यक्तिगत चित्र—यक्ष का पत्नी का चित्र बनाना[6] पत्नी का पती का चित्र बनाना[7] पुरूरवा को उर्वशी का चित्र बनाने के लिए विदूषक का कहना[8] पार्वतीजी का शंकरजी का चित्र बनाना[9] पूजा-गृह में दशरथ का चित्र

---

१ वर्तितामुखस्य सुखयति रेखाऽपि प्रथमं दृष्टेमम्। —नागानन्द २।८
—तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम्। —अभि ६।१४

२ रक्तपीतकपिशाः पयोमुचां कोटयः कुटिलकेशि भान्त्यमूः।
द्रक्ष्यसि त्वमिति संध्ययानया वर्तिकाभिरिव साधुमण्डिताः॥—कुमार ८।४४

३ उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन॥—कुमार १।३२

४ उपचारानन्तरमेकासनोपविष्टेन भर्त्रा चित्रगतायाः देव्याः परिजनमध्यगता-मासन्नदारिकां दृष्ट्वा देवी पृष्टा। —माल पृ २६४

५ को इदानीं त्रिमस्त्रमत्र यो पृच्छ्यते। सर्वास्त्र दर्शनीया। कतमात्र तत्र भवती शकुन्तला।—अभि पृ ११४

६ त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्
आत्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्। —उत्तरमेघ ४०

७ मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती। —उत्तरमेघ २१

८ अथवा तत्रभवत्या उर्वश्याः प्रतिकृतिं चित्रफलके आलिख्यावलोकयंस्तिष्ठतु।
—विक्रम पृष्ठ १७८

९ यदा बुधैः सर्वगतस्त्वमुच्यसे न वेत्सि भावस्थमिमं कथं जनम्।
इति स्वहस्तोल्लिखितश्च मुग्धया रहस्युपालभ्यत चन्द्रशेखरः॥
—कुमार ५।५८

होना प्रदर्शित करता है[1] कि अकेले व्यक्ति का चित्र भी बनाया जाता होगा।

(३) वस्तुचित्र—उत्तरमेघ में द्वार पर शंख पद्म का चित्र होना इसी प्रकार एक स्थान पर दासी का विदूषक के लिए आलेख्य वानर इव[2] कह कर प्रमाणित करना कि इन सबके चित्र भी बनाए जाते होंगे मुद्रा में नाम-चित्र का बना होना[3] आदि वस्तुचित्र के सजीव उदाहरण हैं।

चित्र को सजीवता के लिए पृष्ठभूमि की महत्ता दी जाती थी। दुष्यन्त शकुन्तला के चित्र में मालिनी नदी हंसों के जोड़े मयूर हरिण आदि सभी वस्तुएँ बनाता है। यहाँ तक कि पेड़ों पर वल्कल टाँगना भी नहीं भूलता। शकुन्तला के स्तनों के बीच तन्तुमाला और कानों में शिरस के कुसुम तक बनाता है[4]।

स्मरणशक्ति से चित्र खींचना (Memory Drawing)— किसी चित्र को देखकर चित्र बनाने की कवि ने स्थान न देकर स्मरणशक्ति से चित्र बनाने को महत्ता दी है। व्यक्ति अपनी भावनाओं के अनुसार कल्पना कर उसके चित्र में उचित परिवर्तन भी उपस्थित कर सकता था। 'विरहतनु भावगम्यं लिखन्ती'[5] इसका प्रमाण है कि विरह के कारण स्वामी इतने क्षीण हो गए होंगे सोचकर वह (यक्षपत्नी) यक्ष का विरह से दुर्बल शरीर चित्रित करती है। दुष्यन्त भी स्मृति के द्वारा शकुन्तला का चित्र बनाता है। यक्ष का पत्नी का प्रणयकुपित

---

१ जाग्रदायमानो वसितमित्रेतमालेख्यशेषस्य पितुर्विवेश। —रघु १४।१५

२ अहो आलेख्यवानर इव विमति मन्त्रपरिभूत आयमानवकस्तिष्ठति।

—विक्रम पृ १७८

३ सखि देख्या इदं चित्रसकाशात् आनीतं नागमुद्रासनाथमङ्गुलीयकं सिन्दं निष्क्रामन्ती तवोपालम्भे पतितास्मि। —माल अंक १ पृ २११

४ कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्॥—अभि ६।१८
—कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम्।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे॥

—अभि ६।१८

५ मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती। —उत्तरमेघ २५

चित्र बनाना, पार्वती का शंकर का चित्र बनाना, पुरूरवा का उर्वशी का चित्राङ्कन करना इसके प्रमाण हैं।

सफलता—कवि ने चित्र के लिए प्रतिकृति शब्द का प्रयोग बहुत किया है। अतः चित्र वही अद्वितीय सुन्दर था जो बिल्कुल ऐसा बने कि वही व्यक्ति हो। मालविकाग्निमित्र में राजा अग्निमित्र का चित्र इतना सजीव था कि मालविका राजा का प्रमपूर्वक इरावती की ओर देखते हुए देखकर डाह से मुँह फेर लेती है[1]। तत्पश्चात् स्वयं अपने मन की इस अवस्था पर दुःखी होती है[2]। शकुन्तला के चित्र की भी यही विशेषता थी। सानुमती का कथन 'एषा राजर्षे निपुणता जाने सख्यग्रा मे वर्तत इति' विश्वास दिलाता है कि उसे अवश्य ही ऐसा भ्रम होता कि शकुन्तला साक्षात् होकर सम्मुख खड़ी है[3]। भवभूति ने भी 'वीथिका' में सम्पूर्ण रामायण के चित्र इतने सुन्दर दिखाए हैं कि सीता देखते-देखते इतनी तन्मय हो गईं कि उन्हें बताना पड़ा, याद दिलाना पड़ा कि यह चित्र है सत्य नहीं (अमि चित्रमेतत्)।

चित्र की सफलता के लिए तीन बातों का होना आवश्यक है—

(१) वर्ण (Colour) (२) भाव (Expression) (३) आलेखन (Drawing)। कवि ने इन तीनों की उपयुक्तता और समन्वय पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। प्रत्यग्रवर्णराग मालविका के चित्र पर दृष्टि जाते ही राजा ने जिज्ञासा की कि यह कौन है। शकुन्तला के मुख का भाव इतना सजीव एवं स्वाभाविक था कि स्वयं विदूषक को बहुत आश्चर्य हुआ था कि यह कह उठा 'इसके अंग-अंग आपने इतने सुन्दर बना दिए हैं कि इसके मन के भाव ठीक-ठीक उतर आए हैं'[4]। चित्र बन चुकने के पश्चात् आलेख्यगत अथवा चित्रार्पित[5] कहलाता था। संस्कृत-साहित्य में 'लिख' धातु का बहुस्थलों में प्रयोग किया है।

---

१ बकुला —(आत्मगतं) चित्रगतमर्तारं परमार्थतः संकल्प्यासूयति।
—माल प १२९

२ मालविका— (आत्मगतं) कथं चित्रगतो भर्ता ममासूयितः।
—माल पृ १२७

३ अभि अंक ६ प ११४

४ साधु वयस्य। मधुरावस्थानदर्शनीयो भावानुप्रवेशः स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोन्नतप्रदेशेषु। —अभि अंक ६ पृ ११४

५ सत्वाखिन्नपामुपगतामसहस्य पूर्व चित्रार्पिता पुनरिमां बहुमन्यमानः।
—अभि ६।१९

ध्यानावस्थित हो जाय तभी उसे बनाना प्रारम्भ करना चाहिए। मूर्ति का कोई दोष कलाकार की शिथिल समाधिवश होता है। कवि ने भी मालविकाग्निमित्र में 'शिथिल समाधि'[1] शब्द का प्रयोग किया है। मालविका के चित्र को देखने के पश्चात् जब राजा ने वास्तविक रूप से मालविका को देखा तब चित्र उसके सम्मुख फीका लगा तब उसे लगा कि चित्रकार की समाधि में शिथिलता थी जिसके कारण उसके शरीर का लावण्य पूर्ण व्यक्त नहीं हो पाया।

मूर्तिकला

मूर्तिकला के साक्षात् संकेत कवि के ग्रन्थों में बहुत कम हैं परन्तु आज के संग्रहालय में तत्कालीन मूर्तियों से उस समय की मूर्तिकला का कुछ-कुछ अनुमान किया जा सकता है।

एक स्थान पर कवि का कथन 'दोपहर की उत्कट उष्णता के कारण नींद में अलसाए मोर अपने अड्डे पर बैठे हुए पत्थर में खुदे हुए-से मालूम पड़ते हैं'[2] स्पष्ट करता है कि उस समय पत्थर पर खोद कर मूर्तियाँ बनाई जाती होंगी। इसी प्रकार का एक संकेत और भी प्राप्त होता है। अयोध्या में भी खम्भों पर स्त्रियों की मूर्तियाँ बनी हुई थीं परन्तु जब नगरी उजाड़ हो गई तब साँप इन मूर्तियों को जिनका रंग उतर गया था चन्दन का वृक्ष समझ कर लिपटे रहते थे। उनकी छोड़ी केंचुल ही उन स्त्रियों के स्तनों का आवरण बन गई थी[3]। मथुरा म्यूजियम में इन दोनों प्रकारों के उदाहरण हैं। रेलिंग स्तम्भों पर उत्कीर्ण कुषाण यक्षियों की मूर्तियाँ संग्रहालय के एक पूरे विभाग में भरी हुई हैं। अवश्य ही कवि ने मथुरा के रेलिंग स्तम्भों की इन यक्षियों की मूर्तियों को देखकर कल्पना की होगी। इसी प्रकार रघुवंश की उत्कीर्ण नारी-मूर्तियाँ सम्भवतः राजमहल के रेलिंग स्तम्भ थे। कवि ने गंगा तथा यमुना की चामरग्राहिणी मूर्तियों का उल्लेख किया है[4]। देवताओं की चामरग्राहिणी के रूप में

---

१ चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशङ्कि मे हृदयम्। सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता। —माल २।२

२ उत्कीर्णा इव वासयष्टिषु निशानिद्रालसा बर्हिणो। —विक्रम ३।२

३ स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम्।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः॥
—रघु १६।१७

४ मूर्ते च गङ्गायमुने तदानीं सचामरे देवमसेविषाताम्।
समुद्रगारूपविपर्ययेऽपि सहंसपाते इव लक्ष्यमाणे॥ —कुमार ७।४२

इन दोनों नदी-देवियों की मूर्तियों का आरम्भ कुषाण-काल के उत्तरार्द्ध तथा गुप्तकाल के प्रारम्भ में हुआ था। मथुरा म्यूजियम में ऐसी मूर्तियाँ पाई गई हैं।

कवि के ग्रन्थों में देव-प्रतिमाओं का अभाव नहीं है[1]। इन देवताओं में ब्रह्मा का उल्लेख रघुवंश और कुमारसम्भव में है[2]। विष्णु का एक स्थान पर वर्णन करते हुए कहते हैं कि वे शेष-शय्या पर लेटे हैं। शेष की मणियों से उनका शरीर और चमक उठा है। उनके पास कमल पर लक्ष्मी बैठी हुई हैं, जिनकी कमर में रेशमी वस्त्र पड़ा है और जो विष्णु जी के पैरों को अपनी गोद में लेकर सहला रही हैं[3]। जब तक कवि ने इस प्रकार का कोई चित्र या मूर्ति न देखी हो वह इतना सजीव वर्णन नहीं कर सकता। कवि ने वर्णन करते समय स्वयं 'विग्रह' शब्द प्रयोग किया है, जिसका अर्थ मूर्ति है। इसी सर्ग में उन्होंने एक स्थान पर उनका चिह्न शंख चक्र गदा और तलवार वर्णन किया है, पद्म नहीं[4]। गरुड़ उनका वाहन है[5]। एक और स्थान पर वे वक्षस्थल पर कौस्तुभ मणि धारण किए हुए हैं और लक्ष्मी जी हाथ में कमल का पंखा लिए हुए हैं, ऐसा उल्लेख करते हैं[6]। भारतीय

---

१ तत्र सपर्यां सपशूपहारां पुरः परार्ध्यप्रतिमागृहायाः। —रघु १६।३९
—मनोऽभ्यारोपितारम्भैर्न प्रशस्तायतमार्चिता।
अनुपम्युपयुज्यैर्वं सान्निध्ये प्रतिमागतैः॥ —रघु १७।३६
—प्रसन्नमुखरागं तं स्मितपूर्वाभिभाषिणम्।
मूर्तिमन्तममन्यन्त विश्वासमनुजीविनः॥ —रघु १७।३१
२ तस्योदये चतुर्मूर्तेः पौलस्त्यचकितेश्वराः।
विरजस्कैर्नभस्वद्भिर्दिश उच्छ्वसिता इव॥ —रघु १ ।७१
—अथ सर्वस्य धातारं ते सर्वे सर्वतोमुखम्।
वागीशं वाग्भिरर्थ्याभिः प्रणिपत्योपतस्थिरे॥ —कुमार २।३
३ भोगिभोगासनासीनं ददृशुस्तं दिवौकसः।
तत्फणामण्डलोदर्चिर्मणिद्योतितविग्रहम्॥ —रघु १ ।७
—श्रियः पद्मनिषण्णायाः क्षौमान्तरितमेखले।
अङ्के निक्षिप्तचरणमास्तीर्णकरपल्लवे॥ —रघु १ ।८
४ गुप्तं ददृशुरात्मानं सर्वाः स्वप्नेषु वामनैः।
जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रलाञ्छितमूर्तिभिः॥ —रघु १ ।६
५ हेमपक्षप्रभाजालं गगने च वितन्वता।
उह्यन्ते स्म सुपर्णेन वेगाकृष्टपयोमुचा॥ —रघु १ ।६१
६ बिभ्रत्या कौस्तुभन्यासं स्तनान्तरविलम्बितम्।
पर्युपास्यन्त लक्ष्म्या च पद्मव्यजनहस्तया॥ —रघु १ ।६२

संग्रहालयों में शेष-दाम्पा वाली तथा दूसरी बड़ी दोनों मूर्तियाँ मिलती हैं। 'त्रिमूर्ति'[1] जिसे कवि ब्रह्मा विष्णु, महेश कहता है म्यूजियम की सामान्य वस्तु है। एक और भास्कर्य कृति का संकेत एक स्थान पर हमको प्राप्त होता है। ऐसे हुए सर्पों के बीच में जब ऐसे लगते थे मानो सर्पों के बीच में चन्द्रमा की प्रतिमा हो[2]।

मृण्मूर्तियों का संकेत भी अभिज्ञानशाकुन्तल में मिलता है। भरत का मिट्टी के मोर से खेलना[3] बताता है कि उन समय मिट्टी के खिलौने बनाये जाते और रंगे जाते थे। मथुरा-संग्रहालय में एक मृण्मय मयूर प्रदर्शित किया गया है। इसी प्रकार 'चक्रवर्तिलक्षण'[4] जो भरत के चक्रवर्ती होने का प्रमाण है, गुप्त काल की विशेष वस्तु है। लखनऊ म्यूज़ियम में बुद्ध की मूर्ति में यही विशेषता अंकित है।

असाधारणकित—भास्कर्य कला से सम्बद्ध ऐसे अप्रत्यक्ष प्रमाण भी हैं जिनसे तत्कालीन कलाकौशल का सम्यक परिचय मिलता है। जहाँ कवि प्रत्यक्ष रूप से किसी विशेष प्रतिमा का संकेत नहीं करते वह अप्रत्यक्ष रीति से उसका पूर्ण चित्रण कर स्पष्टतया प्रकट अवश्य कर देते हैं। ऐसे असंख्य संकेत उनके ग्रन्थों में हैं जिनकी अनुकृति अथवा प्रतिकृति भारतीय-संग्रहालयों में देखी जा सकती है।

(१) प्रभा मण्डल—कालिदास ने प्रभा मण्डल[5] छाया मण्डल[6] तथा

---

१ नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने।
गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे॥ —कुमार २।४

२ संसक्तयानामिवयया निमृतास्तं सन्तात वपुः स्वभोमा।
निमीलितानामिव पंकजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमाशशाङ्कम्॥—रघु ७।६४

३ (प्रविश्य मृण्मयमयूरहस्ता) सर्वदमन। शकुन्तलावण्यं प्रेक्षस्व।
—अभि पृ ११८

४ प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितो विभाति जालग्रथिताङ्गुलिः करः।—अभि ७।१९

५ एवमुक्त्वा तथा वाञ्छा रुप्रासदयोजनमुखः।
गात्रयुवमिव ज्योतिः प्रभामण्डलमुद्ययौ॥ —रघु १५।८२
—तं मातरो देवमनुव्रजन्त्यः स्ववाहनक्षोभचलावतंसाः।
मुखैः प्रभामण्डलरेणुगौरैः पद्माकरं चक्रुरिवान्तरिक्षम्॥—कुमार ७।३८

६ छायामण्डललक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम्।
पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम्॥ —रघु ४।५

स्फुरत-प्रभामण्डल[1] का उल्लेख किया है। उत्तरी-भारत में प्रभामण्डल का वास्तविक प्रचलन मूर्तिकला में ऐतिहासिक दृष्टिकोण के द्वारा यदि देखा जाय तो कुषाण काल से प्रारम्भ होता है। प्रारम्भिक गुप्त काल में यह सर्वसम्मत रूप धारण कर सामान्य वस्तु हो जाता है। पहले मूर्तियों के पीछे छत्र दिखाया जाता था वही गुप्तकालीन बौद्ध प्रतिमा का प्रभामण्डल बन गया। मथुरा और सारनाथ दोनों संग्रहालयों में ऐसे अनेक उदाहरण हैं।

(२) मयूरासीन कार्तिकेय[2]—कवि के ग्रन्थों से स्पष्ट है और मथुरा के संग्रहालय में *मयूरारूढ़ कार्तिकेय का बिल्कुल* ऐसा ही नमूना है। श्री भगवतशरण जी की सम्मति अनुसार यह नमूना उस समय के कलाकारों को इतना प्रिय था कि बोधिसत्व की भुजाओं पर पहनाए गए केयूर नाचते हुए मयूर के बिल्कुल अनुकरण पर बनाए गए हैं और यह कुषाण युग के मूर्तिकार पर विशेषतया पड़ते हैं[3]।

(३) केयूर आभूषण[4]—इस आभूषण का अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है। कवि को यह आभूषण अति प्रिय है। इसका प्रदर्शन संग्रहालयों में किया गया है।

(४ शंख और पद्म—कालिदास ने घर के द्वार पर शंख तथा पद्म के चित्रों का प्रसंग दिया है। यक्ष मेघ को अपने घर की पहचान ही यह बतलाता है। गुप्त कला की यह विशेष वस्तु है जो देवगढ़ के मन्दिर में प्रदर्शित की गई

---

१ स चापमुत्सृज्य विवृद्धमत्सरः प्रणाशनाय प्रबलस्य विद्विषः ।
महीध्रपक्षव्यपरोपणोचितं स्फुरत्प्रभामण्डलमस्त्रमाददे ॥—रघु ३।६
—स विक्रमात् क्षित नागरूपमुत्सृज्य तडित्स्मितसौम्यपूत ।
स्फुरत्प्रभामण्डलमध्यवर्ति कान्तं वपुर्व्योमचरं प्रपेदे ॥—रघु ५।२१
—स्फुरत्प्रभामण्डलमानुषुर्यं सा बिभ्रती शाश्वतमंबरान्तम् ।
रराज शुद्धेति पुनः स्वपुर्यै संदर्शिता वह्निगतेव भर्त्रा ॥—रघु १४।१४

२. परार्घ्यवर्णास्तरणोपपन्नमासेदिवान्रत्नवदासनं सः ।
भूयिष्ठमासीदुपमेयकान्तिर्मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन ॥ —रघु ६।४

३ India in Kalidas Page 239

४ इसके अनेक उदाहरण हैं—रघु ६।१४ ५४ ६८ ७१ रघु ७।५ ११।६६ ७१ ऋतुसंहार, विक्रम मेघदूत आदि सब में हैं।

या कमल-नाल के साथ क्रीड़ा करती[1] लक्ष्मी जो कवि के ग्रन्थों में वर्णित है मथुरा[2] और अन्य स्थानों के संग्रहालयों में देखी जा सकती है। लीलारविन्द[3] के अन्य संकेत भी मिलते हैं। कवि द्वारा शिव-पार्वती का वर्णन कुषाण काल की बहुत-सी मूर्तियों में मूर्त है। चोटी खोलने और चूमने के दृश्य[4] भी मथुरा के संग्रहालय में देखे जा सकते हैं[5]। मथुरा के एक वेदिका स्तंभ पर शृंगार-पेटिका[6] लिए प्रसाधिका की सुन्दर मूर्ति खुदी हुई है[7]। इसी प्रकार कवि के ग्रन्थों में पाए पूर्णकुंभ[8] हाथ से गेंद मारना-उछालना[9] मुरली वादक हाथ में दंड लिए[10] दौवारिक[11]

---

१ सुगन्धिनिःश्वासविवृद्धतृष्णं बिम्बाधरासन्नचरं द्विरेफम् ।
प्रतिक्षणं संभ्रमलोलदृष्टिर्लीलारविन्देन निवारयन्ती ॥ —कुमार ३।५६
—लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती । —कुमार ६।८४

२ Exhibit No. 2345

३ रत्नोमिरन्तःपरिवेषबन्धि लीलारविन्दं भ्रमयाञ्चकार ॥ —रघु ६।१३

४ भूयो भूयः कठिनविषमां सारयन्ती कपोला-
दामोक्तव्यामयमितनखेनैकवेणीं करेण । —उत्तरमेघ ३

—रुद्धापाङ्गप्रसरमलकैरञ्जनस्नेहशून्यम्
प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम् ॥ —उत्तरमेघ १७

—यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि । —उत्तरमेघ ४१

५ Exhibit No. 186

६ प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव । —रघु ७।१०

७ Exhibit No. (J) 369 M. Museum

८ तस्याधिकारपुरुषैः प्रणतैः प्रदिष्टां प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुम्भाम् ।
—रघु ५।६१
Exhibit No 62 M Museum

९ करामिघातोत्थितकन्दुकेयमालोक्य बालातिकुतूहलेन । —रघु १६।८३
Exhibit No 361 M. Museum

१० वेणुनादशनपीडिताधरा वीणया नखपदाङ्कितोरवः । —रघु १९।३५
Exhibit No. 62 M. Museum

११ लतागृहद्वारगतोऽथ नन्दी वामप्रकोष्ठार्पितहेमवेत्रः । —कुमार ३।४१
Exhibit No G 1 Page 14 68 M. Museum

१२ देखिए, पादटिप्पणी नं ११

आदि की समानता मथुरा संग्रहालय की वस्तुओं में प्राप्त है। यहाँ तक कि कवि के किन्नर[1] और अश्वमुखी[2] तक के प्रतिरूप मथुरा में सुरक्षित आकृतियों में हैं[3]। गुप्तकालीन प्रतिमाओं में कालिदास द्वारा वर्णित कुबेर वरुण इन्द्र का भी बहुत सादृश्य है। रघुवंश के तपोवन के हरिणों से भरे द्वार वाले उटज[4] भी मथुरा की एक मूर्तिशिला में उत्कीर्ण हैं, जहाँ एक मुनि का उटज हरिण एक वेदी एक कमण्डलु और तपोवन के अन्य पदार्थों का पूर्ण चित्रण है[5]।

(७) **कामदेव और यक्ष**—कवि ने पुष्प धनुष और पञ्च बाण लिए कामदेव का जैसा वर्णन किया है[6] बिल्कुल ऐसी ही मृण्मयी मूर्ति मथुरा संग्रहालय में है[7]। मौर्य शुङ्ग कुषाण और प्रारम्भिक गुप्त कला में यक्ष की बहुत-सी मूर्तियाँ हैं, यहाँ तक कि विशेष कला का द्योतक यक्ष-सम्प्रदाय तक चल पड़ा था। कालिदास भी इस प्रभाव से अछूते न रह सके और उन्होंने प्रणय-प्रतीक यक्ष को अपने मेघदूत का नायक बनाया। यक्ष का वर्णन अन्यत्र भी उनके ग्रन्थ में उपलब्ध है[8]। मथुरा संग्रहालय में यक्ष की अनगिनत मूर्तियाँ हैं[9]।

(८) **शिव और बुद्ध**—कुमारसम्भव तीसरे सर्ग में समाधिस्थित शिव का वर्णन पढ़कर ऐसा विश्वास हो जाता है कि उन्होंने बुद्ध और बोधिसत्व की

---

१ उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् ।—कुमार १।१८
२ न दुर्वहश्रोणिपयोधरार्ता भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्यः ।—कुमार १।११
३ Exhibit No F L M Museum
४ वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः ।
पूर्यमाणमदृश्याग्निप्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः ॥—रघु १।४९
—आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः ।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः ॥—रघु० १।५०
५ Exhibit No 1 4 M. Museum
६ इसके अनेक प्रसंग हैं। देखिए कुमार १।४१ ९।५४ ७।९२
—रघु ३।१६, ११।४५
७ Exhibit No 1448
८ गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ।—पूर्वमेघ ७
—यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि ।—उत्तरमेघ ५
—वितर्दिरचना भागा यथास्था विस्मयोन्मुखा ।
यक्षाः किम्पुरुषाः पौरा योषितो वनदेवताः ॥—कुमार ६।३९
९ Exhibit No 5 10 14 E B 24 C. 18

केश-विन्यास—कवि के ग्रन्थों में न मालूम कितने केशविन्यास के ढंग अंकित हैं। अमरकोष के अनुसार 'अलक' का आशय चूर्णकुन्तल है। अर्थात् बालों को घुंघराली आकृति में करना है। कालिदास ने इन्दुमती के बालों को अलक कह स्वयं अलक की व्याख्या 'वलीभृत' शब्द के द्वारा कर दी है[१]। उसके लिए प्रसाधिकाएँ बालों में तरह-तरह के अवलेप प्रयोग किया करती थीं जिससे उनके सरलता से बालों को मरोड़-मरोड़ कर बनाए जा सकें। पति के विरह में यक्षिणी के केशों के लिए कवि ने 'लम्बालक' कहा है, अर्थात् पति के विरह में शृंगारादि परित्यक्त करने से और शुद्ध स्नान करने के कारण तैलादि का प्रयोग न करने से उसके केश लम्बे होकर बार-बार कपोलों पर आ जाते थे[२]। यह अलक विशेष प्रकार का केश-विन्यास गुप्त काल की मृण्मयी नारी-मूर्तियों में देखा जा सकता है।

इसी प्रकार एक और केशविन्यास-प्रणाली 'बर्हभार केश'[३] था। कवि और कालिदास दोनों ने इसको विशेष प्रकार का केशविन्यास कहा है। बीच में माँग निकाल कर दोनों ओर इस प्रकार के छोटे-छोटे बाल बनाए जाते थे कि मोर के पूँछ की आकृति के हो जाते थे। यह प्रणाली भी कुछ मूर्तियों में मिलती है[४]। इसी प्रकार 'मुक्ताजालग्रथित अलकम्'[५] स्पष्ट करता है कि बालों में मोतियों की लड़ियाँ गूँथी जाती थीं। यह गुप्त काल में प्रचुरता के साथ देखने को मिलता है। अवश्य ही कवि ने इसको देखकर ही अपने काव्य में प्रयुक्त किया होगा।

---

१ कुसुमोत्खचितान्वलीभृतश्चलयन्भृङ्गरुचस्तवालकान् ।
करभोरु करोति मारुतस्त्वदुपावर्तनशङ्कि मे मनः ॥ —रघु ८।५३

२ हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति । —उत्तरमेघ २४
—निःश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तीं
शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागण्डलम्बम् । —उत्तरमेघ ३१
M. Museum Exhibit 10 124

३ श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातम्
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ॥ —उत्तरमेघ ४६

४ V. S. Agarwala Rajghat Terracotas J. U. P. R. S. XIV Pt. I (July 1941) Fig. 14

५ या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ॥ —पूर्वमेघ ६७

कालिदास ने नारी-सौन्दर्य में अंग-सौष्ठव पर बहुत ध्यान दिया है। इसमें सबसे बड़ी विशेषता है पयोधरों का पीन होकर परस्पर इतना सट जाना कि उनके बीच में इतना स्थान भी न रहना कि कमलनाल का एक सूत भी समा सके[1]। गुप्तकला में इसका आभास देखा जाता है, कुषाणकला में इसका चिह्न भी नहीं है।

खुदाई से बहुत-सी ऐसी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिनकी लटें लटक रही हैं, स्तन पीन हैं कटि क्षीण है, चौड़ी मेखला और नितम्बों की गुरुता है। आवर्त शोभा अर्थात् गहरी नाभि जो आवर्ताकार है, यह सब एक ओर कवि के वर्णनों से समानता रखती है दूसरी ओर गुप्तकला की विशेषता है। मथुरा के रेलिंग स्तंभों पर यक्षिणियों की मूर्तियाँ इसके उदाहरण हैं[2]।

कवि के ग्रन्थों में असंख्य स्थानों पर मेखला के उदाहरण देखे जा सकते हैं और यह कुषाण काल के उत्तरार्ध और गुप्त काल के पूर्वार्ध में उत्कीर्ण देवियों की मूर्तियों में बहुलता के साथ है[3]।

इन सब संकेतों से विश्वास करना पड़ता है कि कवि गुप्त काल के हैं तथा उनके ग्रन्थों में तत्कालीन कला की पूर्ण छाया है। यह अन्तःसाक्ष्य उस काल की मूर्ति-कला पर प्रखर प्रकाश डालते हैं।

वास्तुकला

मूर्तिकला से अधिक वास्तुकला के संकेत कवि के ग्रन्थों प्राप्य हैं। वास्तु विद्या के विख्यात व्यक्तियों की उपस्थिति[4] तथा कुशल शिल्पी-संघ द्वारा राजधानी का कायापलट हो जाना[5] वास्तुकला के विकास का परिचायक है।

नगर—नगर का कवि ने सूक्ष्म वर्णन किया। साथ ही उसका वर्णन बहुत सुशोभित भी है। नगर की मुख्य सड़क 'राजमार्ग' या 'राजपथ' थी[6]। नगर के

---

१ अन्योन्यमुत्पीडयदुत्पलाक्ष्याः स्तनद्वयं पाण्डु तथा प्रवृद्धम्।
मध्ये यथा श्याममुखस्य तस्य मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम्॥—कुमार, १।४

२. मथुरा 10 J 7

३ प्रदर्शन १ F १४ १६६२ १ ११

४ ज्योतिर्विदैर्वास्तुविधानविद्भिर्निवेशयामास रघुप्रवीरः।—रघु १६।१६

५. तां शिल्पिसंघाः प्रभुणा नियुक्तास्तथागतां सम्भृतसाधनत्वात्।
पुरं नवीचक्रुरपां विसर्गान्मेघा निदाघग्लपितामिवोर्वीम्॥—रघु १६।३८

६. नरेन्द्रमौलिकरविच्युतानि स आहूते राजपथ स्थितानि।—रघु० १६।१२
—अवास्यमं राजपथं स पश्यन्विगाह्यमानां सरयूं च नौभिः।—रघु १४।३१
—नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः।—रघु ६।६७

मध्य बाजार (विपणि) था जिसमें बहुत भीड़ रहती थी। प्रत्येक प्रकार की वस्तुएँ यहाँ क्रय की जा सकती थीं[1]। बाजार के राजपथ दोनों ओर बड़े-बड़े मकान निर्मित थे[2]। यह भाग आपण नाम कहलाता था[3]। नगर में अट्टालिकाएँ आकाश को छूने वाले धवल प्रासाद और उन्नत महल थे। इनके अतिरिक्त सार्वजनिक उपवन सोपानों से युक्त स्नानागार ध्वजस्तंभ तोरण क्रीड़ाशैल प्राकार सिंहद्वार, परिखा आदि का भी कवि ने सम्यक एवं प्रचुर वर्णन किया है। इन सबको हम अब सविस्तर और एक-एक कर लेंगे।

राजपथ—नगर का मुख्य मार्ग राजपथ था। श्री भगवत्शरण चौड़ी सड़क बड़ी सड़क और उच्च पथ को राजपथ[4] कहते हैं[5]। कवि ने राजपथ के लिए राजवीथी[6] शब्द भी कहा है। पी० के० आचार्य ने राजपथ का पृथक उल्लेख इस प्रकार किया है 'सार्वजनिक सड़क राजपथ नगर या ग्राम के चतुर्दिक घूमने वाली सड़क मंगलवीथी या राजवीथी भी कहलाने वाला'[7]। कवि ने राजपथ और राजवीथी दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। संभवतः राजपथ राजकीय राजमार्ग था जो नगर के मध्य से जाता हुआ अन्य नगरों तक पहुँचता था और राजवीथी

---

१ सा मन्दुरासंश्रयिभिस्तुरंगैः शालाविधिस्तंभगतैश्च नागैः ।
पुरावभासे विपणिस्थपण्या सर्वाङ्गनद्धाभरणेव नारी ॥ —रघु १६।४१
—हारांस्तारांस्तरलगुटिकान्कोटिशः शङ्खशुक्तीः
शष्पश्यामान्मरकतमणीनुन्मयूखप्ररोहान् ।
दृष्ट्वा यस्यां विपणिरचितान्विद्रुमाणां च भङ्गान्
संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः ॥ —पूर्वमेघ १४

२ तस्मिन्मुहूर्ते पुरसुन्दरीणामीशानसंदर्शनलालसानाम् ।
प्रासादमालासु बभूवुरित्थं त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥—कुमार ७।५६
—तावत्पताकाकुलमिन्दुमौलिरुत्तोरणं राजपथं प्रपेदे ।
प्रासादशृङ्गाणि दिवापि कुर्वञ्ज्योत्स्नाभिषेकद्विगुणद्युतीनि ।।—कुमार ७।६३

३ स प्रतियोगविस्मयसम्मुखमार्गमापुरराजसरथामुपेत्य ।
प्राक्षेपयन्मौलिरमूखमेत्यमापुष्पकीर्णपथमार्गमुन्नम् ॥ —कुमार ७।५५

४ पूर्व उल्लेख राजपथ रघु १६।१२

५ India in Kalidasa by B S, Upadhyaya Page 246

६ तं राजवीथ्यामधिहस्ति यान्तमाधोरणालम्बितमग्र्यवेशम् ।—रघु १८।३९

७ Dictionary of Hindu Architectur Page 245

अन्तर्भाग[1] में अन्तःपुर या राजकीय हर्म्य रहता था और बहिर्भाग में अतिथि मुनियों से भेंट करने योग्य अग्न्यागार[2] सभागृह[3] कारागृह[4] चित्रशाला[5] संगीतशाला[6] यज्ञशाला[7] आदि रहते थे। महलों पर खुली छत होती थी जहाँ से नभ-शोभा भली-भाँति देखी जा सकती थी[8]। संभवतः राजा ग्रीष्म ऋतु में खुली छत पर शयन किया करता था[9]।

महलों से लगा हुआ प्रमदवन[10] होता था। जहाँ राजा इच्छानुसार अपना मनोरंजन किया करता था। प्रमदवन का मार्ग महल से ही लगा रहता था और कोई पृथक गुप्त मार्ग भी सम्भवतः था जिससे राजा सबकी आँख बचाकर जा सकता था[11]। इस वन में नाना प्रकार के पुष्प फल लतागृह[12] बैठने के

---

१ पी के आचार्य इंडियन आर्किटेक्चर पृ ५८

२. अग्निशरणमार्गमादेशय—अभि पृ ८२
—स त्वं प्रशस्ते महिते मदीये वसंश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे।—रघु ५।२५

३ स राजककुदव्यग्रपाणिभिः पार्श्ववर्तिभिः।
ययावुदीरितालोकः सुधर्मां नवमां सभाम्॥—रघु १७।२७
—नृपस्य नातिप्रमनाः सदोगृहं सुदक्षिणासूनुरपि न्यवर्तत॥—रघु ३।६७

४ सा वधू तपस्विनी तथा पिङ्गलक्या सारभाण्डगृहे पुत्रामिव निक्षिप्ता।
—माल पृ ३११

५, ६ देखिए, पूर्व उल्लेख संगीत और चित्रकला

७ एष अभिनवसम्मार्जितसलिलः शान्तिहितहोमधेनुरग्निशरणालिन्दः।
आरोहतु देवः।—अभि पृ ८१

८ देखिए, पूरा पृष्ठ विक्रम पृ १९६, १९७

९ कमलवनचिताम्बु पाटलामोदरम्यः सुखसलिलनिषेकः सेव्यचन्द्रांशुहारः।
व्रजतु तव निदाघः कामिनीभिः समेतो निशि सुललितगीते हर्म्यपृष्ठे सुखेन॥
—ऋतु १।२८

१० महाराज प्रत्यवेक्षिता प्रमदवनभूमयः।—अभि पृ १०७
—तदग्रभवान् प्रमदवनमार्गमादेशयतु।—विक्रम पृ १७२

११ मां गूढेन पथा प्रमदवनं प्रापय।—माल पृ १२१

१२ एष मणिशिलापट्टकसनाथो माधवीमण्डप उपहाररमणीयतया निःसंशयं स्वागतेनेव नौ प्रतीच्छति।—अभि पृ १०९

लिए विलासगृह[1] और अनेक पक्षी[2] सरोवर फव्वारे[3] आदि थे। इसका वर्णन स्वतन्त्र किया जाएगा।

प्रासाद के प्रकार—कवि के ग्रन्थों में विमानप्रतिच्छन्द[4] मणिहर्म्य[5] मेघप्रतिच्छन्द[6] देवच्छन्दक[7] आदि नाम आए हैं। इन सब में विभिन्नता थी। श्री भगवत्शरण जी ने पुराण के मत के अनुसार 'विमानपरिच्छन्द' को आठ मंजिलों वाला बहुसंख्यक कंगूरों से युक्त और जिसकी चौड़ाई ३४ हाथ थी विशाल प्रासाद कहा है[8]। पी के आचार्य मणिहर्म्य को एक ऊपरी मंजिल एक स्फटिक महल और रत्नजटित प्रासाद कहते हैं[9]। कालिदास के गंगा तरंग

---

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं १२

२ रम्यासु शिशिरे निपीदति तरोर्मूलालवाले शिखी
निर्भिद्योपरिकर्णिकारमुकुलान्याली यते षट्पदः ।
तप्तं वारि विहाय तीरनलिनीं कारण्डवः सेवते
क्रीडावेश्मनि चैष पञ्जरशुकः क्लान्तो जलं याचते ॥ —विक्रम २।२२

—वनच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिकापद्मिनीनाम्
सिन्धुक्षेपाम्भ्यासु परिहरति शिखी भ्रान्तिमद्वारियन्त्रम् ।—मालव २।१२

३ देखिए, पादटिप्पणी नं २ मालव २।१२

—स्निग्धा यन्त्रधारागृह … मणिशिलाशिलिपं जलयन्त्रमन्दिरम् ।
—ऋतु १।२

—यन्त्रप्रवाहैः शिशिरैः परीताम् रसेन धौतां मलयोद्भवस्य ।
शिलाविशेषानधिशय्य निन्युर्धारागृहेष्वातपमृद्धिमन्तः ॥
—रघु १६।४९

४ उत्तरमेघ ९ (निर्णयसागर प्रस संस्करण)

५. एतेन गंगातरंगसश्रीकेण स्फटिकमणिसोपानेनारोह्य मदालसेनापरमप्यीयं मणिहर्म्यपृष्ठम् । —विक्रम पृ ६९

६. मधुरस्वन भैमानि सत्वेनातिक्रम्य मेघप्रतिच्छन्दस्याग्रभूमिमारोपित ।
—अभि पृ १२४

७ यथा उत्स राजा चर्मसिंहपर इव आस्थाय तावदेतस्मिन्निर देवच्छन्दक प्रासाद आरुह्य स्वास्ये । —विक्रम पृ ६७

८. India in Kalidas Page 247

९. A Dictionary of Hindu Architecture Page 467

शिशिरेण स्फटिकमणिशिलासोपानेन[1] से आचार्य के स्फटिक महल की पुष्टि होती है। हो सकता है कि यह संगमरमर का बना हो और निर्माण में कुछ उपकरण मणिमय पदार्थों से बने हों। मेघप्रतिच्छन्द की समानता मानसार के मेघकान्त से है, जिसके अनुसार यह दस मंजिलों वाले वर्ग में आता है[2]। देवच्छन्द भी इसी प्रकार की एक इमारत है। एक और प्रकार के प्रासाद का नाम समुद्रगृह[3] मिलता है। यह प्रमदवन के पास ही रहता था। ग्रीष्म ऋतु में विश्राम करने के लिए यह एक शीतल स्थान था। यह आवास एक प्रकार का विहार-भवन था जहाँ राजा विहार का आनन्द लिया करता था। मालविकाग्निमित्र में राजा ने मालविका के साथ विहार समुद्रगृह में ही किया था। मत्स्यपुराण के अनुसार यह १६ भुजाओं का द्रुमिका महल है[4]।

सौध तथा हर्म्य—कवि के ग्रन्थों में सौध तथा हर्म्य के अनेक संकेत हैं। प्रोफेसर आचार्य सौध को 'एक पलस्तर किया हुआ चूने की सफेदी वाला मकान एक बड़ा महल एक अट्टालिका एक प्रासाद कहते हैं'[5]। मानसार ने हर्म्य को ७ मंजिल की इमारत कहा है[6]। अत सौध और हर्म्य ऊँची छत वाली इमारतें हुईं। मेघदूत में उज्जयिनी की इन्हीं वर्ग की इमारतों का कवि ने वर्णन किया है[7]। इन महलों में कपोत निवास करते कहे गये हैं और कपोत ऊँचे मकानों में ही अपना निवास स्थान बनाते हैं। कुबेर की राजधानी अलका

---

१ देखिए, पिछले पृ की पादटिप्पणी नं ७

२ XXVIII 19-17 Acharya : A Dictionary of Hindu Architecture — Page 512

३ स्मरसि भवान् समुद्रगृहे सखीसहिता मालविका स्थापयित्वा भवन्तं प्रत्यक्षवृत्तोऽस्मि। —माल पृ १२४

४ अध्याय २६९, १८ ४१

५ A Dictionary of Hindu Architecture Page 642

६ २५ २९

७ तां कस्यांचिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः।
दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान्वाहयेदध्वशेषं
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः॥ —पूर्वमेघ ४

८ देखिए, पादटिप्पणी नं ७

के भवन के शिखर बादलों को छूते हुए बताए गए हैं[१]। ऊँचाई के कारण ही यह 'अभ्रंलिह'[२] कहलाते थे। जिनमें ऊपर खुली छत होती थी वे अट्ट हर्म्य[३] या सौध[४] कहलाते थे। यह ईंटों के बने होते थे और ऊपर चूने का पलस्तर रहता था। सौध शब्द से ऐसी ही अभिव्यक्ति होती है। सौधहर्म्य[५] भी इसी का संकेत करता है। 'मणिशिलागृह'[६] शब्द से ऐसा आभासित होता है कि धनवान् अपने गृह का निर्माण संगमरमर से करते होंगे। ऊपर की छत ढालू बनाई जाती थी और इस छत को वलभी[७] की संज्ञा दी गई है। प्रोफेसर आचार्य ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है — छत छप्पर, गृह का सबसे ऊँचा भाग कोठे वाले मकानों का एक बन्द प्रकोष्ठ झरोखा इत्यादि[८]।

भवन[९] आयताकार आँगन से युक्त एक गृह था। कालिदास के मतानुसार

---

१ विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः॥ —उत्तरमेघ १

२. पूर्वोल्लेख

३ प्रयातु तव ।निशाम कामिनीभि समेतो निशि सुखशिशिरे हर्म्यपृष्ठे सुखेन।
—ऋतु १।२८

—अधिहर्म्यपृष्ठे सुरधेनारयणम् ।—विक्रम० ८ १६१

४. मत्तकेकी कुलमिव ... यस्य यान्ती निशीथे
तामुन्निद्रामवनिशयनां सौधवातायनस्थः ।—उत्तरमेघ २८
—शतशतसौधमनवतपाया सौधेषु चामीकरजालवत्सु ।—रघु ७।५

५. गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ।—पूर्वमेघ ७

६ ध्यानसम्मतविभूतिरीश्वरः प्राविशन्मणिशिलागृहं रहः ।—कुमार ८।८१

७ तां कस्यांचिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः ।—पूर्वमेघ ४२

८. A Dictionary of Hindu Architecture Page 537

९. देखिए, पादटिप्पणी नं ७

इसके भीतरी कमरों में शयनागार[1] अन्नागार[2] गर्भवेश्म[3] क्रीडावेश्म[4] और भाण्डगृह[5] आदि थे।

गृह के वातायन[6] सड़क की ओर[7] खुलते थे। छत पर अलिन्द (झरोखे) होते थे। गृह का अग्रभाग 'मुख'[8] कहलाता था जिसको दूसरे शब्दों में द्वार कहा जा सकता है। द्वार के ऊपर तोरण रहता था जो मत्स्य या मकर की आकृति का होता था। मथुरा के म्यूजियम में मकरतोरण का उदाहरण है[10]। तोरण के नीचे देहली भी रहती थी[11]। शिखर मंजिल पर छत[12] भी होते थे। इनका अब पृथक विवेचन किया जायगा।

---

१ वेत्रवती पर्यंकुलोऽस्मि । शयनभूमिमागमनादेशय ।—अभि पृ ९९
—अथानपाये स्तिमितप्रदीपे शय्यागृहे सुप्तजने प्रबुद्ध ।—रघु १६।४

२ पूर्वोल्लेख ।

३ अर्पितस्तिमितदीपदृष्टयो गर्भवेश्मसु निवातकुक्षिषु ।—रघु १९।४२

४ क्रीडावेश्मनि चैष पंजरशुक: क्लान्तो जलं याचते ।—विक्रम २।२२

५ सा खलु तपस्विनी तया पिंगलाक्ष्या सारभाण्डगृहे गुहायामिव निक्षिप्ता ।
—माल पृ ११५

६ प्रासादवातायनसंश्रितानां नेत्रोत्सवं पुष्पपुरांगनानाम् ।—रघु ६।२४
—प्रासादवातायनदृश्यवीचि: प्रबोधयत्यर्णव एव सुप्तम् ।—रघु ६।५६
रघु ७।५-१२ पूर्व उल्लेख । इसी प्रकार कुमारसंभव सप्तम सर्ग पूर्व उल्लेख । वातायन के अनगिनत प्रसंग हैं । अत: उल्लेख करना अति विस्तृत हो जायगा । पूर्वमेघ उत्तरमेघ विक्रमोर्वशीय मालविकाग्निमित्र सब में इसका प्रसंग है ।

७ सड़क की ओर खुलते थे इसका प्रमाण सबसे बड़ा यह है कि अज और महादेव की बारात ऊपर से ही स्त्रियों के द्वारा देखी गई थी—रघु ७।५-१२ कुमार ७।५६-६९ पूर्व उल्लेख ।

८ एष अभिनवसम्मार्जनसश्रीक: सन्निहितहोमधेनुरग्निशरणालिन्द: । आरोहतु देव: ।—अभि पृ ८१

९ माल पृ ११ Edited by S P Sane & Shri G M. Godbole या पृ ७२ निर्णयसागर प्रेस ।

१० Exhibit, No M 2

११ तेषामासामिरुचिरविरसस्यापितस्यावनेवी
बिम्बस्यान्ती मुपि पयनया देहलीदत्तपुष्पै । —उत्तरमेघ २७

१२ इति शिरसिनिघातामिर्वोत्सुको कुमार: सपदि विपत्तिनिरस्तजन्मसुमाज्ञचकार ।
—रघु ५।७६

रास्ते का बोध होता है जो भवन के सामने हो[1]। पर यह कालिदास के द्वारा वर्णित अलिन्द से समानता नहीं रखता। इसका झरोखे का आशय ही उपयुक्त लगता है। सभी बड़े मकानों की छतों पर झरोखे होते थे। अभिज्ञानशाकुन्तल का अग्न्यागार के ऊपर का अलिन्द और मालविकाग्निमित्र (निर्णयसागर प्रेस संस्करण) के समुद्रगृह का अलिन्द इसके प्रमाण हैं।

अट्ट और तल्प—भवनों को सजाने के लिए उन पर अट्ट[2] और तल्प[3] बनाया जाता था। अयोध्या के उजड़ जाने पर उसके भग्न अट्ट और तल्प का कवि ने वर्णन किया है[4]। आचार्य जी अट्ट को प्रकोष्ठ कहते हैं[5]। श्री भगवत्-शरण गृह के शिखर प्रदेश में अवस्थित कमरे को तल्प कहते हैं[6]।

वातायन—राजपथ की ओर खुलते हुए वातायनों का प्रसंग दिया जा चुका है। खिड़की की सामान्य संज्ञा 'वातायन' थी। इसके कई भेद थे—आलोकमार्ग गवाक्ष[8] जालमार्ग[9]। आलोकमार्ग के नाम से व्यक्त होता है कि यह ऐसी खिड़की

---

१ A Dictionary of Hindu Architecture Page 54

२. नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः। —रघु ६।६७
—विशीर्णतल्पाट्टशतो निवेशः पर्यस्तशालः प्रभुणा विना मे ॥
—रघु १६।११

३ पूर्व उल्लेख।

४ देखिए, पादटिप्पणी नं २ —रघु १६।११ विशीर्णतल्पाट्ट......

५ A Dictionary of Hindu Architecture Page 15

६ India in Kalidas Page 250

७ आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः। —रघु ७।६

८ विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन्। —रघु ७।११
—गौरवाद्यदपि जातु मन्त्रिणां दर्शनं प्रकृतिकांक्षितं ददौ।
तद्गवाक्षविवरावलम्बिना केवलेन चरणेन कल्पितम् ॥ —रघु १९।७
—विद्युद्गर्भः स्तिमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे।
वक्तुं धीर स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः ॥ —उत्तरमेघ ४
—इदानीमेव पर्णापाविकमभिनवमुपदिश्य मया विसर्जिताभिलषिता दीर्घिकावलोकनगवाक्षगता प्रवातमासेवमाना तिष्ठति। —माल पृ २११

९ प्रासादवातायनदृश्यबन्धैर्विरम्या रेखा यदि प्रविशुमस्ति काम। —रघु ६।४१
—जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम्। —रघु ७।९

थी जिसमें होकर प्रकाश गृह में प्रविष्ट होता था। शाब्दिक व्युत्पत्ति के अनुसार गवाक्ष गाय की आँख से सादृश्य रखते थे। मानसार में भी इसकी यही व्याख्या है[1]। मालविकाग्निमित्र में ऐसी खिड़की का प्रसंग आया है जिससे उद्यान तड़ाग को देखने के साथ-साथ अन्दर प्रविष्ट होते हुए पवन के झोंकों का भी आनन्द लिया जा सके[2]। वातायन में लकड़ी प्रस्तर, प्लास्टर आदि की जाली लगी होती थी। कालिदास ने सोने की जाली लगी खिड़की का वर्णन किया है[3]। वातायन खुले और बड़े होते थे। चाँदनी उनसे प्रवेश कर कमरे में भर जाती थी[4]। यहाँ तक कि इनसे बादलों के टुकड़े प्रविष्ट हो भित्तिचित्रों को भी मलिन कर देते थे[5]।

आँगन—चारों ओर दीवारों से घिरा हुआ घर में एक आँगन रहता था। इनमें से कोई-कोई स्फटिकजटित थे[6] जो दिन में सूर्य के प्रकाश से चमचमाते थे और रात में आकाश के ज्योतिर्पिंड की प्रतिच्छाया से प्रतिबिम्बित होते थे[7]।

जालनिर्माण—महलों के वातायनादि पर जाली लगी रहती थी इसका वर्णन किया जा चुका है। संध्या के समय धूम इनसे बाहर निकला करता था[8]।

—जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपै-
र्बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः। —पूर्वमेघ ३६

—पादानिन्दोरमृतशिशिराञ्जालमार्गप्रविष्टा-
न्पूर्वप्रीत्या गतमभिमुखं संनिवृत्तं तथैव। —उत्तरमेघ ३२

१ मानसार ३३ ५६८–५९७

२. देखिए पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ८ का अन्तिम वाक्य 'इदानीमेव ...

३. व्यस्तजालोत्प्लवतत्परा सौधेषु चामीकरजालवत्सु। —रघु ७।५

४ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ९ का अंतिम श्लोक 'पादानिन्दो...

५. नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमी-
रालेख्यानां नवजलकणैर्दोषमुत्पाद्य सद्यः।
शङ्कास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशा जालमार्गै-
र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति॥ —उत्तरमेघ ८

६. विन्यस्तवैदूर्यशिलातलेऽस्मिन्नाबद्धमुक्ताफलभक्तिचित्रे। —कुमार ७।१

७ यत्र स्फटिकहर्म्येषु नक्तमापानभूमिषु।
ज्योतिषां प्रतिबिम्बानि प्राप्नुवन्त्युपहारताम्॥ —कुमार ६।४२

८ उत्कीर्णा इव वासयष्टिषु निशानिद्रालसा बर्हिणो
धूपैर्जालविनिर्गतैर्वलभयः संदिग्धपारावताः॥ —विक्रम ३।२

स्नानागार—यंत्रधारागृह[1] तथा धारागृह[2] का कवि के ग्रन्थों में प्रसंग है। ये स्नानागार के ही बोधक हैं। यहाँ पानी के नल भी लगे रहते थे जो स्नान और शीतलता की आवश्यकता के लिए सदा जल प्रवाहित करते रहते थे[3]।

अश्वशाला—प्रासाद के बहिर्भाग में मन्दुरा[4] तथा हाथीशाला[5] होती थी। हाथियों को बाँधने के लिए वहाँ स्तंभ लगे रहते थे[6]।

सोपान—राजमहल[7] सरोवर[8] आदि सबके प्रसंग में सोपान का नाम आया है। विक्रमोर्वशीय में सोपान स्फटिक के होते थे इसका संकेत है। यहाँ गंगा की तरंगों की शोभा स्फटिक सोपान के समान कही गई है[9]। उत्तरमेघ में तड़ाग के जल तक पहुँचने के लिए मरकत के सोपान कहे गए हैं[10]।

वासयष्टि और स्तम्भ—गृहपक्षियों के बैठने के लिए गृहों में वासयष्टियाँ थीं[11]। रघुवंश में ऐसे स्तम्भों का वर्णन है, जिन पर स्त्रियों की आकृतियाँ उत्कीर्ण

---

१ तत्रावश्यं वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयं
नेष्यन्ति त्वां सुरयुवतयो यंत्रधारागृहत्वम् । —पूर्वमेघ ६१

२ यंत्रप्रवाहैः शिशिरैः परीतान् रसेन धौतान्मलयोद्भवस्य ।
शिलाविशेषानधिशय्य निन्युर्धारागृहेष्वातपमृद्धिमन्तः ॥ —रघु १६।४९

३ देखिए, पादटिप्पणी नं २

४ सा मन्दुरासंश्रयिभिस्तुरंगैः शालाविधिस्तंभगतैश्च नागैः ।
पूरावभासे विपणिस्थपण्या सर्वांगनद्धाभरणेव नारी ॥ —रघु १६।४१

५, ६ देखिए, पादटिप्पणी नं ४ रघु १६।४१

७ वैदर्भनिर्दिष्टमसौ कुमारः क्लृप्तेन सोपानपथेन मंचम् । —रघु ६।३
—सोपानमार्गमादेशय—अभि पृ १२६
—एतेन गंगातरंगसश्रीकेण स्फटिकमणिसोपानेन आरोहतु भवान्सरोजाकर-
रमणीयं मणिहर्म्यपृष्ठम् । —विक्रम पृ १११

८ सोपानमार्गेषु च येषु रामा निक्षिप्तवत्यश्चरणान्सरागान् । —रघु १६।१५
—सा तीरसोपानपथावतारादन्योन्यकेयूरविघट्टिनीभिः । —रघु १६।५६
—वापी चास्मिन्मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा । —उत्तरमेघ १६

९ देखिए पादटिप्पणी नं ७

१ देखिए, पादटिप्पणी नं ८ का अंतिम श्लोक।

११ तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि-
मूले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः । —उत्तरमेघ १९
—वृक्षेशया यष्टिनिवासभंगान्मृदंगशब्दापगमादलास्याः । —रघु १६।१४

थी । मालविकाग्निमित्र में भी स्तंभ[1] का नाम आया है, पर इन पर खुदाई का काम बिल्कुल न था ।

अन्य इमारतें—उपरोक्त इमारतों में अतिरिक्त विवाहमंडप चतुष्क[3] यज्ञोगृह[4] चतुःशाला[5] आदि भी थे । विवाह-मंडप चतुष्क कहलाती थी पर अभिषेकगृह स्वामी । इसी प्रकार यज्ञशाला[6] भी-थी जो यज्ञ की मंडलाकार भूमि हो थी । यहाँ यज्ञ हुआ करते थे । देवताओं के बलि-प्रदान की उपासना के लिए प्रतिमागृह[7] थे । स्वयंवर[8] के लिए राजप्रासाद के बाहर मंचों की पंक्तियाँ बनाई जाती थीं । इनके बीच में मार्ग रहता था[9] ।

उपवन और उद्यान—नगर के उद्यानों की परम्परा थी[10] । उपवन के दो प्रकार हमको प्राप्त होते हैं प्रमदवन[11] और नागरिकों के उद्यान[13] । प्रमदवन

---

१ स्तम्भेषु योषित्प्रतिमायातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम ।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति संगान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः ॥—रघु १६।१७

२ स्तम्भान्तरिता राजानं सङ्केतैम्य । —माल पृ १११
—अहमपि तावदस्य प्रमुखात्स्कोकापसत्य स्तम्भान्तरिता भवामि ।
—माल पृ १४१

३ चतुष्कपुष्पप्रकराववकीर्णयोः परोऽपि को नाम तवानुमन्यते । —कुमार ५।६८
—धात्री वसानामभिषेकयोर्म नायचतुष्काभिमुखं न्यनैषु । —कुमार ७।९
—वैदर्भनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनासीव चतुष्कमन्त । —रघु ७।१७

४ पूर्व उल्लेख

५ माल पृष्ठ ८० (निर्णयसागर प्रेस संस्करण)

६ माल पृ १ २ (निर्णयसागर प्रेस संस्करण)

७ छत धनमी सपमूपद्वारो पुर पराध्र्यप्रतिमागृहाया) —रघु १६।३९[8]
— अयोध्यादेवतादर्शनं प्रशस्तायतनार्चिता ।
अनुध्यानुरनुध्येयं सान्निध्यं प्रतिमागतैः ॥ —रघु १७।३६

८ रघु सर्ग ६

९ न तत्र मंचेषु मनोज्ञवेषान्सिंहासनस्थानुपचारवत्सु । —रघु ६।१

१० विवेश मञ्चान्तरराजमार्गं पतिंवरा क्लृप्तविवाहवेषा । —रघु ६।१

११ विप्रावकृष्टाभिजनप्रियतामु विहंगुमुद्यानपरम्परासु । —रघु ६।१९

१२ पूर्व उल्लेख

१३ विकासिभिर्वायुपितामि पौरे पुरोपकण्ठोपवनानि रेमे । —रघु १६।३१

राजा और उसके विशेष सम्बन्धियों के लिए होता था अतः राजमहल के पास होता था। दूसरे प्रकार के उद्यान सामान्यतः नगर के बाहर होते थे। दोनों उद्यान ही अति शोभाकार होते थे। इनमें अनेक प्रकार के फल और फूल रहते थे, स्फटिक की शिलाएँ[1] पड़ी रहती थीं। विकासपूर्ण तड़ाग (दीर्घिका)[2], वापी[3] और कूप[4] रहते थे। पक्षियों के बैठने के लिए वासयष्टि[5], फव्वारे[6] यहाँ तक कि श्री भगवतशरण जी के शब्दों में चिड़ियाखाना तक रहता था[7]।

दीर्घिका, वापी और कूप—इनमें अवश्य अन्तर था। दीर्घिका[8] कदाचित् लम्बा तड़ाग थी और सम्भवतः उद्यान के निर्झर से इसमें पानी आता था। श्री आचार्य वापी की व्याख्या एक तालाब, एक कुँआ, एक पानी का स्रोत करते हैं[9]। कालिदास वापी को रमणीय तड़ाग के अर्थ में प्रयोग करते हैं। हो सकता है कि दीर्घिका और वापी में आकार का ही अन्तर हो, एक लम्बा हो

---

१ पूर्व उल्लेख भवि पृ १९

२ विकचतामरसा गृहदीर्घिका मदकलोदकलोलविहंगमा। —रघु० ९।३७

—वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम्।

—रघु०, १६।१३

—पुरे तावन्तमेवास्य तनोति रविरातपम्।

दीर्घिकाकमलोन्मेषो यावन्मात्रेण साध्यते॥ —कुमार० २।३३

—पत्रच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिकापद्मिनीनाम्। —माल०, २।१२

—दीर्घिकावलोकनगवाक्षगता प्रवातशयनमास्थिता तिष्ठति।

—माल० अंक १ पृ० १११

३ वापी चास्मिन्मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा

हैमैश्छन्ना विकचकमलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः। —उत्तरमेघ ११

—वापीजलानां मणिमेखलानां शशाङ्कभासां प्रमदाजनानाम्।

—ऋतु १।४

४ भवति नवमयूख सततस्पोपमिन्दुम् पारमृतकमसिद्ध मौक्तिकत्वमु नृपाणां।

—ऋतु १।२१

५ पूर्व उल्लेख। ६ पूर्व उल्लेख।

७ कुमारी वसुकामी मन्दुगमनुपातन्ती सिंहशावकेन शकुन्तलामिता।

—भा० पृ २१२

८ पूर्व उल्लेख देखिए पादटिप्पणी नं० २

९ A Dictionary of Hindu Architecture Page 543

इसमें छिटकती हुई बूँदें कही गई हैं और 'रहट' के ढोल से बूँदें छिटकती नहीं अपितु जल नीचे टपकता है। इसके अतिरिक्त भ्राम्यमत् शब्द का प्रयोग इसके लिए नहीं हो सकता[1]। अतः कवि का स्पष्ट ही अपनी गति से भ्रमणशील निर्झर' से आशय है। इसके ऊपर का नीप घूमता रहता था अतः मयूर को जल पीने के लिए चारों ओर चक्कर लगाना पड़ता था।

देवालय और यूप—महाकाल[2], स्कन्द[3], विश्वेश्वर[4] आदि अनेक देवताओं के मन्दिर का कवि के ग्रन्थों में उल्लेख किया गया है। नगर में यज्ञस्तम्भ[5] भी थे और यूप भी। यूप बलिपशु को बाँधने का स्तम्भ था[6]। मथुरा संग्रहालय में इसके नमूने प्रदर्शित हैं।

नगर के प्राकार के विशाल द्वार अर्गला की सहायता से बंद हुआ करते थे[7]। मथुरा संग्रहालय में प्रदर्शित यूप में नीचे की ओर अर्गला की आकृति भी अंकित है।

---

१ India in Kalidas Page 254

२ भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः
पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य ।
धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या-
स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ॥
—अप्यन्यस्मिन् जलधर महाकालमासाद्य काले
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः ।
कुर्वन्सन्ध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया-
मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् ॥ —पूर्वमेघ ३७ ३८

३ तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगङ्गाजलार्द्रैः ।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना-
मत्यादित्यं हुतवहमुखे सम्भृतं तद्धि तेजः ॥ —पूर्वमेघ ४५

४ आराध्य विश्वेश्वरमीश्वरेण तेन क्षितेर्विश्वसहो विजज्ञे ।
पातुं सहो विश्वसखः समग्रां विश्वम्भरामात्मजमूर्तिरात्मा ॥ —रघु १८।२४

५. हस्तार्पणैर्वैदिकयज्ञविद्भिर्धर्मं समासाद्य कुश सरय्वाः ।
वेदिप्रतिष्ठान्वितताध्वराणां यूपानपश्यच्छतशो रघूणाम् ॥—रघु १६।३५

६ पौत्रः कुशस्यापि कुशेशयाक्षः ससागरां सागरधीरचेताः ।
एकातपत्रां भुवमेकवीरः पुरार्गलादीर्घभुजो बुभोज ॥ —रघु १८।४

७. देखिए, पादटिप्पणी नं० १

वास्तुकला के नियम के अनुसार किसी निर्माण कार्य के समाप्त हो जाने पर स्थापत्य के अधिष्ठाता देवता की पूजा की जाती थी इसमें पशुओं की बलि भी दी जाती थी[1]। पूजन के पश्चात् ही उस भवनादि का प्रयोग किया जाता था।

1

ग्यारहवाँ अध्याय

शिक्षा

शिक्षा-केन्द्र

(१) आश्रम—शहर के कोलाहल तथा अशान्त वातावरण के बाहर स्थित ऋषियों के आश्रम जहाँ शान्ति और निस्तब्धता की प्रचुर मात्रा थी शिक्षा के सर्वोत्कृष्ट केन्द्र थे। स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर इसकी महत्ता बतलाते हुए कहते हैं कि भारतवर्ष में सबसे आश्चर्यजनक बात ध्यान देने की यह है कि यहाँ शहर नहीं वरन् वन सर्वोत्कृष्ट संस्कृति के जन्मदाता हुए। इन जंगलों में यद्यपि मनुष्य ही रहते थे परन्तु संघर्ष और कलह का लेशमात्र भी चिह्न न था। यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात है कि इस एकाकी जीवन और एकान्तता ने मनुष्य को अकर्मण्य न बनाकर ज्ञान का विस्तार ही किया[1]। वाल्मीकि कण्व वसिष्ठ, मारीच च्यवन ऐसे ही ऋषि थे जो एकान्तवासी होते हुए भी शिक्षा प्रदान करने में सर्वश्रेष्ठ हुए। लव कुश, वामन भरत सब इन्हीं ऋषियों द्वारा आश्रम में शिक्षित हुए। स्वयं राम ने वाल्मीकि-आश्रम में राक्षसों को मारते समय बहुत-से अस्त्रों का चलाना सीखा था।

कण्व-आश्रम का विवरण सविस्तर राधाकुमुद मुकर्जी ने दिया है। "इस आश्रम में बहुत-से छोटे-छोटे आश्रम थे जहाँ असंख्य विषयों की शिक्षा दी जाती थी। यहाँ प्रत्येक प्रकार के ज्ञान में निपुण व्यक्ति रहा करते थे चारों वेदों में निपुण यज्ञ संबंधी-साहित्य के विज्ञ, पद और क्रमपाठ के अनुसार संहिता का पाठ करने में विशेषज्ञ छन्द शिक्षा व्याकरण निरुक्त में प्रवीण आत्म-विज्ञान ब्रह्मोपासना

---

१ "A most wonderful thing we notice in India is that here the forest not the town is foundation head of all its civilisation."

—Page 63 & 64

—Glimpses of education in Ancient India by Radha Kumud Mukerjee published in Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute Vol XXV

बहुत विभिन्नता थी। आश्रमों में वैयक्तिक महत्त्व था। गुरु और अध्यापक का विद्यार्थी के साथ सीधा सम्पर्क रहता था। रुचि और योग्यतानुसार छात्र को शिक्षा दी जाती थी। विहार में सामूहिक जीवन सामूहिक शिक्षा और बन्धुत्व का बोध। सामान्य अनुशासन सामान्य शिक्षा सामान्य श्रम इनकी विशेषताएँ थीं। विहार एक प्रकार से पृथक नगरी (Separate Colony) ही थी जहाँ वर्णी आदि के द्वारा अन्न उपजाया जाता था। इसके विपरीत गुरुकुल का वातावरण घर का-सा रहता था। अतः घर की-सी देख-रेख घर का-सा स्नेह और अपनापन था। विहार में यह भावना न थी। उसका वातावरण आधुनिक स्कूल-कालेजों का-सा था यद्यपि सामूहिक जीवन के साथ-साथ ऐकान्तिक जीवन जिसमें छात्र तपस्या और अध्ययन कर सके गुरु के निर्देशन और संरक्षण में इस प्रकार को उस सुविधा प्राप्त हो जाती थी।

अमीर घर के छात्र समस्त शिक्षा का शुल्क पहले ही दे देते थे। निर्धन दिन में गुरु की सेवा करते और इसके बदले रात में पढ़ते थे। यहाँ विद्यार्थी ऐसे भी थे जो वहीं रहते थे और पढ़ते थे और ऐसे भी जो केवल पढ़ने के लिए आते थे।

ऐसे स्कूल भी थे जो सब प्रकार की जातियों के लिए (चांडाल के अतिरिक्त) खुले रहते थे (public Schools) परन्तु ऐसे भी थे जो केवल ब्राह्मणों के लिए या केवल क्षत्रियों के लिए (Community Schools[1]) थे।

शिक्षा का उद्देश्य और आदर्श

कालिदास ने शिक्षा का ध्येय 'सम्यगागमिता विद्या प्रबोधविनयाविव'[2] उपमा के द्वारा प्रबोध अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति तथा विनय अर्थात् शील-सम्पन्नता इन दोनों को ही बताया है। केवल ज्ञान से ही मनुष्य भद्र नहीं होता उसे शीलवान् भी होना चाहिए। कदाचित् उनका यही अभिप्राय था कि शील के न होने से मनुष्य के स्वभाव में लोभ मात्सर्य द्वेष इत्यादि विकार आ जाते हैं अतः यदि इस प्रकार के मनोविकार जन्म लें तो ज्ञान से कोई लाभ नहीं।

दूसरे शब्दों में शिक्षा का उद्देश्य केवल पुस्तकीय ज्ञान नहीं अपितु व्यक्ति का पूर्ण विकास था। शिक्षा का तात्पर्य मस्तिष्क को सूचनालय बनाना नहीं अपितु उसकी शक्ति को विकसित करना था। अतएव में चरित्र निर्माण

---

1. Taken from Imperial Age of Unity of India—Education by Radha Kumud Mukerjee page 591
2. सुतो लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रा सुषुवे यमौ।
   सम्यगागमिता विद्या प्रबोधविनयाविव ॥ —रघु १ १०१

व्यक्तित्व का विकास प्राचीन संस्कृति की रक्षा धार्मिक और सामाजिक-क्षेत्र में उदीयमान संतति का परिस्थिति के अनुसार दीक्षण शिक्षा के प्रधान उद्देश्य थे[1]।

राम दुष्यन्त आदि के चरित्र से स्पष्ट है कि सत्य बोलना वचन से मुँह न मोड़ना पराई स्त्रियों की ओर न देखना आत्म-सम्मान आत्म-विश्वास संयम उच्च शिक्षा के आदर्श थे। सदाचार, पवित्रता और अनुशासन का जीवन के प्रत्येक अंग में स्थान था। उत्तरदायित्व समझना कर्त्तव्यपालन और सामाजिक कर्त्तव्यों पर ध्यान देना लक्ष्य था।

शिक्षा का सच्चा उद्देश्य और आदर्श इसी बात में है कि वह जीवन का अलंकार और पवित्रकर्ता बने। हिमवान् पार्वती के जन्म से ही पवित्र हो गया था[2]। अतः सच्चा आदर्श यही नहीं कि वह जीवन क्षेत्र और सामाजिक मग के लिए योग्य बनाए वरन् उसके जीवन को पवित्रता की ओर ले जाय। 'असतो मा सद्गमय' उपनिषद् के वाक्य को सार्थक बनाना ही शिक्षा का चरम आदर्श था। थोड़े-से शब्दों में आदर्श जीवन ही आदर्श शिक्षा है। सच्चा मनुष्य वही नहीं जो युद्ध में शस्त्रों के बीच वीरता दिखाए, अपितु जीवन-संग्राम में भी वीर प्रमाणित हो। दिलीप इस प्रकार का आदर्श था जो आकार और बुद्धि दोनों में चरम पराकाष्ठा को प्राप्त कर गया था[3]। रघु और राम भी इसी आदर्श के प्रतीक थे। धर्म अर्थ और काम त्रिवर्ग की प्राप्ति जो विद्या कराए वही सच्ची विद्या है।

लिप्तेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् ।—रघु १८।१

1 Formation of character building up of personality preserva—tion of ancient culture and training of the rising generation in the performance of the social and religious duties—were the main aims of education

—Education in Ancient India by Dr A S. Altekar

२ प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः ।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च ॥
—कुमार ११२८

३ व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः ।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः ॥ —रघु ११३
—आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः ।
आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः ॥ —रघु ११५

आदर्श शिक्षक—शिक्षा के आदर्श के सम्बन्ध में कालिदास शिक्षक के आदर्श पर दृष्टिपात करते हैं। आदर्श शिक्षक वही है जो ज्ञान-सम्पन्न भी हो पर शिक्षा देना भी जानता हो[1]। जितनी शिक्षा दूसरों को दी जाती है उतनी ही अपने ज्ञान की वृद्धि होती है[2]। इसके अतिरिक्त केवल जीविका के लिए शिक्षा-दान करना निन्दनीय है। आदर्श उपकार का रहना चाहिए। पेट के लिए ज्ञान बेचने वाले शिक्षकों को कवि वणिक कहकर व्यंग्य करता है[3]।

शिक्षक का कौशल इसी में है कि वह विद्यार्थियों के मन की लगन बुद्धि पात्रता को देख कर उसके अनुकूल शिक्षा दे। इस प्रकार की सावधानी से परिश्रम निष्फल नहीं हो पाता। शिक्षा के लिए अयोग्य विद्यार्थी को चुनने से शिक्षक का मन्द बुद्धित्व व्यक्त होता है[4]। सत्पात्र में विद्या फलती है[5]। यदि विद्यार्थी योग्य होता है, तो वह इतनी योग्यता से सब कुछ ग्रहण करता है कि आभासित होता है कि वह अध्यापक को सिखा रहा है[6]। ऐसे विद्यार्थी को पाकर शिक्षक भी अति प्रसन्न होता है। उसे इतनी प्रसन्नता होती है जैसे वर्षा का एक बिन्दु मुक्ताफल के मूल्य को प्राप्त कर गया हो[7]। विद्यार्थी को योग्य से योग्य बनाना शिक्षक का कर्तव्य था।

शिक्षक वही सफल था जिसके ज्ञान की प्रशंसा अन्य मनुष्य करें। प्रमाण निर्णायक की प्रशंसा थी।

---

१ श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव॥
—माल० १।१६

२ सुशिक्षितोऽपि सर्व उपदेशेन निष्णातो भवति। —माल० अंक १ पृ० २०७

३ लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोस्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम्। —माल० १।१७

४ यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति। —माल० १।१७
—विनेतुरद्रव्यपरिग्रहोऽपि बुद्धिलाघवं प्रकाशयतीति।
—माल० अंक १ पृष्ठ २०९

५ अवन्ध्ययत्नाश्च बभूवुरत्र ते क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति। —रघु० ३।२९

६ यद्यत्प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै।
तत्तद्विशेषकरणात्प्रत्युपदिशतीव मे बाला॥ —माल० १।५

७ पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य॥ —माल० १।६

८ कनीयं विद्य पुरा सन्ततमुपदेशिन।
ग्लायमाने न युज्यन्ते च साधनमिवाग्निषु॥ —माल० २।९

गुरु का उत्तरदायित्व—योग्य शिष्य को विद्यादान देना गुरु का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व था[1]। योग्य शिष्य का चुनाव और उसको योग्य बनाने में गुरु की सावधानता थी। शिष्य की योग्यता गुरु की योग्यता थी। अपना सब कुछ सिखा देना गुरु का कर्तव्य था। संक्षेप में शिक्षक अपने आदर्शों का पालन कर, यही उसका दूसरे शब्दों में उत्तरदायित्व था।

यथार्थ में शिष्य अपने पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण ही विद्या को देर से अथवा शीघ्र ग्रहण करता है[2]। यह उस समय का विश्वास था परन्तु फिर भी शिष्य के मन्द बुद्धि होने पर भी उसे योग्य-से-योग्य बनाना शिक्षक का कर्तव्य और उत्तरदायित्व था।

शिक्षक का समाज में स्थान—जिस प्रकार सूर्य अपने प्रकाश से सोए हुए संसार को जगा देता है वैसे ही अज्ञान का नाश कर मनुष्य को नवीन बुद्धि देने में शिक्षक समर्थ होता है। इस उपमा के द्वारा कालिदास ने शिक्षक-वर्ग को सूर्य कहकर उन्हें समाज में अति उच्च स्थान दिया है[3]। अपना सब कुछ सिखा देने वाला शिक्षक न केवल शिष्य के द्वारा अपितु राजा के द्वारा भी अपूर्व सम्मान प्राप्त करता था। गुरुओं का देवता के समान आदर होता था। समय समय पर विद्या की समाप्ति के पश्चात् भी व्यक्ति परिस्थिति के अनुसार उनके पास जाते और उचित परामर्श लिया करते थे। सभी रघुवंशी राजा कुलगुरु वशिष्ठ से प्रत्येक बात निवेदित कर उनसे परामर्श लेते[4] और उनके आदेशों को वेद-वाक्य मानकर अक्षरशः पालन किया करते थे[5]।

---

१ सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाशोचनीया संवृत्ता —अभि अंक ४ पृ ११

२ तां हंसमालाः शरदीव गंगां महौषधिं नक्तमिवात्मभासः ।
स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः ॥ —कुमार १।३

३ अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धे कुशली गुरुस्ते ।
यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः ॥ —रघु ५।४

४ तस्मान्मुच्ये यथा तात संविधातुं तथार्हसि ।
इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थे त्वदधीना हि सिद्धयः ॥ —रघु १।७२

५ तथेति प्रतिजग्राह प्रीतिमान्सपरिग्रहः ।
आदेशं देशकालज्ञः शिष्यः शासितुरानतः ॥ —रघु १।९२

शिक्षक-वर्ग—इस वर्ग के अन्तर्गत गुरु[1] उपाध्याय[2] आचार्य[3] कुलपति[4] आदि कई प्रकार के शिक्षक आते हैं। वसिष्ठ जी रघुवंशी राजाओं के गुरु थे। वे कुलगुरु कहलाते थे। विक्रमोर्वशीय में उर्वशी के द्वारा नाटक में भूल हो जाने के कारण जिसके द्वारा शाप दे दिया गया था उसको कालिदास ने उपाध्याय कहा है। मालविकाग्निमित्र में आचार्य हरदास और आचार्य गणदास नाम आए हैं। कण्व ऋषि कुलपति कहलाते थे। इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि इनमें विभिन्नता थी। आचार्य कदाचित् वे कहलाते होंगे जो ललितकलाओं के ज्ञाता हों। मालविकाग्निमित्र के आचार्य हरदास और गणदास ललितकलाओं में ही दक्ष थे। अतः आचार्य एकांगी विद्वान् ही हुआ करते थे। कुलगुरु वसिष्ठ जी से रघुवंशी सभी राजाओं ने शिक्षा प्राप्त की थी अतः वे अवश्य ही प्रत्येक प्रकार की विद्या जानने वाले होंगे। शास्त्र-वेद के साथ शस्त्र-शिक्षा राजनीति आदि सभी विद्याएँ उन्होंने राजकुमारों को पढ़ाई होंगी। अतः गुरु एक से अधिक विषयों के ज्ञाता हुआ करते थे। आचार्य की अपेक्षा गुरु का स्थान बहुत उच्च है। श्री वासुदेवशरण अग्रवाल उपाध्याय को सांसारिक और विज्ञान-सम्बन्धी तत्त्वों का ज्ञाता कहते हैं[5]। विक्रमोर्वशीय में उर्वशी के द्वारा भूल हो जाने पर उस शिक्षक अर्थात् नाट्यशास्त्र के वेत्ता ने शाप दे दिया था। यही शाप देने वाले उपाध्याय के रूप में कवि के द्वारा विभूषित किए गए हैं। आश्रम में जो सब ऋषियों का गुरु अथवा ऋषियों का स्वामी होता था कुलपति कहलाता था। सब उसकी आज्ञा उसी प्रकार शिरोधार्य करते थे जैसे समस्त परिवार अपने

---

१ अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयतौ पुत्रकाम्यया।
तौ दम्पती वसिष्ठस्य गुरोर्जग्मतुराश्रमम् ॥—रघु १।३५

२ येन मयोपदेशस्तस्या लंघितस्तेन न ते दिव्यं स्थानं भविष्यति इति उपाध्यायस्य शापः। —विक्रम अंक ३ प ११३

३ किमिदं शिष्योपदेशकाले भगवताचार्याभ्यामौत्सुक्यम्।
—माल० अंक १ पृ २०१

४ अपि संनिहितोऽत्र कुलपतिः —अभि अंक १ पृ ६

५ "The Adhyapaka seems to have been a teacher entrusted with the teaching of secular and scientific treatises whose later designation Upadhyaya is often mentioned in the Maha bhashya"
—India as known to Panini Page 283

मुख्य ज्येष्ठ व्यक्ति था। वसिष्ठ भी कुलगुरु के साथ कुलपति भी थे[1]। इसी प्रकार कण्व भी कुलपति कहलाते थे[2]।

यह गुरु प्रायः मुनि-स्वभाव के होते थे परन्तु आज्ञा का उल्लंघन किसी प्रकार का स्खलन[3] अथवा शिष्य की अविनयशीलता[4] इनको असह्य थी। वैसे ये अपने शिष्यों के प्रति अति सच्ची सहानुभूति करने वाले और उदार थे। इसके लिए यह आवश्यक नहीं था कि वे संन्यासी या ब्रह्मचारी अथवा गृही हों। कण्व संन्यासी और ब्रह्मचारी थे[5] परन्तु वसिष्ठ सपत्नीक अरुन्धती के साथ ही रहते हुए अध्यापन किया करते थे[6]।

वेतन—कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिलता कि ठीक-ठीक विदित हो जाय कि अध्यापक या गुरु का वेतन कितना होता था। ऐसी सम्भावना हो सकती है कि शिक्षा की समाप्ति पर जो जितना देना चाहता था वे देता था। उसके न दे सकने पर राजा का कर्तव्य था कि वह दे। न दे सकने पर विद्यार्थी का इतना अपमान नहीं था जितना राजा का[7]। इसी गुरुदक्षिणा को वेतन कहा जा सकता है, परन्तु गुरु निर्धनता के कारण किसी का तिरस्कार करे और न मांगे, ऐसा नहीं होता था। गुरु शिष्य की भक्ति से प्रसन्न होकर उसकी गुरु-भक्ति को ही गुरु-दक्षिणा समझ लेता था[8] और कुछ भी नहीं लेता था। कौत्स ऋषि के उदाहरण से इन सब बातों की पुष्टि होती है।

---

१ निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशालामध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः।
—रघु १।९५

२. अपि सन्निहितोऽत्र कुलपतिः—अभि अंक १ पृ ९

३ न खलु तामभिक्रुद्धो गुरुः—विक्रम अंक ३ पृ २९१

४ निर्बन्धसंजातरुषार्थकार्श्यमचिन्तयित्वा गुरुणाहमुक्तः।
वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति॥ —रघु ५।२१

५. भगवान् काश्यपः शाश्वते ब्रह्मणि स्थित इति प्रकाशः।
—अभि अंक १ पृ १२

६ दिने सायंतनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम्।
अध्यासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम्॥ —रघु १।५६

७ गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम्।
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे मा भूत्परीवादनवावतारः॥ —रघु ५।२४

८ समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद् गुरुदक्षिणायै।
स मे चिरायास्खलितोपचारां तां भक्तिमेवागणयत्पुरस्तात्॥ —रघु, ५।२

दक्षिणा गुरु माँगता था। अतः वह चाहे कुछ भी गुरुदक्षिणा में माँग सकता था। उसके द्वारा माँगे जाने पर शिष्य को कहीं-न-कहीं से लाकर गुरु को वांछित वस्तु देनी होती थी। इसी को विद्यार्थियों की फीस या गुरु का वेतन कहा जा सकता है। यह दक्षिणा व्यक्ति और परिस्थिति के अनुसार विभिन्न प्रकार की होती थी और चाहे तो गुरु नहीं भी लेता था। गुरु गुरुदक्षिणा के नाम से कभी कभी कोचित भी बहुत लेता था[1]। अतः निष्कर्ष निकलता है कि गुरु निस्स्वार्थ भाव से पढ़ाते थे और धन-प्राप्ति को बुरा समझते थे। मालविकाग्निमित्र में भी उस गुरु को बनिया कहकर ही तिरस्कृत दृष्टि से देखा गया है जो रुपये लेकर ज्ञान देता है। मालविकाग्निमित्र में आचार्य हरदास आचार्य गणदास वेतन लेकर ही नृत्य की शिक्षा देते थे परन्तु विदूषक के कहने के ढंग से कि 'वेतन ही क्यों न लिया जाय इन पेटुओं का कारण नहीं तो इनको वेतन देकर पालने से लाभ ही क्या'[2] अवश्य ही वेतन लेकर पढ़ाना निन्दनीय समझा जाता था ऐसी सम्भावना लगती है।

गुरुदक्षिणा में स्वर्ण-मुद्राओं[3] तथा गायों[4] दो का प्रसंग रघुवंश में आया है। यह उनकी अपनी ही सम्पत्ति हो जाती होगी जिसे वे परिस्थिति के अनुसार अपने आश्रम में रहने वाले शिष्यों के ऊपर व्यय कर देते होंगे। निर्धन छात्रों को रखने के लिए अवश्य ही धन चाहिए। इसके अतिरिक्त आश्रमों में जीविकोपार्जन के लिए खेती या अन्य कोई व्यवसाय न था। अतः जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए गाय से दूध दही आदि की प्राप्ति और स्वर्ण-मुद्राओं से थोड़ा-बहुत अन्न और अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती होगी।

विद्यार्थी

शिक्षा प्राप्ति की अवस्था—शैशव काल में विद्या का अभ्यास किया

---

१ निर्बन्धसंजातरुषार्थकार्श्यमचिन्तयित्वा गुरुणाहमुक्तः।
वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति॥ —रघु ५।२१

२ भवति पण्याम् उदरम्भरिसंवादम्। किं मया वेतनदानेनैतयाम्।
—माल अंक १ पृ २०८

३ देखिए, पादटिप्पणी नं १

४ अथैकधेनोरपराधचण्डाद्गुरोः कृशानुप्रतिमाद्बिभेषि।
शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोध्नीः॥

जाता था[1]। चूड़-संस्कार के पश्चात् विद्यारम्भ हो जाता था[2]। अतः सम्भावना यही है कि ५वें वर्ष में विद्या पढ़ानी प्रारम्भ कर दी जाती थी। थोड़ा-बहुत वर्णमाला का लिखना-पढ़ना इसी अवस्था में सीखते थे[3]। आरम्भ में तीन प्रकार की शिक्षा दी जाती थी—मौखिक और लिखित[4] तथा व्यावहारिक[5]। उपनयन-संस्कार के पश्चात् पूरी तौर से पढ़ाई प्रारम्भ हो जाती थी[6]।

विद्याध्ययन की अवधि—आश्रमों में उपनयन-संस्कार के पश्चात् बालक प्रविष्ट होते थे उसके पूर्व बालक पिता से भी कुछ सीख सकता था। रघु ने बहुत-सी बातों की शिक्षा पिता से ही ली थी[7]। इसी प्रकार कुश ने भी विद्या अपने पुत्रों को पढ़ा दी थी[8]। आश्रमों में बालकों की शिक्षा युवावस्था तक होती थी। बाल्यावस्था व्यतीत करने के पश्चात् जब बालक युवावस्था में प्रवेश करता था तभी उसकी विद्याध्ययन की अवधि भी समाप्त हो जाती थी। इसी समाप्ति पर उसका विवाह होता था[9]। राजकुमार आयुष जब कवच धारण करने योग्य हो गया तब उसकी शिक्षा समाप्त हो गयी और वह पिता के पास पहुँचा दिया

---

१ शैशवेऽभ्यस्तविद्यानाम्—रघु १।८

२ स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः ।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् ॥ —रघु ३।२८

३ देखिए, पादटिप्पणी नं० २

४ न्यस्ताक्षरामक्षरभूमिकायां कार्त्स्न्येन गृह्णाति लिपिं न यावत् ।
सर्वाणि तावच्छ्रुतवृद्धयोगात्फलान्युपायुङ्क्त स दण्डनीतेः ॥ —रघु १८।४६

५ व्यूह स्थितः किंचिदिवोत्तरार्धमुन्नद्धचूडोऽञ्चितसव्यजानुः ।
आकर्णमाकृष्टसबाणधन्वा व्यरोचतास्त्रेषु विनीयमानः ॥ —रघु १८।५१

६ अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम् ।
अवन्ध्ययत्नाश्च बभूवुरत्र ते क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति ॥
—रघु ३।२९

७ त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत् । —रघु ३।३१

८ तमादौ कुलविद्यानामर्थमर्थविदाम्वरः ।
पश्चात्पार्थिवकन्यानां पाणिमग्राहयत्पिता ॥ —रघु १७।३

९ देखिए, पादटिप्पणी नं० ८
—महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्निव द्विपेन्द्रभावं कलभः श्रयन्निव ।
रघुः क्रमाद्यौवनभिन्नशैशवः पुपोष गाम्भीर्यमनोहरं वपुः ॥ —रघु ३।३२
—अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयद्गुरुः । —रघु ३।३३

गया[1]। उसके आने पर उससे पिता ने कहा कि पुत्र अब तक तुम ब्रह्मचर्याश्रम में थे अब तुम गृहस्थाश्रम में प्रवेश करो[2]। शकुन्तला और उसकी सखियाँ भी पूर्ण वयस्क थीं जब वे आश्रम में रहती थीं और जब दुष्यन्त ने शकुन्तला के लिए पूछा था कि यह जन्म भर आश्रम में वैखानस का आचरण ही करेगी अथवा यह व्रत विवाह होने तक ही रहेगा[3]। इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि युवावस्था तक शिक्षा चलती थी। सम्भवतः सात-आठ वर्ष से बाईस-तेईस वर्ष तक विद्याध्ययन की अवधि थी। परिस्थिति और व्यक्ति की विभिन्नता से अवधि में भी भिन्नता होगी। अतः कोई नियम नहीं लगता। मनु ने ब्राह्मणों का गोदान सोलहवें वर्ष में और क्षत्रियों का बाईसवें वर्ष में कहा है[4]। बालक जब कवच धारण करने योग्य हो जाता था तभी विद्याध्ययन समाप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था कहकर कालिदास ने भी इसी बात की सम्भवतः पुष्टि की है।

छात्र का वेश, गुण और स्वभाव

छात्र-वेश—छात्र बहुत सादे वेश में रहते थे। ऋषि मुनि की तरह वल्कल पहनना और कमर में मेखला बाँधना उनकी प्रधान वेश भूषा थी[5]। इसके अतिरिक्त ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने के कारण वे सिर पर जटाएँ और हाथ में पलाशदंड धारण करते थे[6]।

---

१ एष गृहीतविद्य आयुः सम्प्रति कवचहरः संवृत्तः। तदेतस्य ते भर्तुः समक्षं निर्यातितो हस्तनिक्षेपः।

—विक्रम अंक ५ पृ० २४८

२. यावदस्य पवित्रं त्वया पूर्वस्मिन्नाश्रमे। द्वितीयमध्यासितुं तव समयः।

—विक्रम अंक ५ पृ २४९

३ वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानाद्व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्।
अत्यन्तमेव मदिरेक्षणवल्लभाभिराहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः॥

—अभि १।२५

४ केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः॥ टीका मल्लिनाथ —रघु ३।३३

५. त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत्। —रघु ३।३१

६ अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग्ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा।
विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा॥ —कुमार ५।३०

छात्र के गुण और स्वभाव

पढ़ने में छात्र अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि के होते थे। ऐसे ही छात्र शीघ्रता से अपने ज्ञान की वृद्धि किया करते थे। अध्ययनशील और रात-दिन परिश्रम करने वाले विद्यार्थी ही उच्च शिक्षा प्राप्त करने में समर्थ हुआ करते थे। कौत्स ने अपनी सेवा और भक्ति से गुरु को इतना प्रसन्न कर लिया था कि उनके गुरु ने उन्हें १४ विद्याएँ पढ़ाई थीं[1]। श्री राधाकुमुद मुकर्जी का कहना है कि विद्यार्थी ¼ भाग अपने गुरु से सीखता था ¼ भाग अपनी कुशाग्र बुद्धि से ¼ भाग अपने सहयोगियों से और शेष चौथाई समय और अनुभव उसे सिखा देता था[3]। वे अत्यन्त प्रगल्भवाक्[4] और विचक्षण[5] होते थे। अपवाद भी मिलता है, कोई-कोई शिष्य उग्र स्वभाव वाले भी होते थे जैसे—अभिज्ञानशाकुन्तलम् में शार्ङ्गरव।

शिष्य के विविध कर्म तथा कर्तव्य—शिष्य का काम गुरु को प्रसन्न रखना था अतः हर प्रकार का छोटे-से-छोटा और तुच्छ-से-तुच्छ काम करने को वह प्रस्तुत रहता था। गुरु की भक्ति और सेवा ही गुरु की प्रसन्नता प्राप्ति का साधन था। शिष्य अपने गुरु की आज्ञा चाहे वह कितनी ही कठोर क्यों न हो, टालने का साहस नहीं करता था। कौत्स ऋषि ने अपने गुरु के आज्ञानुसार चौदह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ कहीं-न-कहीं से लाकर दी ही थीं। गुरु के वचन शिष्य के लिए प्रत्येक परिस्थिति में मान्य थे। रघुवंशी राजा वसिष्ठ की प्रत्येक आज्ञा का पालन

---

१ धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः।
ततार विद्याः पवनातिपातिभिर्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः॥ —रघु॰ ३।३
—अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धे कुशली गुरुस्ते। —रघु॰ ५।४

२ वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति॥ —रघु॰ ५।२१

३ A student learns a fourth from his acharya, a fourth from his own intelligence, a fourth from his fellow pupils and the remaining fourth in course of time by experience.
—Imperial age of Unity of India Page 584

४ [illegible]
[illegible] —कुमार॰ २।३

५ वर्णाश्रमाणां गुरवे स वर्णी विचक्षणः प्रस्तुतमाचचक्षे। —रघु॰ ५।१९

इस विद्या को कहीं वे तीन प्रकार की[1] कहीं चार प्रकार की[2] और कहीं वे चौदह प्रकार की[3] कहते हैं। त्रयी विद्या में वेद वार्ता और दंडनीति गिने जाते हैं[4]। वेद के अन्तर्गत चारों वेद वेदांग—छन्द कल्प निरुक्त ज्योतिष व्याकरण शिक्षा ब्राह्मण उपनिषद्, आरण्यक उपवेद में धनुर्वेद आयुर्वेद स्मृतिशास्त्र इतिहास काव्य पुराण सब लिए जाते हैं। वार्ता के अन्तर्गत कृषि तथा व्यापार और दंडनीति में राजनीति। दंडनीति में सम्भवतः कौटिल्य का अर्थशास्त्र कामन्दक का नीतिशास्त्र और उशनस् के सूत्र हों। कालिदास ने उशनस् का कुमारसम्भव मे संकेत किया है[5]।

चार प्रकार की विद्या के अन्तर्गत आन्वीक्षिकी वार्ता त्रयी और दंडनीति आते हैं मल्लिनाथ का ऐसा ही उद्धरण है[6]। आन्वीक्षिकी में दर्शन तर्क त्रयी में वेद-वेदांग वार्ता में व्यापार और दंडनीति में राजनीति आते हैं। वार्ता[7] और दंडनीति[8] दोनों का प्रसंग कालिदास में है। कौटिल्य के मतानुसार आन्वीक्षिकी में सांख्य योग और लोकायत हैं[9]। कहना असंगत न होगा कि हिन्दू दर्शनशास्त्र के सभी सिद्धान्तों का कवि ने संकेत किया है। मीमांसक का 'नित्य शब्दार्थसम्बन्ध' का संकेत 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' में मिलता है[1]। इसी प्रकार कुमारसम्भव में शिव

---

१ स पूर्वजन्मान्तरदृष्टपाराः स्मरन्निवाक्लेशकरो गुरूणाम्।
तिस्रस्त्रिवर्गाधिगमस्य मूलं जग्राह विद्याः प्रकृतीश्च पित्र्याः॥

२ धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः .. ।—रघु ३।१

३ निर्बन्धसंजातरुषार्थकार्श्यमचिन्तयित्वा गुरुणाहमुक्तः।
वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति॥ —रघु ५।२१

४ तस्याधिगमस्य प्राप्तैर्मूलं तिस्रो विद्यास्त्रयीवार्तादंडनीतिः .... ।
—मल्लिनाथ टीका रघु १८।५

५ अध्यापितस्योशनसापि नीतिं प्रयुक्तरागप्रणिधिर्द्विषस्ते। —कुमार ३।६

६ आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती।
एता विद्याश्चतस्रस्तु लोकसंस्थितिहेतवः॥ —टीका रघु ३।१

७ ते सेतुवार्तागजबन्धमुख्यैरभ्युच्छ्रिताः कर्मभिरप्यवन्ध्यैः। —रघु १६।२

८ न्यस्ताक्षरामक्षरभूमिकायां कार्त्स्न्येन गृह्णाति लिपिं न यावत्।
सर्वाणि तावच्छ्रुतवृद्धयोगात्फलान्युपायुङ्क्त स दण्डनीतेः। —रघु १८।४६

९. अर्थशास्त्र शास्त्री अनुवाद पृ ६।

१ रघु १।१

किया करते थे। इंधन जुटाना, समिधा लाना[1] समय मालूम करना[2] गुरु का आसन लाना[3] गुरु की अनुपस्थिति में अग्निहोत्र का काम करना[4] आदि शिष्यों के विविध कर्म थे। इनसे ही वे अपने गुरु को प्रसन्न रखा करते थे।

सुशिक्षित के लक्षण—ज्ञान और विनय दोनों का योग सुशिक्षित का लक्षण था। शिक्षा की यही सार्थकता थी—वह ज्ञान के साथ अहंकार का समावेश न करती हुई विनय को ज्ञान में बनाए रखे। शिष्टता आदि संस्कारों से नम्र रहना ही ज्ञान की विशेषता थी। रघु की यह विनयशीलता ही सबसे बड़ी विशेषता थी।[5]

विषय, शिक्षा-विभाग—सुविधा के लिए सम्पूर्ण विषयों को पृथक्-पृथक् समूहों में विभाजन हो सकता है।

शिक्षा—कालिदास ने सब अध्ययन के विषयों को 'विद्या'[6] ही कहा है।

---

१ वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः।
पूर्यमाणमदृश्याग्नि प्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः॥ —रघु १।४९

२ वेलोपलक्षणार्थमादिष्टोऽस्मि तत्रभवता प्रवासादुपावृत्तेन काश्यपेन। प्रकाशं निर्गतस्तावदवलोकयामि कियदवशिष्टं रजन्या इति।
—अभि अंक ४ पृ ६१

३ महेन्द्रभवन मध्याद्भगवतोपाध्यायेन त्वमासनं प्रतिग्राहित।
—विक्रम अंक ३ पृ १६२

४ अग्निशरणसंरक्षणाय स्थापितोऽहम्। —विक्रम अंक ३ पृ १९२
—आम्नायार्पिता विद्या प्रबोधविनयाविव। —रघु १।७१

५ यथु प्रकर्षाविष्कृतपूर्वं रघुस्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत। —रघु ३।३४
—निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराजशब्दभाक्। —रघु ३।३५

६ शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां —रघु १।८
—अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः। —रघु १।२३
—अन्वयप्रतिपन्ना परस्परमनुगमनेन याम्।
विद्यामभ्यसनेनेव प्रसादयितुमर्हसि॥ —रघु १।८८
—समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद्गुरुदक्षिणार्थी। —रघु ५।२
—वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति॥ —रघु ५।२१
—आम्नायार्पिता विद्या प्रबोधविनयाविव —रघु १।७१
—तिमिरस्त्रिपथाविमलस्य मुखे बभाद विद्या महतीव विम्बाः।
—रघु १८।५

वैदिक का संविधानक ऋग्वेद १ का ९५ और शतपथ ब्राह्मण (५, १–२) की कथा से सूझा होगा। कवि ने ब्राह्मण ग्रन्थ पढ़े अवश्य थे। कुछ उपमाएँ वहाँ से भी मालूम होती हैं। राजा दिलीप की पत्नी को उन्होंने यज्ञपत्नी दक्षिणा के समान कहा है[1]। सम्भव है यह उन्होंने—'यज्ञोगन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरस' इस ब्राह्मण वाक्य से कल्पित किया हो (मिराशी कालिदास प ९१)।

स्मृति—स्थान-स्थान पर स्मृतियों का उल्लेख किया गया है। एक स्थान पर उपमा में आपने कहा है कि स्मृति श्रुति का अनुसरण करती है[2]। कुमार सम्भव में शिव-पार्वती का विवाह और रघुवंश में अज और इन्दुमती का विवाह गृह्यसूत्रों के आधार पर है[3]। विवाह के बाद पति-पत्नी को कम-से-कम तीन रात तक ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए और भूमि पर शयन—इस गृह्यसूत्र के नियम[4] का पालन शंकर जी ने किया था। मनुस्मृति[5] के अनुसार राजा प्रजा का पालन किया करता था।

उपनिषद्— 'परमेश्वर ने जल में अपना बीज डाला जिससे यह चराचर सृष्टि पैदा हुई सृष्टि के निर्माण के लिए भगवान् ने स्त्री-पुरुष का रूप धारण किया'—यह बात उपनिषद् में मिलती है। मिराशी जी का कथन है कि इसकी झलक कुमारसम्भव में है। यही नहीं कुमारसम्भव में ब्रह्मा और शिव की रघुवंश में विष्णु की स्तुति उपनिषदों के अध्ययन से निश्चित हुए एकेश्वर मत का निदर्शक है। उपनिषदों के परमतत्त्व ब्रह्म का उल्लेख कुमारसम्भव में है[7]। तीनों वेदों की सीमा उपनिषद् की अध्यात्म-विद्या से होती है—मालविकाग्निमित्र

---

१ तस्य दाक्षिण्यरूढेन नाम्ना मगधवंशजा।
पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा॥ —रघु १।३१

२ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ८—रघु २।२

३ मिराशी कालिदास पृ ९१

४ मिराशी कालिदास

५ मिराशी कालिदास

६ रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम्।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः॥ —रघु १।१७

—नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः। —रघु १४।६७

७ अमी हि वीर्यप्रभवं भवस्य जयाय सेनान्यमुशन्ति देवाः।
स च स्वेदरेषु निपातसाध्यो ब्रह्मांगभूर्ब्रह्मणि योजितात्मा॥ —कुमार ३।१५

में ऐसा प्रसंग भी है[1]। कवि ने वेदांग[2] शब्द का भी प्रयोग किया है, जिससे छन्द व्याकरण शिक्षा उपनिषद् आदि सभी की पुष्टि होती है।

भगवद्गीता—अक्षर क्षेत्र क्षेत्रज्ञ आदि संज्ञाएँ तथा समाधि में चित्त को वश करने वाला योगी वायुहीन स्थान में दीपक के समान रहता है भगवद्गीता में वर्णित है। इसका संकेत कुमारसम्भव में है। शिव जी की तपस्या में इन अक्षरों की—अक्षर क्षेत्रविद् और क्षेत्र[3]—प्रयुक्ति हुई है। उनकी तपस्या भगवद्गीता की वायुहीन स्थान में दीपक के समान कही गई है[4]।

गीता के बहुत-से सिद्धान्तों की प्रतिच्छाया कालिदास के ग्रन्थों में मिलती है—

(१) अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः। (गीता १५।१८)
हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतः। —(रघु ३।४९)

(२) ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा—(गीता ४।३७)
इतरोऽदहने स्वकर्मणां ववृते ज्ञानमयेन वह्निना। (रघु ८।२०)

(३) समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः। (गीता १४।२४)
रघुरप्यजयद्गुणत्रयं प्रकृतिस्थं समलोष्टकाञ्चनः। (रघु ८।२१)

(४) नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि। (गीता ३।२२)

अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किञ्चन विद्यते।
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः॥ (रघु १ ।३१)

इसी प्रकार आत्मा की अमरता भगवान् की महानता अनुग्रह, अभिमन्त्रित अवतार, कर्मयोग भक्ति ज्ञान सब में गीता की झलक दीखती है।

शास्त्र—यद्यपि शास्त्र के अन्तर्गत धर्मशास्त्र कामशास्त्र नाट्यशास्त्र

---

१ नदी विवस्वत्येव समममात्मनिपया —माघ १।१४

२ साङ्गं च वेदमध्याप्य किञ्चिदुत्क्रान्तशैशवौ।
स्वकृतिं गापयामास कविप्रथमपद्धतिम्॥ —रघु १५।३३

३ मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम्॥ —कुमार ३।५०
—योगिनो यं विचिन्वन्ति क्षेत्राभ्यन्तरवर्तिनम्।
अनावृत्तिभयं यस्य पदमाहुर्मनीषिणः॥ —कुमार ६।७७

४ अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरङ्गम्।
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम्॥ —कुमार ३।४८

ज्योतिषशास्त्र आदि सभी लिए जा सकते हैं, परन्तु कवि ने इस शब्द का प्रयोग राजनीति के ही अर्थ में किया है[1]।

नीतिविद्या : राजनीति—राज्य चलाने के लिए सरल और कुटिल दोनों प्रकार की विद्याओं[2] का जानना परमावश्यक था। राज्य चारों ओर शत्रुओं से घिरा रहता था[3]। शत्रुओं का दमन करने के लिए और राज्य को सुसंगठित बनाने के लिए साम दाम दंड भेद का उचित प्रयोग जानना आवश्यक था[4]। छोटे शत्रुओं को उखाड़ फेंकना[5] गद्दी पर बैठते ही उसको जड़ जमाने से पूर्व उखाड़ देना[6] दूसरे का बन्दी छोड़ने से पूर्व अपना बन्दी शत्रु से छुड़वाना[7] राजनीति का ही अंग है। दण्डनीति[8] भी इसी के अन्तर्गत रखी जा सकती है। दूसरों के साथ छल कर और धोखा देकर अपना काम निकालना भी राजनीति है। कवि इस विद्या को परातिसंधान विद्या[9] कहता है।

---

१ शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चातता —रघु १।१९
—शास्त्रकुशलम्—माल अंक १ पृ २९८

२ क्रमविधिभिर्मतो राज्ञि सदसन्नोपदर्शितम् ।
पूर्व प्रवाससमयस्तस्मिन्नाभवदुत्तरः ॥ —रघु ४।१

३ यातव्यः प्रकृत्यमित्रः प्रतिकूलकारी च मे वैदर्भः ।—माल अंक १ पृ २९८

४ इति क्रमात्प्रयुञ्जानो राजनीतिं चतुर्विधाम् ।
आतीर्थादप्रतीघातं स तस्याः फलमानशे ॥
—कूटयुद्धविधिज्ञेऽपि तस्मिन्सन्मार्गयोधिनि ।
भेजेऽभिसारिकावृत्तिं जयश्रीर्वीरगामिनी ॥
—प्रायः प्रतापभग्नत्वादरीणां तस्य दुर्लभः ।
रणो गन्धद्विपस्येव गन्धभिन्नान्यदन्तिनः ॥ —रघु १७।६८, ६९, ७

५ यातव्यः प्रकृत्यमित्रः प्रतिकूलकारी च मे वैदर्भः । तद्यातव्यपक्षे स्थितस्य पूर्वसंकल्पितसमुन्मूलनाय वीरसेनमुखं दण्डचक्रमाज्ञापय ।
—माल० अंक १ पृ २९८

६ अचिराधिष्ठितराज्यः शत्रुः प्रकृतिष्वरूढमूलत्वात् ।
नवसंरोपणशिथिलस्तरुरिव सुकरः समुद्धर्तुम् ॥ —माल १।८

७ मौर्यसचिवं विमुञ्चति यदि पूज्यः संयतं मम स्यालम् ।
मोक्ता माधवसेनस्ततो मया बन्धनात्सद्यः ॥ —माल १।७

८ सर्वाणि शासनानि ... च दण्डनीतेः । —रघु १८।४६

९ आजन्मनः शाठ्यमशिक्षितो यस्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य ।
परातिसन्धानमधीयते यैर्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः ॥—अभि ५।२५

का उल्लेख करते हैं[1]। ग्रहों में उन्होंने बुध और बृहस्पति[2] को भी नहीं छोड़ा। 'उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम्'—अभि ७।२२। चन्द्रपूर्णिमा के दिन सागर में ज्वार आता है—'चन्द्रप्रवृद्धोर्मिरिवोर्मिमाली...' (रघु ५।६१) 'चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः'—(कुमार ३।६७) सूर्य की प्रभा ही संसार को चैतन्यदान करती है—'लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः' (रघु ५।४) सूर्य की किरणों से ही चन्द्रमा में ज्योति आती है—'करेण भानोर्बहुलावसाने सन्धुक्ष्यमाणेव शशाङ्करेखा'—(कुमार ७।८)। इसी बात को २ वर्ष बाद अंग्रेजी कवि शैली ने लिखा—

'The moon had fed exhausted form at the sunset's fire

नाट्यशास्त्र—विक्रमोर्वशीय में कवि ने भरतमुनि-प्रणीत नाटक का नाम लिया है[3]। मालविकाग्निमित्र के प्रथम अंक में पंचांग अभिनय[4] छलिक नृत्य[5] कुमारसम्भव में शिव-पार्वती के विवाह के पश्चात् शृंगार आदि रसों वाला और सन्धियों से युक्त अप्सराओं द्वारा खेला गया नाटक नाट्यशास्त्र के विस्तृत परिचय की पुष्टि करता है[6]। इसमें सन्धि वृत्ति रस राग सभी संज्ञाओं के नाम आए हैं।

भौतिक-शास्त्र—भौतिक-शास्त्र के बहुत-से सिद्धान्तों का प्रतिपादन कालिदास के ग्रन्थों में मिलता है, अतः यह विषय उस समय प्रचलित अवश्य होगा। एक स्थान पर कवि कहता है कि सूर्य अपनी किरणों से पृथ्वी का जल सोख लेता है और सहस्र गुना बरसा देता है[7]। लगभग इसी सिद्धान्त की पुनरावृत्ति कुमारसम्भव में है—नदियाँ धरती में सूर्य की किरणों को जल सिञ्च कर जिनकी हो

---

१ क्षमा हि भूमेः पतिनो मङ्गलेनाऽपेक्षिता बुधिसख प्रभाभि ।
—रघु १।४४

२ सोमसुतं बुधबृहस्पतियोरनुरूपतापनिस्वरवमिबुधिवामनुरूपम् ।
—रघु ११।७६

३ तस्मिन्नुत सरस्वतीकृतकाव्यबन्धे लक्ष्मीस्वयंवरे तेष तेषु रसान्तरे तन्मयी आसीत् । —विक्रम अंक ३ पृ ११२

४ देव शर्मिष्ठया कृति चतुष्पदोत्थं छलिकं दुष्प्रयोज्यमुदाहरन्ति ।
—माल अंक १ पृ २७८

५ इदानीमेव पंचांगाभिनयमुपदिश्य मया विश्रम्यतामित्यभिहिता दीर्घिकावलोकनगवाक्षगता प्रवातमासेवमाना तिष्ठति । —माल अंक १ पृ २११

६ तौ सन्धिषु व्यंजितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम् ।
अपश्यतामप्सरसां मुहूर्तं प्रयोगमाद्यं ललिताङ्गहारम् ॥ —कुमार ७।९१

७ सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः । —रघु १।१८

जाती है, उन्हीं नदियों में वर्षा आने पर बाढ़ आ जाती है[1]। इसी का कुछ परिवर्तित रूप पुनः रघुवंश में दीखता है[2]। धुएँ, अग्नि जल वायु के मेल से ही बादल की सृष्टि होती है[3] पहली वर्षा की बूँदें बड़ी गरम होती है[4] जंगल की लकड़ी की आग चाहे पृथ्वी को जला दे पर पृथ्वी को अति उपजाऊ बना देती है,[5] आदि बातों से उनके भौतिकशास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान का कुछ परिचय मिलता है।

फलित ज्योतिष शास्त्र—मालविका के विषय में एक साधु ने भविष्य में होने वाली बातें व्यक्त की थी कि इसे एक वर्ष तक दासी होकर रहना पड़ेगा पर इसके पश्चात् बड़े योग्य पति से इसका विवाह हो जायगा[6]। यह भविष्यवाणी पूरी हो गई थी अतः इस शास्त्र के अस्तित्व की भी पुष्टि होती है।

काम-शास्त्र—कण्वमुनि का शकुन्तला को उपदेश वात्स्यायन के कामसूत्र से बहुत मिलता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम अंक में सखियों की राजा से बातचीत शकुन्तला की लज्जा बहुत-कुछ कामसूत्र के 'कन्या सम्प्रयुक्तक' अधिकरण आधार पर है। इसमें यह बताया गया है कि लज्जा-परवश युवती को अपने प्रियतम से किस प्रकार बोलना चाहिए। 'उसको चाहिए कि अपनी सखियों द्वारा प्रियतम से सम्भाषण प्रारम्भ करे। वार्तालाप के मध्य में कभी कभी सिर झुका कर स्मित हास्य करे। सखी के व्यंग्य करने पर क्रोधित हो और उसके कहने पर कि 'नायिका ने मुझसे ऐसा कहा है, अस्वीकार करे'। यही नहीं आगे भी कहा गया है कि प्रियतम द्वारा उत्तर की याचना होने पर भी मुख से एक शब्द भी न निकाले और यदि कुछ निकाले भी तो वह अस्पष्ट रहे। प्रियतम को देख कर नेत्र-कटाक्ष फेंके और स्मित हास्य करे'। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में इसको बहुत-कुछ लाया है। अज और इन्दुमती की अवस्था

---

१ रविपीतजला तपात्यये पुनरोघेन हि युज्यते नदी। —कुमार ४।४४

२ गर्भं दधत्यर्कमरीचयोऽस्माद्विवृद्धिमत्राश्नुवते वसूनि। —रघु १३।४

३ धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः —मेघदूत पूर्वमेघ ५

४ काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम्। —पूर्वमेघ १२
—तपात्यये वारिभिरुक्षिता नवैर्भुवा सहोष्माणममुञ्चदूर्ध्वगम्।
—कुमार ५।२३

५ कृष्या दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति।
—रघु ९।८

६ माल अंक ५ पृ १११।

का वर्णन कवि ने कामसूत्र के अनुसार ही किया है। अग्निमित्र के विदूषक को इरावती ने कामतन्त्र-सचिव कहा है[1]। विवाह' अध्याय के अन्तर्गत पहले ही कामशास्त्र के बहुत-से सिद्धान्तों की पुष्टि की जा चुकी है।

धर्मशास्त्र—धर्मशास्त्र के अनुसार निस्सन्तान मनुष्य का धन राजकोष में मिला लिया जाता है। इसका संकेत अभिज्ञानशाकुन्तलम् मे है[2]। किस अपराध का क्या दण्ड मिलना चाहिए, रघुवंशी राजा यह बात भली-भाँति जानते थे[3]।

इतिहास—मालविकाग्निमित्र में पुष्यमित्र का सेनापति की पदवी धारण रखना और अश्वमेध यज्ञ करना आदि ऐतिहासिक बातें हैं। वाल्मीकि रामायण पुराण आदि का भी ज्ञान कवि को है अतः इतिहास विषय अवश्य उस समय रहा होगा। शकुन्तला में इतिहास शब्द का प्रयोग आया है[4]।

भूगोल—भूगोल भी विद्या के विषयों मे से एक था कुमारसम्भव और समस्त मेघदूत इसके साक्षी हैं। हिमालय पर्वत का सांगोपांग वर्णन सिन्धु के किनारे केसर की उत्पत्ति[5] बंगाल के धान्य[6] दक्षिण में ताम्रपर्णी के तीर पर मोतियों के कारखाने[7] अमर वचन अलकापुरी तक की यात्रा पर्वत नदी पर्वत पर रात्रि के समय ओषधियों का चमकना[8] आदि इसके पुष्ट प्रमाण हैं। दक्षिण दिशा मे समुद्र के किनारे सुपारी के पेड़ मलयाचल

---

१ इयमस्य कामतन्त्रसचिवस्य नीतिः। —माल अंक ४ पृ ११६

२ [illegible] तस्यार्थसंचयः [illegible] लिखितम्।
—अभि अंक ६ पृ १२१

३ यथापराधदण्डानाम् —रघु १।६

४ तादृशी इतिहासनिबन्धेषु कामयमानानामवस्था श्रूयते तादृशी ते पश्यामि।
—अभि अंक ३ पृ ४४

५ विनीताध्वश्रमास्तस्य सिन्धुतीरविचेष्टनैः।
दुधुवुर्वाजिनः स्कंधांल्लग्नकुंकुमकेसरान्॥ —रघु ४।६७

६ आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम्।
फलैः संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः॥ —रघु ४।३७

७ ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः।
ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव संचितम्॥ —रघु ४।५०

८ दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः
[illegible] ॥ —रघु ४।७५ [uncertain reading]

९ ततो वेलातटेनैव फलवत्पूगमालिना।
अगस्त्याचरितामाशामनाशास्यजयो ययौ॥ —रघु ४।४४

सैनिक-शिक्षा (Military Education)

धनुर्विद्या तथा अन्य शस्त्रों की शिक्षा—धनुर्विद्या तथा शस्त्र-संचालन क्षत्रियों की शिक्षा का मुख्य अंग है। क्षत्रियों का काम रक्षा करना था। उनके हाथ में सदा धनुष रहता था जिसे वे किसी भी अवस्था में पृथक् नहीं कर सकते थे[1]। इसलिए धनुर्विद्या शिक्षा का मुख्य अंग था। रघुवंशी सभी राजा धनुष चलाने में निपुण थे। राजा दिलीप धनुष चलाने में अद्वितीय थे[2]। रघु की दिग्विजय उनके शस्त्र-संचालन की योग्यता की द्योतक है। अज भी स्वयंवर से लौटकर सब राजाओं से युद्ध करते हुए विजयी हुए। दशरथ का निशाना अचूक था[3]। श्रवणकुमार इसी कारण नहीं बच सका। राम का धनुष तोड़ना राम-रावण युद्ध उनकी रण-दक्षता का साक्षी है। राजा सुदर्शन छोटे ही थे पर बाल्यावस्था में ही धनुष चलाना सीख गए थे[4]। कालिदास का ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं जहाँ इस विद्या का अस्तित्व न हो। पुरूरवा का उर्वशी-उद्धार, दुष्यन्त का आश्रमरक्षा के हित धनुष-बाण उठा लेना, मालविकाग्नि में वसुमित्र की विजय इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। विक्रमोर्वशीय में आयुस ने इस विद्या का भलीभाँति अध्ययन किया था। 'गृहीतविद्यो धनुर्वेदेऽभिविनीत' इसका पुष्ट प्रमाण है।

धनुष के अतिरिक्त अन्य शस्त्र भी थे। इनमें शूल[6] शक्ति[7] परशु[8] चक्र[9]

---

१ कुमारस्यायमर्भंकमिक बद्ध्वा प्रणमति। —विक्रमो अंक ५ पृ २४९
—आत्तु क च धनुरुज्झितं स्वयम्। —रघु ११।६४

२ शासक्ष्यपुंखिता गुणिमौर्वी धनुषि चातता। —रघु १।१९

३ रघु सर्ग ९ सम्पूर्ण।

४ स्पृष्ट स्थित किञ्चिद्विलोलपाशमुन्नद्धपुंखार्पितबद्धमाशु।
चापममापदक्षायमथा स्वराचताश्रपु विनीयमान ॥—रघु १८।५१

५ विक्रम अंक ५ पृष्ठ २४९।

६ दुमयो सबल यष्टी विक्रम प्राप्यतामिति। —रघु १५।५

७ ततो बिभेद पौलस्त्य शक्त्या वक्षसि लक्ष्मणम्।
रामस्त्वनाहतोऽप्यासीद्विदीर्णहृदय शास्त्रा ॥ —रघु १२।७७

८ कातर्येऽस्मि यदि योद्धुमर्थाचिता तजित परशुनाग्या मम। —रघु ११।७८

९ आकारयामास ममर्मभिरा ते विदधाति च भिन्नचिह्ने चक्रेण। —रघु ७।४९

परिघ[1] मुद्गर[2] क्षुरप्र[3] भल्ल[4] गदा[5] शतघ्नी[6] वज्र[7] और कूट शाल्मली[8] के नाम लिए जा सकते हैं । समय-समय पर पत्थर भी फेंके जाते थे[9] । मन्त्र पढ़ कर अस्त्र फेंकना भी सबको सिखाया जाता था। इनमें गान्धर्वास्त्र[10] मोहनास्त्र[11] और ब्रह्मास्त्र[12] के नाम लिए जा सकते हैं । चक्र और विषैले अस्त्रों[13] का भी प्रयोग हुआ करता था ।

बाण कई प्रकार के थे किसी मे कंक का पर[14] और किसी में मोर का पर[15]

---

१ २ पारस्पारिक परिघ शिलानिष्पिष्टमुद्गर ।
अतिशस्त्रनखन्यास शैलरुग्णमतंगज ॥ —रघु १२।७१

३ प्रायो विषाणपरिमोक्षलघूत्तमाङ्गान् खड्गांश्चकार नृपतिर्निशितैः क्षुरप्रैः ।
—रघु ९।६२

—य सुबाहुरिति राक्षसोऽपरस्तत्र तत्र विससर्प मायया ।
तं क्षुरप्रशकलीकृतं कृती पत्त्रिणां व्यभजदाश्रमाद्बहिः ॥ —रघु ११। २९

४ भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम् । —रघु ४।६३
—तस्तार गां भल्लनिकृत्तकण्ठैर्हुङ्कारगर्भैर्द्विषतां शिरोभिः । —रघु ७।५८
—श्यमरान्परितः प्रवितताग्रभूवश्चक्रे विक्षेपकृष्टदशपक्ष्मभल्लवर्षी —रघु ९।६६

५ ब्यगमी गदाव्यायतसन्धिहारी ममानुगो बाहुविमर्दनिष्ठो —रघु ७।४२

६ सव संकुचितो रक्ष शतघ्नीमथ शत्रवे ।
हृतां वैवस्वतस्येव कूटशाल्मलिमक्षिपत् ॥ —रघु १२।९५

७ कश्चिद्द्विषत्खड्गहृतोत्तमाङ्ग सद्यो विमानप्रभुतामुपेत्य —रघु ७।५१

८ देखिए, पादटिप्पणी नं ६

९ नाराचक्षेपणीयाश्मनिष्पेषोत्पतितानलम् —रघु ४।७७

१० गान्धर्वमस्त्रं कुसुमास्त्रकान्तः प्रस्वापनं स्वप्ननिवृत्तलौल्यः —रघु ७।६१

११ सम्मोहनं नाम सखे ममास्त्रं प्रयोगसंहारविभक्तमन्त्रम् —रघु ५।५७

१२ अमोघं सन्दधे चास्मै धनुष्येकधनुर्धरः ।
ब्राह्ममस्त्रं प्रियाशोकशल्यनिष्कर्षणौषधम् ॥ —रघु १२।९७

१३ पुनर्दृष्टि बाष्पप्रसरकलुषामर्पितवती
मयि क्रूरे यत्तत्सविषमिव शल्यं दहति माम् ॥ —अभि ६।९

१४ वामेतरस्तस्य करः प्रहर्तुर्नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे ।
सक्ताङ्गुलिः सायकपुङ्ख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे ॥ —रघु २।३१

१५ जहार चान्येन मयूरपत्रिणा शरेण शक्रस्य महाशनिध्वजम् —रघु ३।५६

मौलसेना[1]। अतः प्रत्येक प्रकार की गतिविधि अर्थात् कैसे घुड़सवार को लड़ना चाहिए, कैसे हाथी पर बैठ कर आदि-आदि भी अवश्य सिखाया जाता होगा।

कालिदास ने सेना का वर्णन करते हुए छह प्रकार की सेना का वर्णन किया है[2] परन्तु ये प्रकार रथ, पैदल आदि की तरह नहीं हैं। सेना कितनी स्थायी थी, कितनी अस्थायी, सेना की वृद्धि किस प्रकार होती थी, आदि-आदि ही उनसे स्पष्ट होता था। जो भी हो, इससे इतना अवश्य निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सैनिक-शिक्षा का उस समय प्रचार था।

ललितकला

संगीत—संगीत के तीनों प्रकार—कंठ्य, वाद्य और नृत्य का उल्लेख कवि ने किया है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् की प्रस्तावना में गाया हुआ गीत इतना सुन्दर था कि सब प्रेक्षक उसमें तल्लीन हो गए थे। इसी प्रकार हंसपदिका का वल्लभ्य(?) भरा गीत, लव और कुश का रामायण-गान आदि इस कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। पार्वती के मुख से त्रिपुर-विजय के गीत सुनकर किन्नरियाँ आँसू बहाती थीं। मूर्च्छना, ध्वनि, वर्णपरिचय, षड्ज, मध्यम आदि संज्ञाएँ भी यथास्थान प्रयुक्त हैं।

---

१ मौलसेना—वंगानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान्।
निचखान जयस्तम्भान् गङ्गास्रोतोऽन्तरेषु सः ॥ —रघु ४।३६

२ षड्विधं बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया —रघु ४।२६
—स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः। षड्विधं बलमादाय... —रघु १७।६७

मल्लिनाथ की टीका के अनुसार ६ प्रकार—मौल, भृत्य, श्रेणय, सुहृद्, द्विषद्, आटविक थे।

मौल—उच्चकुल के व्यक्ति और जिनके यहाँ यह पेशा पुश्तैनी (मौरूसी) था।

भृत्य—वेतनभोगी।

सुहृद्—मित्र के रूप में दूसरे राजाओं की सेना।

श्रेणय—अस्थायी सेना, आवश्यकता पड़ने पर जिसको जुटा लिया जाय, यह सभी वर्ग के व्यक्ति थे।

द्विषद्—जिसके ऊपर आक्रमण किया जा रहा हो, उसके शत्रु हों और नाश करना चाहते हों।

आटविक—जंगल के रहने वाले।

नोट : 'ललितकला' अध्याय के अन्तर्गत इन सबके उदाहरण दिए जा चुके हैं।

भाव में मृदंग वीणा वंशी आदि की शिक्षा सर्वप्रिय होगी। इन्दुमती ललितकलाओं की शिक्षा अपने पति से लिया करती थी। यक्ष-पत्नी को वीणा वादन यक्ष को विरह में याद आता है। प्रातःकाल स्वरों के आरोहावरोह का अनुसरण कर तारों पर हाथ फेरने वाले मंगल गीतों से स्तकर जाग्रत हुए वे।

मालविका का छलित नृत्य नृत्यकला की दृष्टि से उत्तम था। रानी इरावती भी नाट्यकला की शिक्षा लिया करती थी। उस समय वेश्याएँ भी थीं जिनका नाचने-गाने का पेशा था। कौशिकी का निश्चय पुष्टि करता है कि वह इस कला में विशारद होगी। अग्निमित्र वेश्याओं से जब भूल होती थी तब उसे सुधार देता था। अग्निमित्र के समय संगीतशाला भी थी।

काव्य-कला—उर्वशी का पत्र श्लोक रूप में था। शकुन्तला का प्रणय निवेदन भी काव्यबद्ध था। यही नहीं कालिदास की उत्कृष्ट काव्यकला इसका सर्वसम्मत प्रमाण है कि यह कला अपने चरम विकसित रूप में थी।

चित्रकला—दुष्यन्त पुरूरवा यक्ष यक्षपत्नी इन्दुमती सब इस कला में निपुण थे। मालविका का चित्र देखकर ही अग्निमित्र आकर्षित हुआ था। पुरूरवा से उसके मित्र ने कहा था कि उर्वशी से मिलने का उपाय ही यही है कि या तो आँख बन्द कर सो जाओ अथवा चित्र बनाकर देखो। दुष्यन्त का बना चित्र साक्षात् आदी शकुन्तला का प्रतीक था। सुन्दर चित्र के लिए दुष्यन्त इभूमि की आवश्यकता भी समझता था।

मूर्तिकला—कमलों से भरे ताल में उतरते हाथी सूँड़ से कमल की डंठल तोड़ती हथिनियाँ मूर्ति में ही इतनी सजीव थीं कि इनके मस्तकों को सिंहों के बच्चों ने सच्चा हाथी समझकर फाड़ डाला था। खंभों पर स्त्रियों की मूर्तियाँ भी बनाई जाती थीं। अतः मूर्तिकला भी उस समय जाग्रत थी।

वास्तुकला—देवी-देवताओं के मंदिर, राजपथ महल अटारी झरोखे परकोटा आदि का विशद् विवरण इस कला के परिपक्व स्वरूप का उदाहरण है। पुल बनाने का प्रसंग भी यत्र-तत्र मिलता है।

उपयोगी शिक्षा

औद्योगिक शिक्षा—इसके अन्तर्गत छोटी-छोटी असंख्य विद्याएँ आ जाती हैं। अस्त्र-संचालन से निष्कर्ष निकलता है कि अस्त्रों का निर्माण भी होता होगा। आभूषणों के विवरण से कहा जा सकता है कि सुनार भी होते होंगे जो

नोट ललितकला के अन्तर्गत इनके उद्धरण दिए जा चुके हैं।

मणि आदि को जड़ते और तराशते थे[1]। मिट्टी के खिलौने[2] प्रतिदिन के व्यवहार के बर्तन घड़ों के निर्माण का भी कौशल था। अस्त्रादि का चलाना भी सिखाया जाता होगा। विवाहादि के अवसर पर सुगंधित तेल एवं चूर्ण आदि का प्रयोग सिद्ध करता है कि इसकी कला जानने वाले भी थे। कवि तेल लगाने की विद्या तक का प्रसंग देता है[3]। नाव आदि भी बनाई जाती होंगी। रघु के पास ऐसे साधन थे कि मरुभूमि में जल की धाराएँ बह सकती थीं। कुछ जंगलों में खुला मार्ग बन जाता था और नदियों पर पुल। (रघु ४।३१)।

कृषि-विद्या—एक स्थान से पौधे उखाड़ कर दूसरी जगह बोने से खेती अच्छी होती है (रघु ४।३७)।

मन्त्रादि की सिद्धि—अपराजिता[4] जिसको शिखाबन्धिनी विद्या भी कहते हैं तथा तिरस्करिणी[5] जिसकी सिद्धि पर कोई उस व्यक्ति को देख नहीं पाता के वर्णन से कहा जा सकता है कि मन्त्रों की सिद्धि भी की जाती थी।

लेखनकला—पढ़ने के साथ-साथ लिखना भी सिखाया जाता था। उर्वशी द्वारा लिखा गया प्रथम-पत्र[6] शकुन्तला का पत्र-लेखन इसके साक्षी हैं।

---

१ विकीर्णसप्तर्षिबलिप्रहासिभिः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ —रघु ३।१८

२ मदीये उटजे मार्कण्डेयऋषिकुमारस्य वर्णचित्रितो मृत्तिकामयूरस्तिष्ठति।
—अभि अंक ७ पृ ११२

३ कमरग्रहीतेनापि कुंभोलकेन संविभक्तेरे शिरःगिरोऽस्मीति बकस्य भवति।
—माल अंक १ पृ ११

४ भगवता देवगुरुणा अपराजिता नाम शिखाबंधन विद्यामुपदिशता त्रिदश-प्रतिपक्षस्यालंघनीये कृते स्व। —विक्रम अंक २ पृ ११९
—एपाजराजिता नाम.. —अभि अंक ७ पृ ११२

५ तिरस्करिणी प्रतिच्छन्ना पार्श्वगतस्यभूत्वा श्रोष्यामि।
—विक्रम अंक २ पृ १७७
—उद्यानपालिकाभ्यास्तिरस्करिणीप्रतिच्छन्नाच्छन्ना पार्श्ववर्तिनी भूत्वोपलप्स्ये।
—अभि अंक ६ पृ १२

६ स्वामि-संभाविता यथाहं त्वया अज्ञाता तथानुरक्तस्य यदि नाम तवोपरि....
मह संदेश 'भुजपत्रगतमरारिम्याम ही वा। —विक्रम २।१२

७ तवमिवगुनोकोरगुरुवारे नलिनीपत्रे नखैः निक्षिप्तवर्णं कुरु।
तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवापि रात्रिमपि.... ॥
—अभि अंक ३ पृ ४९

मुण्डन-संस्कार के पश्चात् रघु ने वर्णमाला लिखना-पढ़ना सीखा था[1]। मुण्डन के भी लिखना सीखने का संकेत है[2]। मालविकाग्निमित्र में राजनैतिक कार्यों की सूचना कि मगध को रवाह लेखों लिखकर ही भेजी गई होगी। कुमार वसुमित्र ने किस प्रकार अश्वमेध यज्ञ में घोड़े की रक्षा की इसकी सूचना पत्र से ही आती है[3]।

पत्र ही नहीं जीवनचरित भी लिखे जाते थे। दुष्यन्त की कीर्ति कल्पवृक्षों के बने वस्त्र पर लिखी थी ऐसा कवि कहता है[4]। इसी प्रकार अन्य जीवन चरित भी लिखे जाते होंगे। लेखन-कला के अन्य प्रमाण भी मिलते हैं। शकुन्तला को दी गई अंगूठी पर लिखा दुष्यन्त का नाम[5] आयुष के बाण पर लिखा उसका परिचय[6] इसकी पुष्टि करते हैं।

अध्ययन के साधन—लिखने के लिए अक्षर भूमिका[7] भूर्जपत्र[8] तथा पत्ता[9] का प्रसंग है। अक्षर भूमिका तख्ती का प्राचीन रूप हो सकती है। कमलपत्र पर शकुन्तला ने पत्र लिखा था। भूर्जपत्र पर उर्वशी ने हृदयगत भाव व्यक्त किए थे। भूर्जत्वचा भी लेखन-साधन थी[10]।

कवि का 'लेखसाधनम्'[11] शब्द इंगित करता है कि लेखन साधन भी थे

---

१ लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् —रघु ३।२८
२ व्यस्ताक्षरामक्षरभूमिकायां कार्त्स्न्येन गृह्णाति लिपिं न यावत् —रघु १८।४६
३ उपविश्य लेखं सोपचारं गृहीत्वा वाचयति स्वस्ति यज्ञशरणात्सेनापतिः
—माल अंक ५ पृ ३१२
४ विच्छित्तिशेषैः सुरसुन्दरीणां वर्णैरमी कल्पलतांशुकेषु।
विचिन्त्य गीतक्षममर्थजातं दिवौकसस्त्वच्चरितं लिखन्ति॥ —अभि ७।१
५ उभे नाममुद्राक्षराण्यनुवाच्य परस्परमवलोकयतः —अभि अंक १ पृ २२
६ उभयोर्समक्षस्यास्मैयम्नीचगुम्फत। कुमारस्यायुषो बाणः प्रहर्तुर्दिपवधुषाम्॥
—विक्रम ५।७
७ व्यस्ताक्षरामक्षरभूमिकायां कार्त्स्न्येन गृह्णाति लिपिं न यावत्।
—रघु १८।४६
८ भूर्जपत्रगतोऽयमक्षरविन्यासः। —विक्रम अंक २ पृ १८
९ एतस्मिन्शुकोदरसुकुमारे नलिनीपत्रे नखैर्निक्षिप्तवर्णं कुरु। —अभि पृ ८६
१० न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेखक्रिययोपयोगम्॥ —कुमार १।७
११ न खलु अनिर्दिष्टानि पुष्पलेपनमात्राणि। —अभि अंक ३ पृ ४६

पर क्या यह स्पष्ट नहीं होता । कुमारसंभव में धातुरस[1] शब्द आया है जिसकी व्याख्या मल्लिनाथ 'सिंदूरादि द्रवेण' करते हैं । अनुमान है सिन्दूर, मन-शिल (मैनसिल) गेरू आदि का प्रयोग लिखने के लिए किया जाता होगा । मेघदूत में आया धातुराग[2] शब्द भी मद्याकथित कथन की पुष्टि करता है । नख से भी लिखा किया जाता था[3] ।

लेखन-शैली—प्रारंभ में आशीर्वाद या स्वस्ति वचन अवश्य लिखे जाते थे[4] । पत्र गद्य तथा पद्य दोनों में लिखे सकते थे । अग्निमित्र का पत्र गद्य में था परन्तु शकुन्तला और उर्वशी के पद्य में ।

शिक्षण-पद्धति (Method of Teaching)

व्यक्तिगत शिक्षण (Individual Teaching)—शिष्य की योग्यता के अनुसार पढ़ाया जाता था । एक ही शिक्षा सबको न दी जाती थी । 'नदीमुखेनेव समुद्रमाविशद्'[5] से ही समस्त शिक्षण-पद्धति स्पष्ट हो जाती है । आधुनिक काल मे जिस वैधानिक पद्धति का आविष्कार हुआ है—(From part to whole) अंश से सम्पूर्ण स्थूल से सूक्ष्म वह यही पद्धति थी ।

श्री राधाकुमुद मुकर्जी आत्मनिर्भरता और अनुशासन को साधन मानते हैं[6] । चित्त की एकाग्रता को उस समय प्रधानता दी जाती थी । अहंभाव (Individuation) को तिरस्कृत किया जाता था क्योंकि इस भावना से अज्ञान बंधन और अपवित्रता आती थी । संक्षेप में शिक्षा चित्तवृत्तिनिरोध थी[7] ।

श्रवण मनन और निदिध्यासन (अभ्यास) शिक्षण-पद्धति की सीढ़ियाँ थीं इनसे होकर ही छात्र ज्ञान की प्राप्ति करता था[8] । शुश्रूषा (जिज्ञासा) श्रवणम्,

---

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं १

२ त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्.... —उत्तरमेघ ४७

३ नखाग्रैर्मम्मथलेखः एष नलिनीपत्रे मदर्पितः —अभि ३।२४

४ स्वस्ति महाराजाग्निमित्रं पुष्पमित्रो वैदिशस्थं ..

—माल अंक ५, पृ १३२

५ लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् —रघु ३।२८

६ Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute Vol. XXV Glimpses of Education in Ancient India by Radha Kumud Mukerjee Page 67-68

७ "Individuation shears out omniscience It is bondage it limits vision Individuation is death —Same book Page 68

८ Same book page 68-71

कि शिष्य को जितना आवश्यक है वह सीख चुका तब वह उसे गृह लौटने की अनुमति दे देता था। इसी लिए रघु ने कौत्स से पूछा था कि क्या आपके गुरुजी ने प्रसन्न होकर आपको गृह लौटने की और गृहस्थ बनने की अनुमति दे दी है[1]? वैसे जो आजन्म विद्या पढ़ना चाहते थे पढ़ सकते थे। दुष्यन्त ने शकुन्तला के लिए सखियों से पूछा था कि यह आजन्म पढ़ती रहेगी या इसका विवाह भी होना है[2]। एक और बात भी स्पष्ट नहीं होती वास्तुकला, रत्नादि की काटछाँट, वस्त्र बुनना आदि भी क्या आश्रम में गुरुजी सिखाया करते थे? सम्भवतः यह सब नगर में ही व्यक्ति सीख लेते होंगे। पूर्वजों की विद्या पुत्र पिता से ग्रहण कर लेता होगा। एक स्थान पर कवि ने स्वयं कहा है कि रघु ने शस्त्र-विद्या अपने पिता से सीखी थी[3]। कुश ने भी अपने पुत्रों को समस्त शिक्षा दे दी थी[4]।

फीस (शुल्क)—गुरु का कर्तव्य शिक्षा-दान था अतः इसका प्रश्न ही नहीं उठता था। निर्धन छात्र निःशुल्क शिक्षा प्राप्त किया करते थे। जैसे जैसे बताया जा चुका है कि गुरु शिक्षा-समाप्ति पर दक्षिणा लिया करता था। इसका भी कोई नियम नहीं था। अपनी-अपनी सामर्थ्य से जो जो भेंट कर देता था गुरु उसको ही ग्रहण कर लेता था। यही छात्र का शुल्क कहा जा सकता है।

परीक्षा—कोई निश्चित कक्षा और परीक्षा का नियम स्थायी रूप में नहीं था। गुरु जब देख लेता था कि शिष्य इस योग्य हो गया है कि आगे बढ़े तब बढ़ जाता था। अतः कालिदास ने विद्यार्थियों के प्रति कहा है कि बिना पूरी तैयारी हुए परीक्षा में नहीं बैठना चाहिए, इससे अपनी भी हानि और अध्यापक के प्रति अन्याय है[5]। विद्या अभ्यास से आती है[6]।

परीक्षक—परीक्षक के लिए सबसे मुख्य गुण 'पक्षपात का न होना' है। भगवती परिव्राजिका को इसी कारण परीक्षिका बनने पर विचार करता है कि

---

१ अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग्विनीयानुमतो गृहाय।
कालो ह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते॥ —रघु ५।१

२ वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानाद् व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्।
अत्यन्तमेव मदिरेक्षणवल्लभाभिराहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः॥
—अभि १२५

३ स्वयं न मेध्या परिधाय रौरवीमशिक्षतास्त्रं पितुरेव मंत्रवत्।—रघु ३।३१

४ तमादौ कुलविद्यानामर्थमर्थविदां वरः। —रघु १७।३

५ आतिनिष्ठितमतिरेतस्मात् पुनरभ्यसनम्। —माल अंक १ पृ २७६

६. क्रियाभ्यसनेनैव प्रमादमनुमहमि। —रघु १।८८

कर सकती थी। इसका संकेत शकुन्तला में है। सम्भव है शूद्रादि निम्नवर्ग की स्त्रियों से विवाह करने के कारण भाषा, उच्चारण आदि की अवनति हो जाने पर उनके अधिकार और शिक्षा आदि की योग्यता छीन ली गई हो, क्योंकि अग्निमित्र की रानी धारिणी पढ़ना नहीं जानती थी, अतः उसने पत्र स्वयं न पढ़ कर पढ़वाया था[1]।

परन्तु शकुन्तला, अनसूया, प्रियंवदा, इन्दुमती, मालविका, उर्वशी सब उच्च शिक्षिता थीं। अनसूया, प्रियंवदा ने अंगूठी पर लिखा हुआ दुष्यन्त का नाम पढ़ लिया था। शकुन्तला और उर्वशी का प्रणय-निवेदन काव्यबद्ध था। अतः वे काव्य-रचना की पारंगता थीं। गाना, बजाना और चित्र-रचना इन सबकी विशेषता थी। इन्दुमती अज से ललितकलाएँ सीखा करती थी[2]। वे आश्रम में भी पढ़ती थीं और घर पर भी। विवाह होने के पश्चात् भी उनकी शिक्षा चलती रहती थी। यह सब उनकी इच्छा पर था। इन्दुमती की शिक्षा पति द्वारा ही हुई थी।

ललितकलाओं के अतिरिक्त स्त्रियों के व्रत आदि करने, धार्मिक अनुष्ठान में पति के सहयोग देने से स्पष्ट होता है कि धर्मशिक्षा उनकी शिक्षा का अंग थी।

स्त्रियाँ काम-शास्त्र भी पढ़ती थीं। अनसूया और प्रियंवदा ने शकुन्तला से कहा था कि कामीजनों की जो अवस्था हमने सुनी है, वह तुममें दिखाई दे रही है[3]। पार्वती ने भी काम-कला शंकर से सीखी थी[4]। इन्दुमती के स्वयंवर के समय सुनन्दा ने राजाओं का जैसा परिचय दिया था वह समस्त विवरण इसका साक्षी है कि कामशास्त्र सब पढ़ती थीं और इसकी बातें खुलेआम कर ली जाती थीं, इसकी चर्चा ही न हो ऐसा यह विषय नहीं समझा जाता था।

राजकुल रमणियों के समान स्त्रियाँ युद्ध-सञ्चालन सीखती थीं, इसका कहीं संकेत नहीं है। उर्वशी अपनी रक्षा नहीं कर पाई थी। अवश्य ही वे अपनी रक्षा और युद्ध करना नहीं जानती थीं। इसके अतिरिक्त कालिदास की स्त्रियों की विशेषता ही भीरुता है। अतः इससे भी इसकी पुष्टि होती है।

---

१ माल पृ १२२ १५१।

२ गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ। —रघु ८।६७

३ यादृशी इतिहासनिबन्धेषु कामयमानानामवस्था श्रूयते तादृशीं ते पश्यामि।
—अभि अंक ३ पृ ४४

४ शिष्यतां निधुवनोपदेशिनः शंकरस्य रहसि प्रपन्नया।
शिक्षितं युवतिनैपुणं तया यत्तदेव गुरुदक्षिणीकृतम्॥ —कुमार ८।१७

अपने अध्ययन के बल से सखियों ने शकुन्तला का शृंगार किया था[1] अतः प्रसाधन-कला, घर सजाना, माला बनाना, अतिथि-सत्कार आदि उनकी शिक्षा के अंग थे। वैसे वे साहित्य और ललित कलाएँ पढ़ती थीं। स्त्रियों की शिक्षा और पटुत्व पर दुष्यन्त ने व्यंग्य किया है कि वे बिना सिखाए-पढ़ाए ही बड़ी चतुर हो जाती हैं, तब फिर इन समझदार शिक्षित स्त्रियों का पूछना ही क्या[2] ?

तैरने की विद्या भी स्त्रियाँ जानती थीं। जल-विहार में स्त्रियाँ तैरती और आनन्द किया करती थीं[3]।

अतः स्त्री और पुरुष की शिक्षा में मौलिक भेद था। उनकी कोमलता सुकुमारता और हृदय की सरस भावनाओं के अनुसार जो शिक्षा उचित समझी जाती थी वो दी जाती थी।

स्त्रियों का क्षेत्र घर ही नहीं बाहर भी था। अंतःपुर की सेविकाएँ किराती यवनी और प्रतिहारी स्त्रियाँ ही थीं। उद्यान-पालिका का भी प्रसंग है। मालविकाग्निमित्र में कोष की रक्षिका माधविका थी।

---

१ चित्रकर्मपरिचयेनाङ्गेषु ते आभरणविनियोगं कुर्वः।—अभि अंक ४ पृ ६७

२. स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः।
—अभि ५।२२

३ एता गुरुश्रोणिपयोधरत्वादात्मानमुद्वोढुमशक्नुवत्यः।
गाढाङ्गदैर्बाहुभिरप्सु बालाः क्लेशोत्तरं रागवशात्प्लवन्ते ॥—रघु १६।६
सम्पूर्ण १६वें सर्ग में जलक्रीडा है।

बारहवाँ अध्याय

दर्शन तथा धर्म

'धर्म चर धर्मान्न प्रमदितव्यम्' आदि श्रुतिवाक्यों से सामान्यतः सभी परिचित हैं परन्तु इस धर्म शब्द का क्या वास्तविक अर्थ है—इस पर सामान्यतः कोई गम्भीरता से विचार नहीं करता। व्याकरण की दृष्टि से 'धृ' धातु में मन् प्रत्यय लगाने से 'धर्म' शब्द बनता है। इसकी व्युत्पत्ति तीन प्रकार से होती है—'ध्रियते लोकः अनेन इति धर्मः' जिससे लोक धारण किया जाय वही धर्म है, 'धरति धारयति वा लोकं इति धर्मः' जो लोक को धारण करे वह धर्म है, 'ध्रियते यः स धर्मः' जो दूसरों से धारण किया जाय वह धर्म है। महाभारत में धर्म का लक्षण इस प्रकार व्यक्त किया गया है—धारणात् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः। अतः धर्म शब्द का धातुगत अर्थ धारण करना ही है।

जैसे अग्नि का धर्म उष्णत्व है, उष्णता न हो तो अग्नि की कोई सत्ता नहीं इसी प्रकार धर्म के बिना समाज की भी कोई सत्ता नहीं। भारतीय-संस्कृति का आधार ही धर्म है। विश्व में विनाश की ओर जाने की प्रवृत्ति धर्मत्याग से ही आई है, 'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः'।

धर्म शब्द का अर्थ बड़ा व्यापक अर्थ है। कुल-धर्म जाति-धर्म देश-धर्म आदि सब इसकी ही सीमाएँ हैं। जीवन के नैतिक नियम भी इसी धर्म शब्द के अन्तर्गत हैं। मनु ने इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर सत्य संयम अक्रोध आदि गुणों को धर्म के दस लक्षणों में माना।

महात्मा बुद्ध ने प्रबुद्ध मन से जीवन का विश्लेषण करते हुए यही निश्चय किया कि धर्म की ही नींव पर सृष्टि और मानव-जीवन टिक सकता है। 'धर्मं शरणं गच्छामि' का जब प्रचार हुआ तब धर्म का यही उच्च अर्थ था। किसी छोटे मत या सम्प्रदाय के लिए धर्म शब्द का प्रयोग बुद्ध अथवा उनके शिष्यों को मान्य नहीं था।

धर्म नित्य है। धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है। वाल्मीकि ने धर्म को चरित्र का पर्यायवाची माना है। 'रामो विग्रहवान् धर्म' उनकी

धारणा थी परन्तु 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' एक ही तत्त्व की व्याख्या अनेक है, *अतः मतमतान्तर इसी धर्म की व्याख्या के अन्तर्गत आए।*

(१) ईश्वर के विषय में धारणा

परमेश्वर के यथार्थ स्वरूप के विषय में वर्णन करते हुए कवि कहता है कि उसका यथार्थ वर्णन नहीं किया जा सकता क्योंकि वह वाणी और मन से अगोचर है[१]। प्रत्यक्ष अनुमान और आप्तवचन से ही सामान्यतः ज्ञान होता है, पर ईश्वर इन सबके परे है।

> प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव ।
> आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा ॥ —रघु १०।२८

उसमें अनेक विरोधी गुण दृष्टिगत होते हैं। इसी कारण यथार्थ स्वरूप किसी को *अवगत नहीं होता। वह स्वयं 'अज' है* पर फिर भी अवतार लेता है। स्वयं आप्तकाम है, फिर भी शत्रुओं का संहार करता है[२]। उसको स्वयं कोई इच्छा नहीं है, पर सबकी इच्छा वह पूर्ण करता है। उसको कोई जीत नहीं सकता पर उसने सबको जीत लिया है। वह किसी को प्रत्यक्ष नहीं पर, उसने इस दृश्यमान जगत् को उत्पन्न किया है[३]। वह सबके हृदय में रहता है, तब भी दूर है इच्छा-रहित है, फिर भी (नरनारायण के रूप में बदरिकाश्रम में) तपस्या करता है। दयालु है, फिर भी दुःख कभी स्पर्श नहीं करता। सब उसे पुराण पुरुष कहते हैं पर फिर भी वह कभी वृद्ध नहीं होता[४]। वह जितना द्रव है उतना ही घन जितना स्थूल है उतना ही सूक्ष्म जितना लघु है उतना ही गुरु[५]। वही चर अचर सृष्टि की उत्पत्ति और लय का कारण है।

सांख्य मत—सांख्य दर्शनकार के मतानुसार पुरुष और प्रकृति दो स्वतन्त्र

---

१ स्तुत्यमवाङ्मनसगोचरम् ।—रघु १०।१५

२. अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव ॥—रघु १०।२४

३ अमेयो मितलोकस्त्वमनर्थी प्रार्थनावह ।
अजितो जिष्णुरत्यन्तमव्यक्तो व्यक्तकारणम् ॥ —रघु १०।१८

४ हृदयस्थमनासन्नमकामं त्वा तपस्विनम् ।
दयालुमनघस्पृष्टं पुराणमजरं विदुः ॥ —रघु १०।१९

५. द्रव संघातकठिन स्थूल सूक्ष्मो लघुर्गुरु ।
व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि प्राकाम्यं ते विभूतिषु ॥ —कुमार २।११

रूप है। कुमारसम्भव म इस मत का सम्यक आभास है[1]। उसे संसार की उत्पत्ति और प्रलय करने में किसी साधन की आवश्यकता नहीं है। अपने आप ही अपने को वह उत्पन्न करता है, सृष्टि कर चुकने पर कार्य की समाप्ति पर आप ही अपने को अपने में लीन कर लेता है[2]।

सभी प्रकार के कर्म प्रवृत्तियाँ अनुभूति आदि प्रकृत्योद्भूत हैं[3]। प्रकृति संसार की रचना का मूल कारण है, जगत् का विकास है, वह अव्यक्त है[4]। प्रकृति इन्द्रियों का विषय है, परिवर्तन का सिद्धान्त है परन्तु पुरुष का इस सृष्टि में कोई हाथ नहीं। वह निष्क्रिय है। प्रकृति पुरुष के लिए काम करती है। कालिदास सांख्य के इस मत से सहमत हैं[5]। वे भी प्रकृति को पुरुष की इच्छा के लिए ही मानते हैं[6]। प्रकृति के लिए 'पुरुषार्थ प्रवर्तिनी' की संज्ञा पुरुष को उदासीन और तटस्थ कहना सब सांख्यदर्शन के सिद्धान्त हैं।

जगत् की प्रकृति के सम्बन्ध मे भी उन्होंने सांख्य विचारों को मान्यता दी है। सत्व रजस् और तमस् तीनों गुणों का उल्लेख वे बार-बार करते हैं। इन तीनों का समन्वय ही प्रकृति है[8]। इसी प्रकार 'बुद्धिरिवाव्यक्तमुपादानम्'[9] कहकर उन्होंने फिर सांख्यमत की मान्यता स्थापित की है। यह भी बुद्धि को अव्यक्त से उत्पन्न कहते हैं और सांख्यकारिका भी। इसको श्री उपाध्यायजी ने अच्छी तरह से स्पष्ट कर दिया है[10]। सांख्यदर्शन का अनुसरण करते हुए उन्होंने

---

१ त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम्।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः ॥ —कुमार २।१३

२ आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना।
आत्मना कृतिना च त्वमात्मन्येव प्रलीयसे ॥ —कुमार २।१०

३ गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे। —कुमार २।४

४ पूर्व उल्लेख

५ त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम्।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः ॥ —कुमार २।१३

६ देखिए, पादटिप्पणी नं १

७ देखिए, पादटिप्पणी नं १

—रघुरप्यजयद्गुणत्रयम् प्रकृतिस्थम्। —रघु ८।२१
—मंत्रिणा तमसेवोभौ गुणौ प्रथममध्यमौ।—रघु १।१८

८ सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। —सांख्य सूत्र १ ६१

९. रघु १३।६

१ India in Kalidas, Page 342-343

तीनों प्रमाणों का (अर्थात् प्रत्यक्ष अनुमान और आप्तवाक् का) उल्लेख किया है[1]।

वेदान्त मत—उपनिषद् ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता के सिद्धान्तों का प्रतिपादन इनके ग्रन्थों में मिलता है। वेदान्त का नाम भी इनकी कृतियों में है। वे प्रचलित वेदान्त और सर्वव्यापक ब्रह्म का ही उल्लेख करते हैं।

> वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
> यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः ।
> अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते
> स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः ॥
> —विक्रम १।१

इस पद से उपनिषद् दर्शन अधिक अभिव्यक्त होता है। उपनिषद् ब्रह्म को जगत् का कारणस्वरूप मानता है[2]। साथ ही वेदान्त और योग के द्वारा प्रतिपाद्य और मन्त्रेण्य वस्तु भक्ति द्वारा सुलभ बताई गई है। इससे स्पष्ट है कि कालिदास के समय में वैष्णवों द्वारा अनुमोदित भक्तिभाव का प्रचार पर्याप्त हो चला था।

विष्णु की प्रशंसा करते हुए उन्होंने उनको स्रष्टा पालनकर्ता और घातकर्ता कहा है[3]। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म निराकार और निर्गुण है। इस सिद्धान्त और उनके विचार सिद्धान्त में विरोध नहीं है। जिस प्रकार वर्षा का जल सरिता नद सागर आदि जहाँ गिरता है उसी के आकार को धारण कर लेता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी सत्व रजस् और तमस् गुणों से युक्त होकर स्रष्टा पालन-कर्ता और संहारकर्ता बन जाता है। वे एक ही ब्रह्म का विश्व के रूप में व्यक्त कर देते हैं[4]। ब्रह्मा विष्णु, महेश सब एक ही ब्रह्म के रूप हैं। 'जगदादि[5]

---

१ प्रत्यक्षमाप्तवाचो बुद्धिरेवाभ्यनुमाहरन्ति —रघु० १३।६
—प्रत्यक्षाद्यपरिच्छेद्या मह्यादिमहिमा तव ।
आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा ॥ —रघु० १०।२८

२. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति ।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति ।—तै० उ० ३।१

३ नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते ।
अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधास्थितात्मने ॥ —रघु० १०।१६

४ सर्वविषमत्वं तुभ्यं ...।
... ॥ —कुमार० २।६

५. जगद्योनिरयोनिस्त्वं जगदन्तो निरन्तकः ।
जगदादिरनादिस्त्वं जगदीशो निरीश्वरः ॥ —कुमार० २।९

वाक्यार्थ मे भी वेदान्तीय सिद्धान्त है। ईश्वर जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण है, अतः जगत् में उसके अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता नहीं। विष्णु के सम्बन्ध में इनके विचार गीता से प्रभावित लगते है। जैसे— आप पितरों के भी पिता देवताओं के भी देवता सृष्टाओं के भी स्रष्टा है[1]। आप ही हव्य है और आप ही होता आप ही भोज्य है और आप ही भोक्ता आप ही ज्ञान है और आप ही ज्ञाता आप ही ध्याता है और आप ही ध्येय[2]। विष्णु के गुण जिनके द्वारा वह अपने आकार का विस्तार कर सकता है, हृदय में निवास करता हुआ भी दूर, निष्काम होने पर भी तपस्वी दयालु होकर भी शोकरहित पुरातन होते हुए भी वीकार-रहित उपनिषदों के समान ही है[4]। इसी प्रकार वह सबका होते हुए भी अज्ञात है, सबकी उत्पत्ति का हेतु होते हुए भी स्वयं किसी के द्वारा उत्पन्न नहीं किया गया है सबका स्वामी है, पर स्वयं स्वामिरहित है, एक होते हुए भी अनेक रूप धारण करता है[5] दया करके पृथ्वी पर अवतार लेता है और मनुष्य की तरह आचरण करता है[6]। ये सब गीता के सिद्धान्तों से समानता रखते है[7]। गीता के श्लोकों मे अवतार के सम्बन्ध मे इसी प्रकार के उद्गार व्यक्त किए गए है। यही नहीं— आप लोक-पालन में समर्थ है फिर भी उदासीन है यह विचार भी गीता से लिया गया लगता है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण कवि के ग्रन्थों में देख जा सकते है जैसे— गंगाजी की सभी धाराएँ समुद्र में आ गिरती है, उसी प्रकार परमात्मा के समस्त मार्ग जो भिन्न-भिन्न धर्मग्रन्थों में वर्णित है, उसी में जाकर मिल जाते है। यह गीता के समकक्ष समानान्तर ही है। जिन पुरुषों को

---

१ त्वं पितॄणामपि पिता देवानामपि देवता।
परतोऽपि परश्चासि विधाता वेधसामपि ॥—कुमार २।१४
२. त्वमेव हव्यं होता च भोज्यं भोक्ता च शाश्वत।
वेद्यं च वेदिता चासि ध्याता ध्येयं च यत्परम् ॥ —कुमार २।१५
३ रघु १।१६ पूर्व उल्लेख
४ सर्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः ।
सर्वप्रभुरनीशस्त्वमेकस्त्वं सर्वरूपभाक् ॥—रघु १।२
—एकं रूपं बहुधा यः करोति।—कठोपनिषद्, ५,१२
६ अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किंचन विद्यते।
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणो ॥—रघु १।११
७ गीता ४।६ १

धारणा[1] और समाधि[2] का वर्णन किया है। मन में परमात्मा में लीन आत्मा का अनुभव करना अथवा निराकार का चिन्तन के द्वारा ध्यान ही योगविधि है—योग मार्ग के सिद्धान्तों का मत अतः तत्कालीन जनता को सर्वमान्य है[3]। पतंजलि के योगसूत्र के आधार पर ही कवि ने अपने ये विचार व्यक्त किए हैं।

समाधि अन्तिम अवस्था है जिसमें मन और इन्द्रियों की सम्पूर्ण क्रियाएँ पूर्णतः बन्द हो जाती हैं। तत्पश्चात् यह स्थिर धी[4] की अवस्था को प्राप्त हो जाता है, जो गीता के 'स्थितप्रज्ञ'[5] की ही अवस्था है। यह पूर्ण शान्ति की अवस्था है।

योगसाधन की प्रक्रिया पर्यङ्कबन्ध[6] और वीरासन[7] दोनों का कवि ने उल्लेख किया है। कुमारसम्भव में शिवजी की तपस्या करते समय की मुद्रा वीरासन सब इसी योगसाधन के अनुसार ही है। उनका ऊपरी आधा शरीर सीधा और निश्चल होना कमल के समान हथेलियों को गोदों पर उत्तानमुख रखना कंधों का कुछ झुका होना[8] अर्धनिमीलित और स्थिर दृष्टि का नासिका के अग्र भाग

---

१ परिचेतुमुपांशु धारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम्। —रघु ८।१८

२ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ४ रघु ८।२४ १

—प्रत्यर्थिभूतामपि तां समाधेः शुश्रूषमाणां गिरिशोऽनुमेने।
विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः॥

—कुमार १।५९

—आत्मेश्वराणां न हि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति॥

—कुमार ३।४

३ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ३ ४।

४ न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरा परमात्मदर्शनात्। —रघु ८।२२

५ प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ —गीता २।५५

६ पर्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं संनमितोभयांसम्।
उत्तानपाणिद्वयसंनिवेशात्प्रफुल्लराजीवमिवाङ्कमध्ये॥ —कुमार ३।४५

७ वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः।
निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि॥

—रघु १३।५२

८ पूर्वोल्लेख देखिए, पादटिप्पणी नं ६

पर सदा रहना[1] शरीर के अन्तर्गत वास करने वाले पाँचों पवनों का अवरोध[2] पवन-रहित स्थान में निष्कम्प प्रदीप के समान हो जाना[3] सब योगसूत्र के ही अनुकरण पर है। अतः जनता की उस समय योग पर अटूट आस्था प्रतीत होती है।

एक स्थान पर कवि ने 'शिरस्त'[4] शब्द का प्रयोग किया है। योगसूत्र के अनुसार इसका संकेत ब्रह्मरन्ध्र से है जो बुद्धि का चरम केन्द्र है और जिसका सम्बन्ध सुषुम्ना के साथ है।

इसी प्रकार विष्णु योगनिद्रा[5] में सोए माने जाते हैं। इसमें किसी प्रकार की बाह्य चेतना नहीं रहती परन्तु आन्तरिक चेतना और स्मरणशक्ति रहती है। दूसरे शब्दों में यह योगी की निद्रा है, अभ्यासी की चरमगति है।

समाधि की अवस्था में बाह्य पदार्थों के साथ सम्पूर्ण सम्पर्क को रोक कर, मन को बिलकुल निगृहीत कर लिया जाता है, आत्मा की ज्योति को भीतर देखने का प्रयत्न किया जाता है[6]। अन्त में अक्षर ब्रह्म[7] में ध्यान लगा कर योगी परम ज्योति[8] को प्राप्त कर लेता है। गीता में भी समाधि की यही अवस्था वर्णित है। अक्षर ब्रह्म को भी परम बतलाया है[9]।

इस प्रकार की समाधि के लिए एकान्त वांछनीय था। अतः तपोवन में गोपवन में समाधि लगाए तपस्वियों को वेदिकाओं के बीच में बैठे सब भी समाधिस्थ कहते थे[10]।

---

१ किंचित्प्रकाशस्तिमितोग्रतारैर्भ्रूविक्रियायां विरतप्रसंगैः।
नेत्रैरविस्पन्दितपक्ष्ममालैर्लक्ष्यीकृतघ्राणमधोमयूखैः॥ —कुमार ३।४७

२ अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरंगम्।
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम्॥—कुमार ३।४८

३ देखिए, पादटिप्पणी नं० २

४ कपालनेत्रान्तरलब्धमार्गैर्ज्योतिःप्ररोहैरुदितैः शिरस्तः। —कुमार ३।४९

५ अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान्पुरुषोऽधिशेते। —रघु १३।६

६ मनोनवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम्॥ —कुमार ३।५०

७-८ देखिए, पादटिप्पणी नं० ६

९ अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥ —गीता ८।३

१० पूर्वोल्लेख रघु १३।५२

अतः परमात्मा की प्राप्ति के लिए कवि के समय में तीन साधन माने गए — योगाभ्यास, भक्तियोग और कर्तव्यपालन[1]। ये सब उसके पास पहुँचने के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। प्रत्येक मनुष्य को अपनी शक्ति के अनुसार इन मार्गों का उपयोग करना चाहिए। इसको इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

> बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः ।
> त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥ —रघु० १ ।२६

भगवद्गीता में भी ज्ञान, योग, भक्ति और निष्काम कर्मयोग परमेश्वर की प्राप्ति के साधन कहे गए हैं।

(२) जगत् के विषय में धारणा

सांख्य मत को कवि ने इस सम्बन्ध में मान्यता दी है, अर्थात् प्रकृति सृष्टि-रचना का मूल कारण है[2]। ब्रह्मा की उपासना करते हुए देवताओं ने जो कुछ कहा उससे जगत् के विषय में धारणा की पुष्टि हो जाती है। आपने सबसे पहले जल उत्पन्न करके उसमें ऐसा बीज डाल दिया जो कभी व्यर्थ नहीं होता और जिससे एक ओर यह पशु-पक्षी मनुष्य आदि चलने वाले जीव और दूसरी ओर वृक्ष पहाड़ आदि न चलने वाला जगत् उत्पन्न हुआ है[4]। आप ही संसार की उत्पत्ति, पालन और नाश करने वाले हैं[5]। सब कुछ आप अपने से ही उत्पन्न करते हैं और सब कुछ अपने में ही लीन कर लेते हैं[6]। कल्प ब्रह्मा के एक दिन के बराबर है, जिसमें वह सृष्टि करता है। इसके पश्चात् इतने ही समय की रात्रि आती है, जिसमें सर्वत्र प्रलय का साम्राज्य छा जाता है। इसमें विष्णु क्षीरसागर में शेष-शय्या पर सो जाते हैं[7]। प्रातः होने पर फिर सृष्टि की रचना प्रारम्भ हो जाती है।

---

१ पूर्वोल्लेख विक्रम १।१
२ मारुतिः सागरं तीर्णः संसारमिव निर्ममः । —रघु० १२।१
इसमें उपमा के द्वारा ध्वनि है।
३ पूर्वोल्लेख
४ यदमोघमपामन्तरुप्तं बीजमज त्वया ।
अतश्चराचरं विश्वं प्रभवस्तस्य गीयसे ॥ —कुमार० २।५
५ प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां गतः । —कुमार० २।६
६ पूर्व उल्लेख कुमार० २।६
७ स्वकालपरिमाणेन व्यस्तरात्रिंदिवस्य ते ।
यौ तु स्वप्नावबोधौ तौ भूतानां प्रलयोदयौ ॥ —कुमार० २।८

कालिदास ने सृष्टि के इस लोक का उल्लेख किया है पर इनके नाम कहीं नहीं दिए हैं। परम्परा के अनुसार यह पृथ्वी, अन्तरिक्ष, मुनि और सिद्धों के लोक, सूर्य के ऊपर या सूर्य और ध्रुव के मध्य इन्द्र का स्वर्ग, ध्रुव के ऊपर ब्रह्मा तथा भृगु और अन्य दिव्य ऋषियों का लोक।

(२) मृत्यु का सिद्धान्त

जीवन सुख तथा दुःख दोनों का सामञ्जस्य है। चक्र की तरह प्रत्येक मनुष्य कभी उन्नत और कभी अवनत होता है[१]। देह धारण कर मरण को प्राप्त होना स्वाभाविक है[२]। किसी मनुष्य की मृत्यु होने पर बहुधा मनुष्य ऐसे दुःखी होते हैं मानो उनके हृदय में कील गड़ गई हो, परन्तु विद्वान् मनुष्य मृत्यु को स्वाभाविक मान कर दुःखी नहीं होते। उनका कथन है कि मरण प्राप्त कर मनुष्य सांसारिक संसट से सदा के लिए मुक्त हो जाता है, अतः उन्हें ऐसा लगता है कि उनके हृदय से मानो कील निकल गई हो[३]। आत्मा के जीवन का मृत्यु अवसान नहीं किन्तु उसकी दीपशिखा है[४]। ऐसा भी विश्वास था कि परलोकवासी आत्मा सम्बन्धियों के अविरल अश्रु प्रवाह से अति दुःखी होती है[५]। कवि के समय में मृत्यु के विषय में यह धारणा प्रचलित थी। कालिदास ने तो मृत्यु को ही प्रकृति और जीवन को विकृति माना है—

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः ॥ —रघु. ८।८७

विष्णु और ब्रह्मा की एकता कवि ने निरूपित की है। आशय ब्रह्मा से ही है, चाहे स्तुति ब्रह्मा की हो अथवा विष्णु की।

१ सप्तसामोपगीतं त्वां सप्तार्णवजलेशयम्।
सप्तार्चिर्मुखमाचख्युः सप्तलोकैकसंश्रयम् ॥ —रघु. १०।२१

२ कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥ —उत्तरमेघ ४२

३ मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः। —रघु. ८।८७

४ अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम्।
स्थिरधीस्तु तदेव मन्यते कुशलद्वारतया समुद्धृतम् ॥ —रघु. ८।८८

५ अकाले बोधितो भ्रात्रा प्रियस्वप्नो वृथा भवान्।
रामेषुभिरितीवासौ दीर्घनिद्रां प्रवेशितः ॥ —रघु. १२।८१

६ स्वजनाश्रु किलातिसन्ततं दहति प्रेतमिति प्रचक्षते। —रघु. ८।८६

स्वर्ग में इन्दुमती को प्राप्त कर, नन्दन वन के क्रीडा भवन में रमण किया[1] ऐसा वर्णन आया है। यह भी उल्लेख मिलता है कि स्वर्ग का दूसरा नाम 'विष्णु धाम'[2] था।

मीमांसा दर्शन—स्वर्गप्राप्ति के सम्बन्ध में मीमांसकों के मत का विवेचन करना अप्रासंगिक न होगा। मीमांसकों की मान्यता है कि वेद स्वर्गप्राप्ति के साधनस्वरूप कर्म अर्थात् यज्ञ-याग कर्मकाण्ड करने का आदेश करते हैं। कवि का भी एक स्थान पर कदाचित् इसी से संकेत है। वह 'स्वर्गफल'[3] प्राप्त करने के लिए वेदविहित कर्मकाण्डों को आश्रय देता है। कवि ने 'गिराम्' शब्द का प्रयोग किया है, जिसका सम्बन्ध वेदों से है। अतः मीमांसकों की मान्यता इससे पुष्ट हो जाती है। मल्लिनाथ का कथन 'कर्मस्वर्गापवर्गयोरप्युपलक्षणम्'[4] इसी की पुष्टि है।

मृत्यु के पूर्वज को ही संज्ञा पितृ[5] है। इनका लोक पितृलोक है, इसका उल्लेख किया जा चुका है। इनको पिण्डभाक् भी कहा गया है, (अहो दुष्यन्तस्य संशयमारूढाः पिण्डभाजः।—अभि. पृ. १२२)। पिता की मृत्यु अथवा निधन दिवस पर पितृक्रिया[6] अथवा श्राद्ध होता था। मृतक की आत्मा को शान्ति पहुँचाने के लिए ये क्रियाएँ आवश्यक थीं। इनके लिए पुत्र ही एक मात्र अधिकारी होता था अतः दुष्यन्त और दिलीप दोनों को ही अपनी पुत्रहीनता पर अत्यन्त दुःख था[7]। इन सबका संस्कार अध्याय में सविस्तार उल्लेख किया जा चुका है।

---

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं. ७

२ मां मतस्य तव धाम वैष्णवं कोपितो ह्यसि मया दिदृक्षुणा। —रघु. ११।८५

३ उद्घातः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम्।
कर्म यज्ञः फलं स्वर्गस्तासां त्वं प्रभवो गिराम्॥ —कुमार. २।१२

४ देखिए, नं. ३ की ही टीका।

निवत्स्यते यैर्नियमाभिषेको येभ्यो निवापाञ्जलयः पितॄणाम्। —रघु. ५।८

—नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं धौताश्रुशेषमुदकं पितरः पिबन्ति।
—अभि. ६।२५

नस्कारस्य विवमप्यधान यो तां पिता प्रतिभयं बभाषिरे।
धरणीभिवतपितृक्रियोचितं बोधयन्त्य इव भावित धिया॥ —रघु. ११।६२

न पालेय

ऐसा वसिष्ठ ने अज को समझाया था। मनुष्य को कर्म का फल भोगना पड़ता है, किन्तु ज्ञान से ही कर्म नष्ट होते हैं यह भगवद्गीता का तत्त्व इतरो दहने स्वकर्मणां ववृते ज्ञानमयेन वह्निना'[1] में ध्वनित है। कवि के विश्वास का प्रतीक कि उस समय कर्मवाद में आस्था थी निम्नलिखित श्लोक से व्यक्त होता है—

'फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव' —रघु० १।२

अतः पूर्वजन्म के संस्कार मनुष्य के साथ-साथ चलते हैं। 'मनो हि जन्मान्तर संगतिज्ञम्'[2] इसकी पुष्टि कर देता है। पूर्वजन्म में स्थापित मित्रता और प्रेम आगामी जन्म में यद्यपि मनुष्य भूल जाता है, पर वह बिल्कुल लुप्त नहीं होता। कवि का ऐसा भी कथन है कि प्रत्येक प्रकार के सुख के साधन उपस्थित रहने पर भी मनुष्य कभी-कभी उदास हो जाता है। उसे कोई भी वस्तु प्रसन्न नहीं कर पाती यद्यपि वह अपनी उदासी के कारण को जान नहीं पाता। उसके मतानुसार मनुष्य गत जीवन के किसी प्रिय के प्रेम को भी नहीं भूल पाता[3]। यह प्रेम उसकी अवचेतनावस्था में उस जन्म में भी उपस्थित रहता है।

सीता अपने जन्मान्तर के पातकों को ही इस जन्म के दुःख का कारण बताती है[4]। इसी प्रकार दुष्यन्त का कथन—'भवन्ति भवितव्यानां द्वाराणि सर्वत्र'[5] यह भी पूर्वजन्म के लिए कर्म के अनुसार सिद्धि प्राप्त होने का कवि का विश्वास है, परन्तु कठोर साधना के द्वारा अन्य जन्म में मनुष्य की अभिलाषा की पूर्ति का भी कवि ने वर्णन किया है—

साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः ॥ —रघु० १४।६६

(७) आत्मशुद्धि

कर्तव्यपरायणता और ईश की कृपा द्वारा ही जीवन सुखद हो सकता है। इसके लिए आत्मशुद्धि की परम आवश्यकता है। इसके लिए कवि वेदादि ग्रन्थों

---

१ रघु० ८।२ २ रघु० ७।१५

३ रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥
—अभि० ५।२

४ ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः। —रघु० १४।६२

५ अभि० १।१६

का अध्ययन आवश्यक समझता है[१] । श्रुति स्मृति और धर्मशास्त्रों का महत्त्व स्वीकार करता है । सबसे अधिक महत्त्वशील है दैनिक जीवन की पवित्रता आदर्श और नियमबद्धता[२] । इसी आत्मनियन्त्रण और अनुशासन से प्रजा पर, अथवा जिस समूह में मनुष्य रहता है उस पर प्रभाव पड़ता है[३] । समाज का प्रत्येक व्यक्ति उसकी उन्नति और अवनति के लिए उत्तरदायी है । पूजनीय व्यक्तियों का आदर करने से कल्याण होता है[४] । मनुष्य को दूसरे की निन्दा नहीं करनी चाहिए । दूसरे के द्वारा निन्दा करते हुए शब्दों को सुनना भी पाप है[५] । अनुचित कार्य करने पर या अज्ञान में भूल होने पर पश्चात्ताप भी करना चाहिए[६] ।

आध्यात्मिक मार्ग अथवा धर्म का महत्त्व—आध्यात्मिक मार्ग पर चलने वाले मनुष्यों को प्रातःकाल बहुत जल्दी उठना चाहिए और यथाशक्ति ध्यान भजन करना चाहिए क्योंकि इस समय हृदय बहुत स्वच्छ और स्थिर रहता है । कुमारसम्भव में कवि ने सन्ध्या पर ज़ोर दिया है[७] । शकुन्तला में मनोभाव पवित्रता[८] की आवश्यकता समझाई है । एक स्थान पर वह अर्थ और काम से ऊपर धर्म को मान्यता देता है[९] । रघुवंश में यज्ञ की महत्ता बताई है[१] और तप की अमूल्यता तो सर्वत्र है । कुमारसम्भव प्रथम सर्ग में शिवजी की

---

१ प्रवाद प्रभवो यासा त्यागैस्त्रिभिरुदीरणम् । —कुमार २।१२
—श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् । —रघु २।२

२ अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्याना पारदृश्वन: ।
तस्य धर्मरतेरासीद्वृद्धत्वं जरसा विना ॥ —रघु १।२३

३ रघुवंशी राजा ऐसे ही आदर्श-स्वरूप थे । यथा—दिलीप रघु, राम ।

४ प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः । —रघु १।७९

५ न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक् ।
—कुमार ५।८३

६ अप्रमोपनतेनैव साधोर्हृदयमेनसा । —रघु १।१९

७ निर्मितेषु पितृषु स्वयंभुवा या तनुः सुतनु पूर्वमुज्झिता ।
सेयमस्तमुदयं च सेवते तेन मानिनि ममात्र गौरवम् ॥ —कुमार ८।५२

८ सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः । —अभि १।२१

९ अनेन धर्मः सविशेषमद्य मे त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भामिनि ।
त्वया मनोनिर्विषयार्थकामया यदेक एव प्रतिगृह्य सेव्यते ॥—कुमार ५।३८

१ दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम् । —रघु १।२६

तपस्या पञ्चम सर्ग मे उमा की तपस्या षष्ठ सर्ग में सप्तर्षियों और अरुन्धती का अपनी तपश्चर्या द्वारा स्वर्ग को शोभा प्रदान करना सब इसी मत की महिमा है। साधना भी दूसरे अर्थों में तपस्या है। शकुन्तला के परित्याग के पश्चात् दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों आत्मशुद्धि और साधना से प्रेम की उज्ज्वलता को प्राप्त करते हैं। यक्ष और यक्षपत्नी का विरह भी यही साधना है। विक्रमोर्वशीय में पुरूरवा का उर्वशी के लिए विलाप इसी साधना का एकांगी पक्ष है। अतः तपस्या की मान्यता सर्वत्र है।

यह तपस्या सार्थक तब है जब भगवान् प्रसन्न हों। अतः ईश के प्रति सच्चा प्रेम और उसकी कृपा की प्राप्ति ही समस्त धर्म का मूल है। वही सृष्टि-कर्ता पालनकर्ता और प्रलयकर्ता है, एक ही ईश की ये तीन शक्तियाँ हैं।

अपने समय मे पूजित अन्य देवताओं की चर्चा भी कवि ने उपेक्षा नहीं की वरन् वैदिक और पौराणिक समस्त देवताओं का उसने अपनी कृतियों में उल्लेख किया है।

वैदिक तथा पौराणिक देवता—देवताओं के लिए कवि ने देव[1] और दिवौकस[2] शब्दों का प्रयोग किया है। इन देवताओं में इन्द्र[3] अग्नि[4]

—हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु।
वृष्टिर्भवति सस्यानामवग्रहविशोषिणाम्॥ —रघु १।६२

१ तं मातरो देवमनुव्रजन्त्यः स्ववाहनक्षोभचलावतंसाः।—कुमार ७।३८

२ तस्मिन्विप्रकृताः काले तारकेण दिवौकसः।—कुमार २।१

३ अलीकृतस्यन्दनमम्भोधरेण वर्ष्म मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः।—रघु २।४२
—उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ।—रघु ३।२३
—अपूर्णमेकेन शतक्रतूपमः शतं क्रतूनामपविघ्नमाप सः।—रघु ३।३८
—अमुं तमश्वं पथ रक्षिणां जहार शक्रः किल गूढविग्रहः।—रघु ३।३९
इसी सर्ग में देखिए ४२ ४३ ४४ ४५ ५१ ६२ ६४ श्लोक।
—पुरुहूतध्वजस्येव तस्योन्नयनपङ्क्तयः।—रघु ४।३
—यमकुबेरजलेश्वरवज्रिणां समधुरं मधुरंचितविक्रमम्।—रघु ९।२४
—प्रशमादर्चिषामेतदनुद्गीर्णसुरायुधम्।
वृत्रस्य हन्तुः कुलिशं कुण्ठिताश्रीव लक्ष्यते॥—कुमार २।२०

४ पुरुषः प्रबभूवाग्नेर्विस्मयेन सहर्त्विजाम्।—रघु १०।५०
—स त्वं प्रशस्ते महिते मदीये वसंश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे।—रघु ५।२५

इन्द्र[1] सूर्य[2] यम[3] त्वष्टा[4] द्यावापृथिवी[5] और रुद्र[6] मुख्य हैं। द्यावापृथिवी तथा अग्नि के अतिरिक्त सभी पुराण के देवता भी बन बैठे। प्रकृति की दिव्यशक्तियों का भाव समाप्त हो गया। विष्णु सूर्य की प्रभा न रह कर पृथक् सर्वशक्तिमान् देवता बन गए, जिनके राम कृष्णादि अवतार भी हुए। नवीन देवताओं की भी योजना हुई जैसे ब्रह्मा[7]

---

१ समतया वसुवृष्टिविसर्जनैर्नियमनादसतां च नराधिपः ।
अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा ॥—रघु ९।६
देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं. १ रघु ९।२४
—इन्द्राद्वृष्टिर्नियमितगदोद्रेकवृत्तिर्यमोऽभू-
द्यादोनाथः शिवजलपथः कर्मणे नौचराणाम् ।
पूर्वापेक्षी तदनु विदधे कोषवृद्धिं कुबेर-
स्तस्मिन्दण्डोपनतचरितं भेजिरे लोकपालाः ॥—रघु १७।८१

२. सामभिः सहचराः सहस्रशः स्यन्दनाश्वहृदयंगमस्वनैः ।
भानुमग्निपरिकीर्णतेजसं संस्तुवन्ति किरणोष्मपायिनः ॥—कुमार ८।४१
इसके पश्चात् के ५ श्लोकों में भी इसी सूर्य की स्तुति का विवरण है।

३ ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्यहिंस्राः ।—रघु २।६२
देखिए, पादटिप्पणी नं. १
—यमोऽपि विलिखन्भूमिं दण्डेनास्तमितत्विषा ।—कुमार २।२३

४ उपात्ते तस्य सूक्ष्मरश्मिस्त्वष्ट्रा नवं निर्मितमातपत्रम् ।—कुमार ७।४१
—आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति ।
—रघु ६।३२

५. द्यावापृथिव्योः प्रत्यग्रमहपतिरिवातपम् ।—रघु, १।१४

६. इमामनूनां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयास्याम् ।—रघु २।५४
—रुद्राणामपि मूर्धानः क्षतहुंकारशंसिनः ।—कुमार २।२६

७ अतः पिता ब्रह्मण एव नाम्ना तमात्मजन्मानमजं चकार ।—रघु ५।३६
—अथ सर्वस्य धातारं ते सर्वे सर्वतोमुखम् ।
वागीशं वाग्भिरर्थ्याभिः प्रणिपत्योपतस्थिरे ॥—कुमार २।३
इस सर्ग में ४ से १५ श्लोक तक ब्रह्मा की स्तुति है।

स्थाणु, नीललोहित विश्वेश्वर शंभु, हर, गिरीश शिव पिनाकी आदि विशेषण आए हैं[1]।

देवियाँ—इनमें इन्द्र की पत्नी शची[2] सरस्वती[3] और पृथिवी[4] का उल्लेख है। सरस्वती और भारती[5] दोनों से विद्या की[6] देवी का नाम प्रकट होता है। पौराणिक देवियों में लक्ष्मी[7] पार्वती[8] और सप्त अंबिकाएँ[9] हैं। पार्वती के लिए उमा अम्बिका भवानी गौरी आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इनका वाहन सिंह है। सरस्वती ब्रह्मा की पत्नी और लक्ष्मी विष्णु की पत्नी

---

१ पूर्वोल्लेख उदाहरणों में देखिए। सम्पूर्ण उदाहरणों के श्लोक स्थानाभाव के कारण दिए नहीं जा सके।

२ असूत पुत्रं समये शचीसमा त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम् ॥ —रघु ३।११
—समागृहीतो चरणम्नमना मघा मघा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ ॥ —रघु ३।२३

३ स्तुत्यं स्तुतिभिरर्थ्याभिरुपतस्थे सरस्वती। —रघु ४।६
—निशम्य भिन्नाश्ववमेकसंस्थमस्मिन्द्वयं श्रीश्च सरस्वती च। —रघु ६।२९
—द्विधा प्रयुक्तेन च वाङ्मयेन सरस्वती तन्मिथुनं नुनाव। —कुमार ७।९०

४ ख्यातापृथिव्यौ प्रत्यग्रमहुपतिरिवात्मपम्। —रघु १।५४

५ बभूव कृतसंस्कारा चरितार्थैव भारती। —रघु, १।१६

६ देखिए, पादटिप्पणी नं ३ और ५

७ पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम्। —रघु ४।५
—श्रियः पद्मनिषण्णायाः क्षौमान्तरितमेखले। —रघु १।८

८ कुमार ३।६–२१ उमा वधूर्भवान्दाता याचितार इमे वयम्।
—कुमार ६।८२

सप्तम अष्टम सब सर्गों में पार्वती-विषयक वर्णन श्लोक हैं।
—जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ। —रघु १।१
—ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी
पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति। —पूर्वमेघ ४८

९ तं मातरो देवमनुव्रजन्त्यः स्ववाहनक्षोभचलावतंसाः।
मुखैः प्रभामण्डलरेणुगौरैः पद्माकरं चक्रुरिवान्तरिक्षम् ॥ —कुमार ७।३८
—तासां च पश्चात्कनकप्रभाणां काली कपालाभरणा चकासे।
बलाकिनी नीलपयोदराजी दूरं पुरःक्षिप्तशतह्रदेव ॥
—कुमार ७।३९

कही जाती है। कवि ने इनको पद्म पर बैठी हुई और विष्णु के चरण पलोटती हुई कहा है। अमरकोष में सप्त माताओं के नाम ब्राह्मी माहेश्वरी कौमारी वैष्णवी वाराही इन्द्राणी और चामुंडा दिए हैं।

भूचर देव और देवियाँ—इनमें गन्धर्व[1] यक्ष[2] किन्नर[3] किंपुरुष[4] पुण्यजन[5] विद्याधर[6] और सिद्ध[7] हैं। गन्धर्वों की स्त्रियाँ अप्सरा[8] या सुरांगना[9] कही गई हैं।

देवी-देवताओं के वाहन—शिव का वाहन वृष[10] विष्णु का गरुड़[11]

---

१ अवेहि गन्धर्वपतेस्तनूजं प्रियंवदं मां प्रियदर्शनस्य । —रघु ५।५३

२ यक्षाः किंपुरुषाः पौरा योषितो वनदेवताः । —कुमार ६।३९

—यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु

स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु । —पूर्वमेघ १

३ [illegible] किमिदं किन्नरकण्ठि सुप्यते । —रघु ८।६४

—उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् । —कुमार १।८

—वनेषु किन्नरराजकन्यका वनान्तसंगीतसखीररोदयत् । —कुमार ५।५६

४ देखिए, पादटिप्पणी नं. २ कुमार ६।३९

—यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छया किंपुरुषाङ्गनानाम् । —कुमार १।१४

५ अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा । —रघु ९।६

६ अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात विद्याधरहस्तमुक्ता । —रघु २।६०

७ उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः । —कुमार १।५

८ यस्याप्सरो विभ्रममण्डनानां संपादयित्रीं शिखरैर्बिभर्ति । —कुमार १।४

—अमर्त्यभावेऽपि कयोश्चिदासीदेकाप्सरःप्रार्थितयोर्विवादः । —रघु ७।५३

—आभीक्ष्य विबुधवधूभिर्गर्भमार्गे [illegible] यशोऽमृतम् । —विक्रम १।४

९ जगाद [illegible] सुरांगनाप्रार्थितयौवनश्रीः । —रघु ६।२७

१० कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम् । —रघु २।३५

—अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन । —रघु २।३६

—स गोपतिं नन्दिभुजावलम्बी शार्दूलचर्मान्तरितोरुपृष्ठम् । —कुमार ७।३७

११ मुक्तशेषविरोधेन कुलिशव्रणलक्ष्मणा ।

उपस्थितं प्रांजलिना विनीतेन गरुत्मता ॥ —रघु १०।१३

और शेष शय्या[1] पार्वती का वाहन सिंह[2] इन्द्र का ऐरावत[3] आदि का उल्लेख है। देवत्व की विभूति नन्दिनी गाय को भी प्राप्त हुई है। गंगा यमुना भी मनुष्य आकार में चामरधारिणी[4] का काम करती हैं। अतः नदियों को भी देवत्व प्राप्त हुआ है।

दैत्य-दानव—देवताओं के विरोधी दैत्य[5] और सुरद्विष[6] कहलाते थे। रावण[7] कालिय[8] लवण[9] आदि असुरों का कवि ने उल्लेख किया है। राहु[10] और केतु दो क्रूर ग्रहों को भी दैत्य रूप में परिगणित कर लिया गया। शिव के अनुचरगण[11] प्रेतयोनि के थे। शाकुन्तल में एक अदृश्य प्रेत[13] ने विदूषक को पीड़ित किया था[14]।

---

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ११

—भोगिभोगासनासीनं ददृशुस्तं दिवौकसः । —रघु १ ।७

२. रघु सर्ग २

३ अर्धपथस्तस्य मृगेन्द्र वाहन प्रभिन्नविम्बारघमाहृतो मृगा ।
करोति पादावुपगम्य मौलिना विनिद्रमन्दाररजोरुणाङ्गुलि ॥—कुमार ५।८

४ मूर्ते च गंगायमुने तदानीं सचामरे देवमसेविषाताम् ।—कुमार ७।४२

५. दैत्यस्त्रीगण्डलेखानां मदरागविलोपिभिः ।
हेतिभिश्चेतनावद्भिरुदीरितजयस्वनम् ॥ —रघु १ ।१२

६ प्रणिपत्य सुरास्तस्मै शमयित्रे सुरद्विषाम् ।
अथैनं तुष्टुवुः स्तुत्यमवाङ्मनसगोचरम् ॥—रघु १ ।१५

७ राघवास्त्रविदीर्णानां रावणं प्रति रक्षसाम् ।
तेषां शूर्पणखैवैका दुष्प्रवृत्तिहराऽभवत् ॥ —रघु १२।५१

—स रावणहृतां ताभ्यां वचसाचष्ट मैथिलीम् ।
आत्मनः सुमहत्कर्म व्रणैरावेद्य संस्थितः ॥ —रघु १२।५४

८ भरतेन वास्मीकिस्य कालियेन मणिं विसृष्टं यमुनौकसा यः ।
वक्षःस्थलव्यापिरुचं दधानः सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम् ॥—रघु ६।४९

९. अपशूलं तमासाद्य लवणं लक्ष्मणानुजः ।
रुरोध संमुखीनो हि जयो रन्ध्रप्रहारिणाम् ॥ —रघु १५।१७

१० ११ तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण ।
उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव ॥—रघु २।३९

१२ आत्मानमस्मयपयोस्मीते यदूने नियमप्रतिमे ददर्श । —कुमार ७।११

—तदा गणैः शूलभृत पुरोगैस्तीर्थिको मंगलतूर्यघोष । —कुमार ७।४

१३ १४ अदृष्टरूपेण केनापि सत्वेनातिक्रम्य मेघप्रतिच्छन्दस्य प्रासादस्याग्रभूमिमारोपितः ।
—शाकु पृ १२४

वन में रहने वाले 'वन देवता'[1] का भी संकेत है। किंपुरुष[2] सप्तर्षि[3] महर्षि[4] भी देवतुल्य माने गए। इसी प्रकार दिलीप रघु, अज राम आदि महापुरुष दिव्यशक्ति-सम्पन्न प्रतिभासित होते हैं।

इन्द्र—वैदिक देवताओं में यह एक शक्तिमान् देवता था। तत्पश्चात् यह कम महत्त्वशील देवताओं में गिना गया। ब्रह्मा विष्णु और महेश प्रधान देवता रह गए, शेष सब गौण। कवि ने प्राचीन कथा प्रसंग[5] में इसका उल्लेख किया है। इन्द्रधनुष के प्रथम दर्शन[6] और यज्ञ के[7] अवसरों के अतिरिक्त इन्द्रदेव के पूजन की प्रथा का अन्त हो गया। इन्द्र को शतक्रतु कहते हैं। अतः जो अन्य १ यज्ञ करना चाहता था उसे यह बाधा पहुँचाया करता

---

१ यत्र किंपुरुषा पौरा योषितो वनदेवता । —कुमार ६।३९
—शान्ते शाखिनस्निग्धाभिरनुज्ञातगमनाऽसि तपोवनदेवताभिः ।
—अभि पृ ७

२. पूर्वोल्लेख

३. सप्तर्षिहस्तावचितावशेषाण्यधो विवस्वान्परिवर्तमानः । —कुमार १।१६
—विकीर्णसप्तर्षिबलिप्रहासिभिस्तथा न गांगैः सलिलैर्दिवश्च्युतैः ।
—कुमार ५।३७

कुमार ६।६—१२ श्लोकों में सप्तर्षियों का उल्लेख है।

४ ख्यातिभिर्कीर्तिभिर्व्यायां विस्रोतसि च सप्तभिः ।
महर्षिभिः परं ब्रह्म बुधद्विषस्तस्थिरे ॥ —रघु १।६१

५. रघु सर्ग ३ अभि अंक ७
—तं लोकपाला पुरुहूतमुख्या श्रीलक्षणोत्सर्गविनीतवेषा ।
—कुमार ७।४५

६. पुरुहूतध्वजस्येव तस्योन्नयनपंक्तयः ।
नवाभ्युत्थानदर्शिन्यो ननन्दुः सप्रजाः प्रजाः ॥ —रघु ४।३
—आर्तिध संकल्पारेणौ धनुर्ज्या रघुर्ददौ ।
प्रजार्थसाधने तौ हि पर्यायोद्यतकार्मुकौ ॥ —रघु ४।१६

७. नियुज्य तं होमतुरंगरक्षणे धनुर्धरं राजसुतैरनुद्रुतम् ।
अपूर्णमेकेन शतक्रतूपमः शतं क्रतूनामपविघ्नमाप सः ॥ —रघु ३।३८
—मखांशभाजां प्रथमो मनीषिभिस्त्वमेव देवेन्द्र सदा निगद्यसे ।
अजस्रदीक्षाप्रयतस्य मद्गुरोः क्रियाविघाताय कथं प्रवर्तसे ॥
—रघु ३।४४

था। इसके पुरहूत[1] शतक्रतु[2] वज्रपाणि[3] पुरन्दर[4] हरि[5] शक्र[6] मघवा[7] वासव[8] गोत्रभिद[9] आदि नाम कवि के साहित्य में प्राप्त होते हैं। इसके पुत्र का नाम जयन्त[10] था।

अग्नि—वैदिक काल का यह मुख्य देवता था पर अब केवल यज्ञ[11] और विवाह[12] में ही इसका उल्लेख मिलता है। राजा जब तपस्वी आदि वनों से भेंट करता था तो ऐसे अग्न्यागार[13] मे जहाँ सदा अग्नि प्रज्वलित रहती थी। इसका उल्लेख किया जा चुका है। आहुतियाँ लेने के कारण ही यह हविर्भुज[14] कहा गया है।

वरुण—इस समय वरुण जल का देवता माना जाता था। यह अब लोकपालों में से है। अतः कालिदास का राजा कुमार्ग पर चलने वाले को न्याय के लिए इसी के पद से उपस्थित करता है[15]। कुषाण और गुप्त मूर्तियों में इसका उल्लेख है[16]। यह मकर पर बैठा हुआ दिखाया गया है और दंड के लिए हाथ में पाश लिए हुए है।

---

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ३ और ६
२ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ७ —रघु ३।३८
३ वज्रपाणि —रघु २।४२
४ यथायमन्तेन शचीपुरन्दरौ। —रघु ३।२३
५. हरिः —रघु ३।४३   ६ रघु ३।६६
७ रघु ३।४६   ८. रघु ३।५८
९. रघु ३।५३   १० पूर्वोल्लेख
११ अथ तस्य विशांपत्युरन्ते काम्यस्य कर्मणः।
पुरुषः प्रबभूवाग्नेर्विस्मयेन सहर्त्विजाम्॥ —रघु १०।५०
१२ तत्रार्चितो भोजपतेः पुरोधा हुत्वाग्निमाज्यादिभिरग्निकल्पः।
तमेव चाधाय विवाहसाक्ष्ये वधूवरौ संगमयांचकार॥ —रघु ७।२
—तौ दम्पती त्रिः परिणीय वह्निमन्योन्यसंस्पर्शनिमीलिताक्षौ।
—कुमार ७।८
१३ पूर्व उल्लेख
१४ भुभुजा सह्यं तेजो हविषेव हविर्भुजाम्। —रघु १।७६
१५. रघु ९।२४ १७।८१ इनका उल्लेख व्याकरण सहित किया जा चुका है।
१६ नियमसि विमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः। —अभि ५।८
१७ चन्द्रगुप्त का मथुरा शिलालेख २ समुद्रगुप्त के सभी लेख।

यम—कवि ने यम के लिए यम[1] और वैवस्वत[2] शब्द के भी प्रयोग किए हैं। इसके आयुध का नाम कूट शाल्मली है। कवि ने इस आयुध का संकेत किया है[3]।

त्वष्टा—यह देवताओं का शिल्पी है। तत्पश्चात् यह विश्वकर्मा का रूप हुआ।

रुद्र—*कालिदास ने इसका शिव के साथ एकीकरण किया है*[4]। कवि ने शिव के लिए त्र्यम्बक[5] शब्द का प्रयोग भी किया है। वैदिक पाठ[6] में यह रुद्र के लिए आया है।

लोकपाल—यह आठ देवताओं का वर्ग था। ये दिशाओं के रक्षक थे। इस वर्ग में इन्द्र, वरुण, यम और कुबेर भी थे। ऐसी मान्यता थी कि राजवंश में सन्तान की उत्पत्ति के पूर्व ये रानी के गर्भ में प्रवेश करें[7]।

कुबेर—यह अलका का स्वामी[8] और उत्तर दिशा का देवता माना गया है। इसकी *मूर्ति व्यापारी अथवा बनिया के रूप में मिलती है*। इसके हाथ में पैसे और मोटी तोंद इसकी विशेषता है। मथुरा म्यूजियम में इसकी प्रतिमाएँ प्राप्त होती हैं। इसकी पूजा अब यथेष्ट मात्रा में प्रचलित हो गई थी। कवि ने अक्सर इसका उल्लेख किया है[9]।

सूर्य—ऋग्वेद में वरुण की तरह सूर्य भी त्रिदेवों में था। इसके जो गुण सविता में निहित थे कालिदास ने वे ही गुण इसके लिए सविता शब्द प्रयुक्त कर निहित कर दिए हैं[10]। सूर्य के लिए रवि[11] भानु[12] सप्तसप्ति[13]

---

१ पूर्वोल्लेख

२. हुतो वैवस्वतस्येव कूटशाल्मलिमक्षिपत्। —रघु १२।९५

३ देखिए पादटिप्पणी नं २

४ कथं नु शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम्।
इमामनूनां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयास्याम्॥ —रघु २।५४
—वामजितजटामौलिविलम्बिशशिकोटयः।
रुद्राणामपि मूर्धानः क्षतहुंकारशंसिनः॥ —कुमार २।२६

५. रघु ३।४९

६ वाजसनेयी संहिता ३ ८ शतपथ ब्राह्मण २ ६ २. ९

७. रघु २।७५, पूर्वोल्लेख

८. पूर्ववत् १   ९. पूर्वोल्लेख   १० रघु १।१६

११ कुमार ८।४३   १२. अभि ५।४   १३ अभि ५।१

हरिदश्वदीधितिः[1] शब्द भी आए हैं। सूर्योपासना का 'वैदिक काल' में बहुत प्रचलन था। कुषाण और शक साधारणतः सूर्य के बड़े उपासक थे। मथुरा संग्रहालय में सूर्यदेव की अनेक प्रतिमाएँ हैं। कालिदास ने इसके हरे रंग के सात घोड़ों का उल्लेख किया है, जो एक रथ में जुते हैं[2]। मथुरा संग्रहालय में भी इन प्रतिमाओं के घोड़े रथ में जुते हुए हैं जो रथ को लेकर उड़ रहे हैं। इन पर विदेशी संस्कृति की छाप भी स्पष्ट है। लम्बे बूटों का जोड़ा इसका उदाहरण है। बनारस के भारत कला भवन में सूर्य देव का रथ है, जिसमें एक प्रतिमा बैठी है। उसका उरुहीन सारथी अरुण रथ हाँक रहा है।

ब्रह्मा—ब्रह्मा विष्णु महेश ये कालिदास द्वारा वर्णित मुख्य देवता हैं। इन तीनों का समन्वय ही त्रिमूर्ति कहलाता है। ब्रह्मा स्वयम्भू[3] चतुरानन[4] वागीश[5] चराचर विश्व का उत्पत्तिदाता[6] कहा जाता है। यह प्रकृति के सब स्थिति और प्रलय का कारण है। ऐसा कहा जाता है कि सृष्टि-रचना के लिए अपने शरीर के नर और नारी दो भाग किए। यह दिन में काम करता और रात में सोता है। यही सृष्टि और प्रलय है। यह अज है। स्वयं अनादि जगत् का आदि स्वयं प्रभुरहित जगत् का प्रभु है। अपने आप से ही यह रचना करता है, अपने से ही इसे प्रेरणा मिलती है और अपने आप में ही यह विलीन हो जाता है। यह तरल भी है और ठोस भी। स्थूल भी है और सूक्ष्म भी। हल्का भी है और भारी भी। यह हवि भी है और होता भी। भोज्य भी है और भोक्ता भी।। ज्ञान और ज्ञाता दोनों है। इसी प्रकार ध्येय और ध्याता भी दोनों है[7]। कालिदास ने 'सर्वतोमुख' शब्द का प्रयोग कर, इसके चार सिर हैं इसकी पुष्टि कर दी है। भारतीय संग्रहालय में इसकी मूर्ति में चार सिर, चार हाथ जिनमें वेद कमण्डलु, स्रुक और स्रुवा है और दाढ़ी वाली आकृति है। कवि ने कहीं ब्रह्मा के मन्दिर का उल्लेख नहीं किया है।

---

१ रघु ३।२२
२. पुपोष वृद्धिं हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमा। —रघु ३।२२
३ तुरासाहं पुरोधाय धाम स्वायंभुवं ययुः। —कुमार २।१
४ अथ सर्वस्य धातारं ते सर्वे सर्वतोमुखम्।
वागीशं वाग्भिरर्थ्याभिः प्रणिपत्योपतस्थिरे॥ —कुमार २।३
५. देखिए, पादटिप्पणी नं ४
६ अतश्चराचरं विश्वं प्रभवस्तस्य गीयसे।
७ देखिए, कुमार २।४-१५
८. अथ सर्वस्य धातारं ते सर्वे सर्वतोमुखम्। —कुमार २।३

प्रजापति—कवि ने ब्रह्मा से प्रजापति का एकीकरण कर दिया है। आश्वलायन गृह्यसूत्र[1] भी दोनों को एक मानता है। शतपथ[2] और तैत्तिरीय ब्राह्मण[3] के अनुसार यह सभी देवताओं का पिता है।

विष्णु—विष्णु के लिए, जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है हरि, पुरुषोत्तम त्रिविक्रम पुण्डरीकाक्ष परमेष्ठिन्, अच्युत कैटभनिषूदन चक्रधर भगवान्, कृष्ण[4] आदि नाम प्रयुक्त किए गए हैं। ऋग्वेद का विष्णु सूर्य है और इसका आयुध सूर्याकृति का गोल गतिशील चक्र[5] है जो पीछे चक्र बन गया। ऋग्वेद में यह तीन डग लेकर भूस्थल[6] को पार करता है। यही बाद में पौराणिक वामनावतार का प्रतीक बन गया। कवि के शब्दों के आधार पर वर्णन इस प्रकार है—'विष्णु शेष-शय्या पर लेटे हैं। पद्म पर बैठी लक्ष्मी अपनी गोद में उनके चरणों को रख पलोट रही है। लक्ष्मी की कमर में रेशमी वस्त्र पड़ा है। विष्णुजी के चौड़े वक्षस्थल पर कौस्तुभ मणि चमक रहा है, जिसमें लक्ष्मी भी शृंगार के समय अपना मुख देखा करती है[7]। उनकी सेवा में निरत उनका स्वामिभक्त सेवक गरुड़ है[8]'। विष्णुजी तक न वाणी की पहुँच है, न मन की। पहले विश्व को बनाने वाले फिर उसका पालन करने वाले और अन्त में उसका संहार करने वाले ये तीनों रूप में धारण करते हैं। जिस प्रकार वृष्टि का जल मूलतः एकरस है पर विभिन्न भूमि के सम्पर्क से विभिन्न स्वादयुक्त हो जाता है वैसे ही वे समस्त विकारों से दूर, सत्त्व रज और तम के गुणों से भिन्न विभिन्न रूप धारण कर लेते हैं। स्वयं अजन्मा हैं पर सारे कार्यों का उद्गम आप ही हैं। स्वयं इच्छाहीन हैं पर सबकी कामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं। स्वयं अजेय हैं पर सम्पूर्ण संसार को जय कर लिया है। स्वयं अगोचर हैं पर सारे दृश्य जगत् के कारण हैं। वह हृदय में निवास करते हुए भी दूर हैं निष्काम होते हुए भी तपस्वी हैं, पुराण होते हुए भी नाश से रहित हैं। सर्वज्ञ होते हुए भी अज्ञात हैं। सबके आदि स्रोत हैं, पर स्वयं स्वयंभू हैं। सामवेद के सातों प्रकार के गीतों में आपके ही गुणों के गीत हैं। आप ही सातों समुद्रों के जल में निवास करते हैं। सातों

---

१. १ ४ २. ११ १ ११ १४ ३. ८ १ १ ४

४. इसके उदाहरण 'विष्णु' के नीचे उद्धरण हैं वहीं देखिए। शेष सब रघु १० सर्ग में हैं, जहाँ विष्णु की स्तुति की गई है।

५. १ ११ ४ ६. १ ७ ९९ ७. रघु १०।७-९

८. पर्यस्थितं प्रार्थितमा विनीतेन गरुत्मता।—रघु १०।१३

प्रकार की अग्नि आपके ही मुख हैं। सातों लोकों के आप ही आश्रय हैं। धर्म अर्थ काम मोक्ष उनके ही चार मुखों से निकले हैं। सतयुग द्वापर, त्रेता कलियुग चार युग और चतुर्वर्ण सब उनका ही उत्पन्न किया हुआ है। योगी लोग प्राणायाम आदि के द्वारा ज्योति-स्वरूप आपकी ही खोज करते हैं। अजन्मा होते हुए भी वे जन्म लेते हैं। कर्मरहित होकर भी शत्रुओं का संहार करते हैं। योगनिद्रा में निद्रित भी जागरूक हैं। परमानन्द के सभी मार्ग यहीं आकर मिल जाते हैं। जो योगी सदा उनका ध्यान करते हैं, जिन्होंने सब कर्म उनको समर्पित कर दिए हैं और जो राग-द्वेष के परे हैं उनको वे जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा देते हैं। उनकी महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता। उनके स्मरण मात्र से ही मनुष्य पवित्र हो जाते हैं। उनके लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं है। दया प्रदर्शन के लिए वे अवतार लेते हैं और मनुष्य के सदृश आचरण करते हैं[1]।

नारायण—विष्णु के लिए ही नारायण शब्द प्रयुक्त किया गया है। उर्वशी के विषय में विवेचना करते हुए कवि कहता है 'नर के मित्र मुनि नारायण की जाँघ से उत्पन्न उर्वशी जब कैलासपति की परिचर्या समाप्त कर लौट रही थी दैत्यराज के शत्रु राक्षसों द्वारा वह मार्ग में बन्दी बना ली गई'[2]। इस कथन के अनुसार नर और नारायण दो प्राचीन ऋषि हैं। बाद में नर का एकीकरण अर्जुन से और नारायण का वासुदेव कृष्ण से हो गया। ऊपर के प्रसंग की उर्वशी अपने पिता के मध्यलोक (पितुः[3]) आकाश में पड़ जाती है। वामन के दूसरे पग से आकाश की प्रतीति होती है। आकाश विष्णुलोक के लिए एक और स्थल पर भी प्रयुक्त हुआ है। कालिदास 'आत्मनः पदम्'[4] से विष्णुलोक का ही आशय लेते हैं। जैसा बताया जा चुका है, विष्णु पहले सूर्य ही था अतः सूर्यलोक 'आकाश लोक' हुआ।

अन्य अवतार—महावराह[5] राम[6] वासुदेव कृष्ण[7] सब विष्णु के ही

---

१ रघु १ ।१६-३१

२. ऊरूद्भवा नरसखस्य मुनेः सुरस्त्री कैलासनाथमनुसृत्य निवर्तमाना ।
बन्दीकृता विबुधशत्रुभिरर्धमार्गे क्रन्दत्यतः करुणमप्सरसां गणोऽयम् ॥
—विक्रम १।८

३ पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती । —विक्रम १।२

४ अथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः पदं विमानेन विगाहमानः । —रघु १३।१

५. निवारयामास महावराहः कल्पक्षयोद्वृत्तमिवार्णवाम्भः । —रघु ७।५६

६ रघु सर्ग १ ।

७ बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः । —पूर्वमेघ १५

अवतार थे क्योंकि इनका एकीकरण विष्णु के साथ किया गया है। वाराह ने दाँतों के द्वारा पृथ्वी का उद्धार किया, राम ने रावण का वध किया और कृष्ण ने क्रूर कंस का।

कुषाण काल में वासुदेव कृष्ण के सम्बन्ध की अधिकांश पौराणिक कहानियों की रूप-रेखा को विकास प्राप्त हुआ। कवि ने गोपाल कृष्ण का उल्लेख करते हुए और शंख[1] बलराम[3] और उनकी पत्नी रेवती[4] आदि का भी प्रसङ्ग दिया है। कालिय[5] और कौस्तुभ[6] का भी संकेत है परन्तु राधा का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। इससे निष्कर्ष निकलता है कि कवि के समय में वैष्णव धर्म प्रमुख सम्प्रदाय हो गया था। गुप्त काल के लेखों से गुप्त राजाओं का वासुदेव का उपासक होना भी सिद्ध होता है। मध्य-भारत की उदयगिरि गुफा में नारी के रूप में पृथ्वी का उद्धार करते हुए विशालकाय महावाराह (विष्णु का एक अवतार) की मूर्ति है। जोधपुर के पास मन्दोर के पाँचवी शताब्दी के स्तम्भ में कृष्ण के शकट उलटने और गोवर्धन उठाने के चित्र हैं। एलौर के मन्दिर में शेषशायी विष्णु और उनके अवतारों की अनेक प्रतिमाएँ हैं। अतः कवि के पूर्व वैष्णव सम्प्रदाय स्थापित हो चुका था। उनके समय में इसने और उन्नति की। ब्रह्मा विष्णु और महेश की एकता इस समय स्थापित हुई।

शिव—कालिदास को शिव सबसे अधिक प्रिय है। लगभग सभी ग्रन्थों का प्रारम्भ शिव की स्तुति से हुआ है। अतः ऐसा अनुमान किया जाता है कि वे शिव के ही उपासक थे। परन्तु उनका धर्म किसी संकुचित सम्प्रदाय की संकुचित सीमा में जकड़ा नहीं था जैसा विष्णु और ब्रह्मा की स्तुति से भी स्पष्ट होता है।

जो भी हो शिव का महत्त्व बहुत अधिक था। इनके लिए ईश[7] ईश्वर,[8]

---

१ देखिए पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ७

२. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ७

३ हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां
बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली याः सिषेवे। —पूर्वमेघ ४९

४ देखिए, पादटिप्पणी नं १

५,६ महेन्द्रनीलमणिस्य कालियेन मणि विसृष्टं यमुनौकसा यः।
वक्षःस्थलव्यापिरुचं दधानः सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम्॥—रघु ६।४९

७ माल. १।१ ८. विक्रम १।१

महेश्वर परमेश्वर,[2] अष्टमूर्ति[3] भूतभृत[4] पशुपति[5] त्र्यम्बक[6] स्थाणु, नीललोहित[8] नीलकण्ठ[9] वृषभध्वज[10] विश्वेश्वर[11] चण्डेश्वर,[12] महाकाल[13] शम्भु,[14] हर,[15] गिरीश[16] भूतेश्वर,[17] भूतनाथ[18] शिव[19] पिनाकी[20] आदि अनगिनत विशेषण आए हैं। उज्जयिनी के महाकाल[21] बनारस के विश्वेश्वर[22] के मन्दिर का कवि ने उल्लेख किया है।

शिव की स्तुति द्वारा उनके निम्नलिखित गुणों की अभिव्यक्ति होती है। 'वह मनुष्यों को आठ रूपों में दृष्टिगोचर होता है। जल के रूप में वह ब्रह्मा की सृष्टि में सर्वप्रथम है। अग्नि के रूप में वह विधिपूर्वक हवन-सामग्री को ग्रहण करता है। होता के रूप में वह यज्ञ-कर्मों का सम्पादक है। सूर्य और चन्द्र के रूप में वह दिन और रात का नियामक है। आकाश के रूप में वह विश्व में व्याप्त और शब्द गुण वाला है। पृथ्वी के रूप में जो उत्पत्ति का स्थान है, वायु के रूप में सभी जीवधारियों का जीवनदाता है'[23]। शिव के आठ रूप अन्यत्र भी वर्णित हैं। मालविकाग्निमित्र के प्रथम श्लोक में शिव को सांसारिक भोग का

---

१ रघु १।८९ २ रघु ११।१ ३ रघु २।१६
४ कुमार ६।५४ ५. कुमार ६।९५ ६ रघु १।७६
७ कुमार ३।१७ ८. कुमार २।५७ ९ कुमार ७।३१
१ रघु २।३६ ११ रघु १८।२४ १२. पूर्वमेघ ३७
१३ पूर्वमेघ ३८ १४ पूर्वमेघ ५४ १५. कुमार ७।४४
१६. कुमार ५।३ १७ रघु २।४६ १८. रघु २।५८
१९. कुमार ५।७७ २ कुमार ५।७७
२१ असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः।
—रघु ६।३४ पूर्वमेघ ३७-४
२२. आराध्य विश्वेश्वरमीश्वरेण तेन क्षितेर्विश्वसृजा विवन्ने।
पार्श्वं सखो ... विरामा॥—रघु १८।२४
नोट शिव के ... उदाहरण ... शिव का यहाँ उल्लेख है,
यहाँ दे दिए ... की ... मिश्र ... में
पढ़े हैं।

स्त्री और अहंकार से सर्वथा उदासीन एवं मुक्त व्यक्त किया गया है[१]। दूसरे शब्दों में लोभ काम और अहंकार को छोड़ने से ही भगवान् की प्राप्ति हो सकती है। शिव सभी के स्रष्टा पालक और संहारकर्त्ता हैं। अथवा इन सबके कारण हैं[२]। वास्तविक कार्य उनका संहार है। उनकी मूर्ति जल में व्याप्त[३] कही जाती है। यह इस बात का प्रतीक है कि प्रलय होने पर सम्पूर्ण पृथ्वी जलमग्न हो जाती है। शिव की उपाधि ईश्वर भी है और यह सार्थक है। वेदान्ती लोग इसे एकेश्वर पुरुष बताते हैं। यह पृथ्वी और आकाश में रमा होने पर भी सबसे अलग है। मोक्षार्थी इसे अपने हृदय में खोजते हैं[४]। 'व्याप्य स्थितं रोदसी' से इनकी महत्ता लक्षित होती है। 'ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः'[५] से वे ही जन्म-मरण के बंधन से मुक्ति दे सकते हैं, यह चरितार्थ होता है।

वे विश्व का रूप हैं[६]। वे अणिमा आदि सिद्धियों से युक्त हैं[७]। वे विश्व को धारण करने वाले हैं[८]। विश्व में किए जाते प्रत्येक कर्म के वे साक्षी हैं[९]। सभी लोकपाल इन्द्र सहित उनके सम्मुख नतमस्तक होते हैं[१०]।

---

१ एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणतबहुफले यः स्वयं कृत्तिवासाः
कान्तासम्मिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः परस्ताद्यतीनाम्।
अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः ॥ —माल १।१

स्थावरजंगमानां सर्वाभिव्यक्तिप्रत्यवहार हेतु । रघु २।४४

३. या वा यजीयसी या वा मूर्तिर्जलमयी मम । —कुमार २।६

४ वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः ।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः ॥ —विक्रम १।१

५. अभि ७।३५

६. विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा गजाजिनालम्बि दुकूलधारि वा ।
कपालि वा स्यादथवेन्दुशेखरं न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः ॥ —कुमार ५।७८

७ अणिमादिगुणोपेतमस्पृष्टपुरुषान्तरम् । —कुमार ६।७५

८. यैरिदं बिभृते विश्वं धुर्यैर्यानमिवात्मनि । कुमार ६।७६

९. साक्षी विश्वस्य कर्मणाम् ।—कुमार ६।७८

१ तं लोकपालाः पुरुहूतमुख्याः श्रीलक्षणोत्सर्गविनीतवेषाः ।
दृष्टिप्रदाने कृतनन्दिसंज्ञास्तद्दर्शिताः प्राञ्जलयः प्रणेमुः ॥ —कुमार ७।४९

शिव का स्वरूप—गुप्तकाल की शिव की अकेली और पार्वती के साथ अनेक प्रतिमायें मिलती हैं। कुमारसंभव में कवि ने शिव के स्वरूप पर अनेक प्रकाश डाला है। शरीर में भस्म[1] ललाट पर द्वितीया का चन्द्रमा[2] शरीर पर गजाजिन[3] (अंग के आभूषण[4] सर्प के रूप में) उसकी विशेषता है। उसका वाहन वृषभ[5] है जिसके गले में सोने की छोटी-छोटी घंटियां लटकती रहती हैं। मीठो नाद से चलने वाला सींगों से शालकों को विदीर्ण करता हुआ आगे बढ़ता जाता है[6]। उस पर व्याघ्राम्बर[7] बिछा रहता है। ब्रह्मा विष्णु, चामरधारिणी गंगा यमुना सब उसकी सेवा में उपस्थित रहते हैं। शिव के गण नन्दी और वाहन वृषभ नन्दी में कवि भिन्नता समझता है—ऐसा भी अवस्थुरण का मत है पर वास्तव में दोनों स्थानों पर नन्दी गण के ही लिए आया है[8]।

शैव सम्प्रदाय की विभिन्न शाखायें

काश्मीरी शैव मत—इसमें दो मत हैं—स्पन्दशास्त्र और प्रत्यभिज्ञा शास्त्र। स्पन्दशास्त्र से इनके सिद्धान्तों का साम्य नहीं है। थोड़ा-बहुत जो साम्य मालूम होता है वह उपनिषद् आदि ग्रन्थों के अभ्यास और सिद्धान्त के कारण से है। प्रत्यभिज्ञा शास्त्र भी बिलकुल भिन्न है। इस शास्त्र के अनुसार सद्गुरु के अनुग्रह से ही आत्म-स्वरूप का भान होता है, पर कालिदास ने कहीं गुरु के महत्व पर प्रकाश डाला ही नहीं है। स्पन्द शास्त्र के मतानुसार वे मोक्ष का साधन योग मानते हैं परन्तु गीता के छठे अध्याय में भी मोक्ष-साधन योगविधि

---

१ बभूव भस्मं सिताङ्गराग । —कुमार ७।३२

२ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ६

३ गजाजिनस्यैव दुकूलभावः । —कुमार ७।३२

४ यथाप्रदेशं भुजगेश्वराणां करिष्यतामाभरणान्तरत्वम् ।
शरीरमात्रं विकृतिं प्रपेदे तथैव तस्थुः फणरत्नशोभाः ॥ —कुमार ७।३४

५. इदं च तेऽन्यत् पुरतो विडम्बना यदूढया वारणराजहार्यया ।
विलोक्य वृद्धोक्षमधिष्ठितं त्वया महाजनः स्मेरमुखो भविष्यति ॥
—कुमार ५।७०

६ स पेशलामो वृषभाद् वाह सवर्णचामीकरकिंकिणीकः ।
तटाभिघातादिव लग्नपङ्के धुन्वन्मुहुः प्रोतघने विषाणे ॥ —कुमार ७।४९

७ स गोपतिं नन्दिभुजावलम्बी शार्दूलचर्मान्तरिताधिपृष्ठम् । —कुमार ७।३७

८ देखिए, पादटिप्पणी नं ७
—लतागृहद्वारगतोऽथ नन्दी वामप्रकोष्ठार्पितहेमवेत्रः । —कुमार ३।४१

का निरूपण है, अतः वे उपनिषद्, गीता आदि से अधिक प्रभावित थे। काश्मीरी शैवमत का प्रभाव नहीं था। श्री लक्ष्मीधर कल्ला ने नाना उदाहरणों द्वारा कालिदास का प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के साथ सम्बन्ध स्थापित अवश्य किया है परन्तु उनका यह साम्य इसलिए भी हो सकता है कि उनके प्रदेश में वे कुछ दिनों रहे हों। वे उसी के अनुयायी थे ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

पाशुपत धर्म—पशुपति[1] भूतनाथ[2] और भूतेश्वर[3] कहकर कवि ने इस धर्म का भी अप्रत्यक्ष संकेत किया है। इस पद्धति के पति पशु और पाश तीन सिद्धान्त हैं[4] और विद्या क्रिया योग और चर्या चार विभाग हैं[5]। ऋग्वेद में रुद्र को पशुप कहा गया है[6]। अथर्ववेद में भव और शर्व को भूपति और पशुपति कहा है। पशुपति के शासन में भी अश्व नर अज और मेष ये पंचजीव हैं[7]। महाभारत में[8] पाशुपत पाँच धार्मिक सिद्धान्त में से एक है। अर्जुन ने पाशुपतास्त्र प्राप्त करने की कोशिश की है। कवि ने भी इस देवता को 'स्थिरभक्ति योगसुलभ'[9] कहा है।

महाकाल के मन्दिर में पशुपति शिव संगीत-प्रिय नृत्य करते दिखाए गए हैं[1]। शिव की नृत्य-प्रियता और संगीत-प्रियता का संकेत एक स्थान पर और भी कवि ने किया है—

> शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
> संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः।
> निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिः स्यात्
> संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः॥ —पूर्वमेघ ५

---

१ पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः। —कुमार ६।९५
२ तदमुं भूतनाथानुग नार्हसि त्वं संबन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम्। —रघु २।५८
३. भूतः स भूतेश्वरपार्श्ववर्ती किंचिद्विहस्यार्थपतिं बभाषे। —रघु २।४६
४५. भंडारकर वैष्णविज्म शैविज्म आदि —पृ १७७
६७ इंडिया इन कालिदास पृ ११४
८ शान्ति (नारायणीय) अध्याय ३४९ ६४
९. विक्रम १।१
१ पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः
सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः।
नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्याः॥ —पूर्वमेघ ४

कालिदास ने अर्धनारीश्वर[1] का भी उल्लेख किया है। गुप्तकालीन प्रतिमाओं में शिव के दाहिने भाग में पार्वती दिखाई पड़ती हैं।

युद्धदेव और देवताओं के सेनानी स्कंद[2] का भी कवि ने उल्लेख किया है। देवगिरि पर्वत पर[3] इसका मन्दिर भी था। सामान्यतः इसका वाहन मयूर कहा जाता है। कवि ने भी इसका चित्रण किया है[4]।

महाकाल शिव की संहारकारिणी-शक्ति महाकाली[5] है। यह मनुष्य की खोपड़ियों[6] का मुण्डमाल धारण करती है। कवि ने इसका स्वतंत्र उल्लेख किया है तथा अथवा सप्त मातृकाओं के साथ एकीकरण नहीं हुआ है। शिव के विवाह के पूर्व दिव्य माताओं के पीछे यह अनुगमन करती है[7]। शिव के वर्णों में इसका स्पष्ट वर्णन है।

अनेक देवी-देवताओं का प्रसंग देने पर भी कवि एक ही ईश्वर पर विश्वास करता है। उसने स्वयं जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है कि त्रिमूर्ति में सबका समन्वय कर दिया है। ब्रह्मा और विष्णु की स्तुति में अभेद इसी कारण है। उसने एक स्थान पर नहीं अपितु अनेक स्थलों पर इन तीन शक्तियों के भेद-भाव को हटाने का अथक परिश्रम किया है—

नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने ।
गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे ॥ —कुमार २।४

---

१ जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ । —रघु १।१

२ गोप्तारं सुरसैन्यानां यं पुरस्कृत्य गोत्रभित् । —कुमार २।५२
—तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगङ्गाजलार्द्रैः ।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना-
मत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः ॥ —पूर्वमेघ ४७

३ देखिए, पादटिप्पणी नं २।
इसके पहले के श्लोक में देवगिरि का प्रसंग आया है।

४ ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी
पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति ॥ —पूर्वमेघ ४८

५ तासां च पश्चात्कनकप्रभाणां काली कपालाभरणा चकासे ।
बलाकिनी नीलपयोदराजी दूरं पुरःक्षिप्तशतह्रदेव ॥ —कुमार ७।३९

६ देखिए, पादटिप्पणी नं ५

७ देखिए, पादटिप्पणी नं ५

कि येन सृजसि व्यक्तमुत येन बिभर्षि तत् ।
अथ विश्वस्य संहर्ता भागः कतम एष ते ॥ —कुमार ६।२१

एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम् ।
विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद्वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ ॥—कुमार ७।४४

रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते ।
देशे देशे गुणेष्वेवमवस्थास्त्वमविक्रियः ॥ —रघु १०।१८

इस प्रसंग में सबसे सुन्दर अभिज्ञानशाकुन्तल का अन्तिम श्लोक है—

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः सरस्वती श्रुतिमहती महीयसाम् ।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ॥
—अभि ७।३५

यह श्लोक उस समय की आस्था का साक्षात् प्रतीक है ।

पूजा करने की विधि

मूर्ति-पूजा—कलितकला के अध्याय में देवताओं की प्रतिमा और मन्दिरों का (प्रतिमागृह) उल्लेख किया जा चुका है । स्पष्ट रूप से बनारस के शिव-मंदिर[१] (जो आजकल विश्वनाथ जी का मन्दिर कहलाता है) और उज्जयिनी के महाकाल[२] का मन्दिर देवगिरि पर्वत के स्कन्द के मन्दिर[३] का भी कवि ने प्रसंग दिया है । अतः जनसाधारण प्रतिमापूजन अर्थात् मूर्तिपूजा की ओर झुक चुका था ।

धार्मिक अभ्यास में संस्कार, यज्ञ व्रत अनुष्ठान आदि को लिया जा सकता है । इनमें संस्कार पर यथेष्ट प्रकाश डाला जा चुका है । अब यज्ञ व्रत अनुष्ठान आदि का वर्णन किया जाएगा ।

यज्ञ—कालिदास ने अनेक स्थलों पर यज्ञ[४] का वर्णन किया है । इन यज्ञों में अश्वमेध विश्वजित् और पुत्रेष्टि यज्ञ आते हैं । अश्वमेध यज्ञ राजनैतिक दृष्टिकोण से महत्ता रखता है । इसकी पूर्ति पर राजा चक्रवर्ती सम्राट् घोषित कर दिया जाता था ।

कवि ने दीर्घसत्र[५] यज्ञ का उल्लेख किया है । वरुणदेव ने पाताल में

---

१ २ ३ पूर्वोल्लेख

४ यथाविधिहुताग्नीनाम् । रघु १।६
तस्याध्वरे हविर्मोक्षुर्यजमान इवारविम् । —कुमार ६।२८
देखिए ५ अध्याय पृ पर २ ३ ४ सबमें यज्ञ का ही प्रसंग और संकेत है ।

५ हविषे दीर्घसत्रस्य सा चेदानीं प्रचेतस ।
भुजंगपिहितद्वारं पातालमधितिष्ठति ॥ —रघु १।८

यह यज्ञ किया था जिसमें आहुति की सामग्री देने के लिए कामधेनु लाई हुई थी। भागवत पुराण के अनुसार एक वर्ष से सहस्र वर्ष तक 'सत्र' यज्ञ करने की अवधि थी (१ १ ४)।

कालिदास ने अध्वर का भी उल्लेख किया है[1]। अध्वर[2] में पशुबलि का स्पष्ट उल्लेख है[3]। मेध्य आरंभ में उस वस्तु के लिए आता था जिसकी बलि चढ़ाई जाती थी। बलि पशु को एक स्तंभ से बाँध दिया था जो यूप[4] कहलाता था। अतः बलि के लिए पशु को बाँधने की क्रिया भी यज्ञ का[5] संस्कार ही था। कवि ने ब्राह्मणों को दान में दिए जाने वाले ऐसे ग्रामों का उल्लेख किया है जो यूपों से भरे हुए थे[6]। वर्णना के साथ ऐसे यूप की दो प्रतिमाएँ मथुरा संग्रहालय में देखी जा सकती हैं।

एक स्थान पर तो शकुन्तला की विदा के समय कवि ने वैदिक मंत्र की भी रचना कर डाली है—

---

१ मनुस्मृति ५।४४

२ कौशिकेन स किल क्षितीश्वरो राममध्वरविघातशान्तये । रघु ११।१
—अधिप्रतिष्ठाभिरुत्ताध्वराणां यूपानसस्तम्भविधो रघूणाम् ।—रघु १६।३५
—क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणामजस्रमाहूतसहस्रनेत्रः । रघु ६।२३

३ तत्र अपर्णा सपशुर्गृहीत्वा पुरः परार्ध्यप्रतिमागृहायाः ।—रघु १६।३९
—सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम् ।
पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः ॥ —अभि ६।१
—अहं वेदस्मिन् पशुमारं मारिते श्रोत्रियेण स्वाध्यायेनाभिनन्दते ।
—अभि पृ १२१
—ग्रामानि भ्य तीरनिखातयूपा महत्स्वामयानु राजधानीम् ।
तुरङ्गमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि ॥ —रघु १३।६१

४ ग्रामेष्वात्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषु यज्वनाम् ।
अमोघाः प्रतिगृह्णन्तावर्घ्यानुपदमाशिषः ॥ रघु १।४४
—संग्रामनिर्विष्टसहस्रबाहुरष्टादशद्वीपनिखातयूपः । —रघु ६।३८
... पशावस्थिते क्रियाविधौ काकुत्स्थकुलविदर्भमनामः ।
रामभिन्नसमवर्धनातुर्ये मैथिलाय कथयांबभूव स ॥ —रघु ११।३७

५ देखिए, पादटिप्पणी नं ४ रघु ११।३७
देखिए, पादटिप्पणी नं ३ रघु १३।६१

६ देखिए, पादटिप्पणी नं ४ रघु १।४४

अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः ।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धैर्वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु ॥ —अभि ४।८

यज्ञ के आरंभ में यजमान का[1] एक धार्मिक-संस्कार होता था जो दीक्षा[2] कहलाता था। यह विश्वास था कि अग्नि यजमान के शरीर में[3] प्रवेश कर उसे अपनी तरह पवित्र बना देते हैं। यजमान एक बार[4] यदि यज्ञशरण[5] (यज्ञ भूमि का घेरा) में प्रवेश कर लेता था तो उसको छोड़ नहीं सकता था।

अवभृथ[6] एक मुख्य संस्कार था जो यज्ञ की समाप्ति का द्योतक था[7]। दीर्घसत्र के समाप्त होने पर यह [illegible] स्नानापन्न पुरोहितों के द्वारा किया जाता था।

विश्वजित्[8] दिग्विजय के पश्चात् किया जाता था। इसमें यजमान अपना सारा कोष दान कर देता था[9]। पुत्र की कामना से किया जाने वाला यज्ञ पुत्रेष्टि यज्ञ कहलाता था[1]।

---

१ सन्ततये हविर्षामीक्षितुर्यजमान दधारविम् । —कुमार ६।२८
—अजिनदण्डभृतं कुशमेखलां यतगिरं मृगशृङ्गपरिग्रहाम् ।
अधिवसंस्तनुमध्वरदीक्षितामसमभासमभासयदीश्वरः ॥ —रघु ९।२१

२. अथ तं सवनाय दीक्षितः प्रणिधानाद् गुरुराश्रमस्थितः ।
अभिषङ्गजडं विजज्ञिवानिति शिष्येण किलान्वबोधयत् ॥ —रघु ८।७५
—तत्र दीक्षितमृषिं ररक्षतुर्विघ्नतो दशरथात्मजौ शरैः । —रघु ११।२४

३ देखिए, पादटिप्पणी नं १ रघु ९।२१

४ देखिए, पादटिप्पणी नं २ रघु ८।२५

५. स्वस्ति यज्ञशरणात्सेनापतिः पुष्यमित्रो वैदिशस्थं पुत्रमायुष्मन्तमग्निमित्रं स्नेहात्परिष्वज्येदमनुदर्शयति । —माल अंक ५ पृ १५१
मुखं कोऽन्यम कुर्वीमी मेध्येनावभृथादपि ।
प्रत्यवेक्षितपर्यन्तो यशसाभिप्रवर्तिना ॥ —रघु १।८४
—अवाप्य यावद्भृतसूया बहुलमयोध्यामनु राजधानीम् ।
तुरङ्गमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि ॥ रघु १३।६१

७ दीक्षान्तोऽवभृथो यज्ञे (अमरकोश)

८. तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशं निःशेषविश्राणितकोषजातम् ।
उपात्तविद्यो गुरुदक्षिणार्थी कौत्सः प्रपेदे वरतन्तुशिष्यः ॥ —रघु ५।१

९. देखिए, पादटिप्पणी नं ८

१ ऋष्यशृङ्गादयस्तस्य सन्तः संतानकाङ्क्षिणः ।
आरेभिरे जितात्मानः पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः ॥ —रघु १०।४

होता था। यज्ञ के समय यजमान एक दण्ड धारण करता और अजिन पर बैठता था। वेदी[2] यज्ञ के चबूतरे का दूसरा नाम था।

जैसा कहा जा चुका है कि यज्ञ में पशुबलि दी जाती थी। परन्तु बौद्ध धर्म के प्रभाव से बलि बुरी मानी जाने लगी थी। मालविकाग्निमित्र में 'शान्तं अर्नु पापम्' [3] में ऐसा ही संकेत मिलता है।

पूजन-कर्म सपर्या[4] क्रिया[5] अर्चना[6] बलिकर्म[7] पूजा[8] आदि सब पूजन कर्म थे। पूजा की चैत्री[9] विधि महत्वपूर्ण थी। पूजन-सामग्री में कुश[10] दूर्वा[11] अक्षत[12] पुष्प[13] आदि प्रयुक्त होते थे। मधु, दूर्वादि से निर्मित अर्घ्य[14] देवताओं और अतिथि-सेवा[15] के लिए था। प्रात[16] और सायं[17] दो बार अर्घ्य-दान किया जाता था। सन्ध्याविक्रिया[1] ब्राह्मण की दैनिक क्रिया थी। प्रात

---

१ अजिनदण्डभृतं कुशमेखला यतगिरं मृगचर्मपरिग्रहाम्। —रघु ३।२१

२ योऽस्य वेदिमिव रक्तबिन्दुभिर्बन्धुजीवपृथुभिः प्रदूषिताम्। —रघु ११।२५

३ देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषम्। —माल १।४

४ उमावितेयी बहुमानपूर्वया सपर्यया प्रत्युदियाय पार्वती। —कुमार ५।३१

५ क्रियानिमित्तेष्वपि वत्सलत्वादभग्नकामा मुनिभिः कुशेषु। —रघु ५।७

६ ननु तव्या प्रयुक्तकस्या सौ त्वदेवतार्थनीया। —अभि पृ ५८

७ आचारप्रयत सपुष्पबलिषु स्थानेषु चार्चिष्मती। —विक्रम ३।२

— आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा। —उत्तरमेघ २५

८ वैदर्भमामन्त्र्य ययुस्तदीयां प्रत्यर्प्य पूजामुपदाच्छलेन। —रघु ७।३

९ अथविधिमवसाय्य शास्त्रदृष्टं दिवसमुखोचितमञ्चिताक्षिपक्ष्मा। —रघु ५।७६

१० देखिए, पूर्वोल्लेख पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ११ रघु १।४९

११ सितांशुका मंगलमात्रभूषणा पवित्रदूर्वाङ्कुरलाञ्छितालका। —विक्रम ३।१२

१२ प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां सुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता। —रघु २।२१

देखिए, पूर्वोल्लेख अध्याय विवाह रघु ७।२८ कुमार ७।८८

१३ देखिए, पादटिप्पणी नं ५ विक्रम ३।२

१४ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ७ —रघु ५।२

—तामर्घ्यमर्घ्यमादाय दूरात्प्रत्युद्ययौ गिरिः। —कुमार ६।५

१५ देखिए, पूर्वोल्लेख अध्याय सामाजिक जीवन रीति-रिवाज आचार आदि'।

१६ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ९ रघु ५।७६ दिवसमुखोचित।

१७ दिने सायंतनस्तपात्रे स ददर्श तपोनिधिम्। —रघु १।५६

१८ अतिराजन्मने तपस्विनः पावनाम्बुविहितांजलिक्रिया। —कुमार ८।४७

की सन्ध्याक्रिया में लिप्त भी[1] मिला रहता था। शास्त्रानुसार ही पूजा-विधियों का पालन किया जाता था[2]।

अनुष्ठान और व्रत—कवि ने अनुष्ठान और व्रतों का भी उल्लेख किया है। उपवास और आहुति देने के पश्चात् निश्चित समय तक निश्चित बार वैदिक मन्त्रों का जाप करना भी अनुष्ठान था। किसी आने वाली भयानक आपत्ति को टालने के लिए,[3] किसी विजयकामना के लिए अथवा किसी अन्य उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही[4] अनुष्ठान किया जाता था। अनुष्ठानादि धार्मिक कार्यों के लिए घर का एक भाग निश्चित और सुरक्षित रहता था जिसे मंगल-गृह[5] कहा जाता था।

व्रत का मुख्य अंग उपवास[6] था। स्वल्पाहार पारण[7] के द्वारा यह व्रत तोड़ा जाता था। तब ब्राह्मण-भोज होता था और उनको दक्षिणा[8] दी जाती थी। प्रतिज्ञापूर्ति पर और धार्मिक त्योहारों पर व्रत रखे जाते थे। व्रत के समय स्त्रियाँ श्वेत वस्त्र धारण करती थीं और अनिवार्य आभूषण। केश में दूर्वांकुर

---

१ अन्यथा अमरर्षं शिथिलं मे त्रिलोकम्। —अभि पृ ४९

२ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ९ —रघु ५।७९
—वह्नेः पुरस्तादभिसंवृतामा कृत्वा विविक्तौ प्रभवत्यभी। कुमार ८।७०

३ इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः। —अभि पृ ६

४ यतः प्रभृति सेनापतिर्यज्ञतुरंगरक्षणे नियुक्तो मम वत्सो वसुमित्रस्तस्य प्रभृति तस्यायुर्निमित्तं निष्कशतसुवर्णपरिमाणां देवो दक्षिणीयेभ्यः परिकल्पयति।
—माल पृ ११९

५ मंगलगृहे आगतस्य मुखा विदर्भविषयादुपायना वीरसेनेन प्रेषितं देवं देवस्य दर्शनानुमतं भणाति। —माल अंक ५, पृ ११९

६ आपामिनि चतुर्थदिवसे प्रवृत्तपारणो मे उपवासो भविष्यति।
—अभि पृ १८
—रोमोपयुक्तगुरुवर्तति मुमुक्षु मात्योपयेकमपतिमृ पतिमभूत।
—रघु ८।१४

७ देखिए, पादटिप्पणी नं ६ —अभि पृ १९
—उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव। —रघु २।३९
—न पारणा स्याद्विहता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः। —रघु २।५५

८ देखिए, पादटिप्पणी नं ४

बोलती थी[1]। पत्नी का पति को प्रसन्न करने के लिए 'प्रियाप्रसादन व्रतम्'[2] नाम आया है। प्रायोपवेश[3] भी एक व्रत था जिसमें उपवास के द्वारा मृत्यु को प्राप्त होना ध्येय था। दिलीप के गोव्रत[4] का कवि ने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। एक ही शय्या पर पत्नी के साथ शयन करते हुए भी कामोपभोग न करना 'असिधाराव्रत'[5] कहलाता था। इसी प्रकार पति का विरह स्वयं पत्नी के लिए कठिन व्रत के समान था[6]।

तीर्थयात्रा—तीर्थों में स्नान करने से आत्मा पुनर्जन्म से मुक्त होती है (समुद्रपत्न्योर्जलसंनिपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात्। तत्त्वावबोधेन विनापि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः। —रघु १३।५८) और देवपद अथवा देवशरीर की प्राप्ति हो जाती है (पूर्वोल्लेख—रघु ८।९५)। तीर्थ स्थानों में पयोतीर्थ और सोमतीर्थ का उल्लेख किया जा चुका है। अन्य तीर्थ स्थानों में गोकर्ण (रघु ८।३३) पुष्कर (रघु १८।३१) और अप्सरातीर्थ (अभि ५।१) के नाम कवि ने दिए हैं।

लोक-प्रचलित विश्वास और अन्धविश्वास—कालिदास ने स्त्रियों के लिए दाहिनी आँख फड़कना[7] अशुभ और बाईं फड़कना[8] शुभ कहा है।

---

१ सितांशुका मंगलमात्रभूषणा पवित्रदूर्वाङ्कुरलाञ्छितालका।
२. व्रतापदेशोज्झितगर्ववृत्तिना मयि प्रसन्ना वपुषेव लक्ष्यते।
—विक्रम ३।१२

—यथाभिनिर्दिष्टं संपादितं मया प्रियानुप्रसादनं नाम व्रतम्।
—विक्रम अंक ३ पृ २१

३. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ९ —रघु ८।९४
४ देखिए, रघु सर्ग २—दिलीप की गो सेवा और विशेषकर यह श्लोक—
इत्थं व्रतं धारयतः प्रजार्थं समं महिष्या महनीयकीर्तेः। —रघु २।२५
५ पित्रा विसृष्टां मदपेक्षया यः श्रियं युवाप्यङ्कगतामभोक्ता।
इयन्ति वर्षाणि तया सहोग्रमभ्यस्यतीव व्रतमासिधारम्। —रघु १३।६७
—यत्रैकशयनस्थापि प्रमदा नोपभुज्यते।
असिधाराव्रतं तद् वै वदन्ति मुनिपुंगवाः॥ —यादव
६. वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति॥ —अभि ७।२१
७. अहो किं मे वामेतरं नयनं विस्फुरति। —अभि ८४
८. अपि च दक्षिणेतरमपि मे नयनं बहुशः स्फुरति। —माल पृ १४१

पुरुष के लिए दक्षिण भुजा फड़कनी शुभ थी[1]। इसी प्रकार शृगालों का बोलना अपशकुन[2] था। गीध का मँडराना भी विपत्ति का सूचक था[3]।

रक्षा के लिए[4] ताबीज और विजय के लिए अंतर पहनने की प्रथा थी। ताबीज के अन्दर मंत्रों से सिद्ध कोई जड़ी-बूटी[5] रख दी जाती थी। भरत की बाहु में अपराजिता बूटी बाँध दी गई थी जिसके अनुसार विश्वास प्रचलित था कि माँ-बाप के अतिरिक्त यदि कोई दूसरा उस ताबीज को उठाएगा तो वह सर्प बनकर उठाने वाले व्यक्ति को काट लेगा[7]।

अपराजिता की तरह तिरस्करिणी का भी उल्लेख मिलता है। इस विद्या की सिद्धि से अदृश्य रहने की शक्ति प्राप्त हो जाती थी।

हस्त-रेखाओं के द्वारा भी भविष्य की घटनाएँ ज्ञात की जाती थीं। फलित ज्योतिष में भी तत्कालीन विश्वास था। अर्थात् शुभ अथवा अशुभ ग्रह से मनुष्य के भाग्य पर प्रभाव अच्छा या बुरा अवश्य पड़ता था[9]।

सर्वसाधारण के कुछ अन्य विश्वासों का भी कवि ने वर्णन किया है। जैसे

---

१ शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य । —अभि पृ ११
—अयं मां स्पन्दितैर्बाहुराश्वासयति दक्षिणः । —विक्रम ११९
२ नवाम्बुदोत्तमविनिस्तामिषाभिः स वाहवे राघवः शिवाभिः ।—रघु ११।१२
३ सम्मुख सपदि क्रममाणस्तो माममाम्नमुखात्तमुद्धरन् ।
रमसा वक्रमपावस्मारे भग्नपक्षपवनेरितध्वजम् ॥ —रघु ११।२६
४ अहो रक्षाकरण्डकमस्य मणिबन्धे न दृश्यते । —अभि पृ ११८
५ रघु १४।७२–७४
६ ७ एषाऽपराजिता नामौषधिरस्य जातकर्मसमये भगवता मारीचेन दत्ता ।
एतां किल मातापितरावात्मानं च वर्जयित्वाऽपरो भूमिपतितां न गृह्णाति ।
अथ गृह्णाति' । 'ततस्तं सर्पो भूत्वा दशति । —अभि पृ ११९
विक्रम में भी चित्रलेखा ने अपराजिता के विषय में कहा है कि इस विद्या के बल पर देवों के शत्रु भी हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकते ।
—विक्रम पृ १०९
८ अतित्वरिते मनाक्षिप्ततिरस्करिणीकामीति । —विक्रम पृ २१
—चित्रलेखा तिरस्करणीमपनीय विदूषकं संज्ञापयति । —विक्रम पृ १७
—भवतु अनयोरेवोद्यानपालिकयोस्तिरस्करिणी प्रतिच्छन्ना पार्श्ववर्तिनी भूत्वोपलप्स्ये । —अभि पृ १२
९ दैवचिन्तकर्षिभासितो राजा—धात्मर्य को मध्यमम् ।
तदवस्य नवचन्द्रनीय क्रियतामिति ॥ —माल पृ १११

हंस का दूध और पानी को पृथक्-पृथक कर देना[1] कृपण का मृत्युपरान्त सर्प की योनि प्राप्त करना।

सर्प के सम्बन्ध में कुछ और विश्वासों का भी उल्लेख है, जैसे मंत्र से साँप का बँधना[2]। साँप के काटने पर उसका विष जलकुंभ विधान[3] के द्वारा जिसमें सर्प की मुद्रा से अंकित वस्तु प्रधान रहती थी उतारा जाता था। मालविकाग्निमित्र में विदूषक के विष को दूर करने के लिए नागमुद्रा से अंकित अँगूठी का प्रयोग किया गया था[4]। यह भी विश्वास प्रचलित था कि जो किसी रोग से ग्रस्त होने का बहाना रचता है, उसे वही रोग हो जाता है। विदूषक ने सर्प काटने का बहाना बनाया था अतः वह एक स्थान पर कहता है कि छल किए हुए सर्पदंश का फल भोग रहा हूँ[5]।

राजसभा में दैवचिन्तक[6] होते थे जो भाग्य की भविष्यवाणी किया करते थे। इनको भी अन्य अधिकारियों की तरह वेतन प्राप्त होता था[7]। दुर्दैव यह शान्ति से शान्त ही जाया करता है, यह विश्वास प्रचलित था[8]।

प्रेतबाधा[9] और प्रेताक्रान्त व्यक्तियों का भी विवरण मिलता है। यह विश्वास था कि मूर्तविद्या से आश्चर्यजनक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। अणिमा लघिमा आदि ऐसी ही सिद्धियाँ थीं जिनके द्वारा आकाश मार्ग[1] से इधर-उधर जाया जा

---

१. हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः। —अभि ६।२८
२ पन्ना स्वतेजोभिरदह्यमानमौषधीव मंत्रौषधिरुद्धवीर्य। —रघु २।३२
 उदकुंभविधानेन सर्पमुद्रितं किमपि कल्पयितव्यम्। —माल पृ ६१
४ माल अंक ४ पृ ६२ —देखिए, पादटिप्पणी नं ३
५. अहं पुनर्जानि सत्यमया वैतसीकंटकर्व ए कृत्वा
 सर्पस्योपर्यपथ कृतं तन्मे फलितमिति। —माल पृ १११
६. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ६
७. अर्थशास्त्र खंड ५ अध्याय ३
८. पूर्वोल्लेख अभि पृ ९—दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गत।
९. मधुरस्येव देवापि सत्वेनातिक्रम्य मेघप्रतिच्छन्दमस्यमधूमिमारोपिता।
 —अभि पृ १२४
 —ममापि सत्वैरभिभूयन्ते गृहाः। —अभि पृ १२४
१ देखिए पादटिप्पणी नं १
११ मालव—इयामोमेव विहायसा गत्वा मम वचनात्तत्रभवते कण्वाय प्रियमावेदय
 यथा पुत्रवती शकुन्तला तच्छापनिवृत्तौ स्मृतिमता दुष्यन्तेन प्रतिगृहीतेति।
 —अभि पृ १४९

सकता था। योगाभ्यास के द्वारा बन्द कमरे में भी प्रविष्ट होना सम्भव था[1]।

उस समय अनेक पौराणिक विश्वास भी प्रचलित थे जैसे—घट से अगस्त्य मुनि की उत्पत्ति[2] विष्णु के पद-नख से गंगा का जन्म[3] भगीरथ के प्रयत्न से शिव की जटाओं से निकल कर पृथ्वी में अवतरण[4] आदि। ऐसे ही शिलावर्षक पर्वत[5] उड़ने वाले पहाड़[6] आकाश में विचरण करने वाले देवता विमा-नाएँ[7] विष्णु के नाना अवतार[8] इन्दुमती के रूप में हरिणी का जन्म[9] शमी वृक्ष में अग्नि का निवास[10]।

संक्षेप में धार्मिक विधि-विधानों एवं विश्वासों से तत्कालीन परिस्थितियों पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। ये अधिकतर आदि काल से चली आई पद्धतियों की विकसित अवस्थाएँ हैं। संस्कार, संध्या-जाप चाहे प्रारंभ काल के सदृश ही हों पर इनके अतिरिक्त पौराणिक वर्णित नए देवी-देवता धार्मिक विश्वास तत्कालीन विकसित अवस्था के परिचायक हैं।

---

१ लब्धान्तरा सावरणेऽपि गेहे योगप्रभावो न च लक्ष्यते ते।
बिभर्षि चाकारमनिर्वृतानां मृणालिनी हैममिवोपरागम्॥ —रघु १६।७

२. प्रससादोदयादम्भः कुम्भयोनेर्महौजसः।
रघोरभिभवाशङ्कि चुक्षुभे द्विषतां मनः॥ —रघु ४।२१

३ यथैव श्लाघ्यते गंगा पादेन परमेष्ठिनः। —कुमार ६।७

४ अमी हरजटाभ्रष्टां भवानिव भगीरथ। —रघु ४।३२

५. पक्षच्छेदोद्यतं शक्रं शिलावर्षीव पर्वतः। —रघु ४।४

६ क्रुद्धेऽपि पक्षच्छिदि वृत्रशत्राववेदनाज्ञं कुलिशक्षतानाम्। —कुमार १।२

७ वैमानिकानां मरुतामपश्यदाकृष्टलीलान्नरलोकपालान्। —रघु ६।१

८ अयाद वेनात्मजमंशजातो पुरातनाप्रार्थितयौवनश्री। —रघु ६।२७

९. पूर्वोल्लेख

१ रघु ८।७९–८२

११ अवैहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव। —अभि ४।४

परिशिष्ट [१]

कालिदास का समय

कवि के समय के ऊपर भारत के विभिन्न उच्चकोटि के विद्वानों के लेख समयानुसार बृहत् संख्या में प्रकाशित होते रहे हैं और घोर वाद-विवाद के उपरान्त भी किसी निर्णय को सर्वमान्यता नहीं दी गई। अतः दो वर्ग हो गए—एक वर्ग उन्हें ई० पू० में रखता है और दूसरा चौथी शताब्दी गुप्तकाल में।

कवि-काल की आरंभिक सीमा मालविकाग्निमित्र नाटक के आधार पर निर्धारित की जाती है। इसी में सर्वप्रथम कवि के नाम का उल्लेख है। दूसरी सीमा सातवीं शताब्दी ईसवी है। बाण ने हर्षचरित में कालिदास का उल्लेख किया है।

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मंजरीष्विव जायते॥

दूसरा प्रमाण एहोल का शिलालेख (६३४ ई०) है, जिसमें कवि रविकीर्ति ने अपने स्वामी पुलकेशिन द्वितीय के यशवर्णन में उनका कालिदास और भारवि को भी पराजित करता किया है। अतः उसका समय ईसवी पू० से सातवीं शताब्दी ईसवी तक किसी भी समय हो सकता है। अब संक्षेप में विभिन्न विद्वानों का मत प्रकाशित करते हुए इस सीमा को संकीर्ण करने का प्रयत्न किया जाएगा।

द्वितीय शताब्दी ई० पू०—कवि पतंजलि के समय के नहीं हैं क्योंकि वे 'योगसूत्र' में प्रयुक्त शब्दों से पूर्ण परिचित लगते हैं। अतः पतंजलि के बाद ही हुए। दूसरा प्रमाण है ई० पू० प्रथम शताब्दी के पूर्व किसी राजा ने विक्रमादित्य की उपाधि नहीं स्वीकार की और परम्परा कवि को विक्रमादित्य का आश्रित बताती है।

प्रथम शताब्दी ई० पू०—इस सिद्धान्त का मुख्य आधार यह माना जाता है कि कवि के आश्रयदाता विक्रमादित्य ने ई० पू० में विक्रम संवत् चलाया। इस सिद्धान्त को स्वीकार करने में कई कठिनाइयाँ हैं। प्रथम यह कि प्रथम शताब्दी ई० पू० में ऐसा कोई विक्रमादित्य नहीं हुआ जिसने शकों को मार भगाया

शकारि की उपाधि ग्रहण की और जिसने नवीन संवत् भी चलाया। प्रथम शताब्दी ई पू में किसी संवत् का नाम नहीं मिलता। प्रोफेसर चट्टोपाध्याय प्रथम शताब्दी ई पू के सिद्धान्त के घोर समर्थक हैं और प्रोफेसर मिराशी ने इनके सिद्धान्त का अच्छी तरह खण्डन किया है। चट्टोपाध्याय ने अपने सिद्धान्त को अश्वघोष पर आधारित किया है। दोनों कवि अर्थात् अश्वघोष और कालिदास भावप्रयोग में बहुत समानता रखते हैं। चट्टोपाध्याय का कहना है कि अश्वघोष ने कालिदास के ग्रन्थों को पढ़कर उस आधार पर अपना काव्य किया है। चूँकि अश्वघोष का काल ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी है, अतः कालिदास ई पू प्रथम शताब्दी में हुए।

वास्तव में उन्होंने जिस समानता को प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है, वह संस्कृत-साहित्य में सभी स्थलों पर ऐसी ही पाई जाती है। संस्कृत-साहित्य की बहुत-सी बातें सब कवियों में प्राय समान हैं अत यह समानता उनमें भी देखी जाती है।

प्रोफेसर चट्टोपाध्याय का कहना है कि अश्वघोष दार्शनिक था अत काव्य-रचना बिना दूसरे का अनुकरण किए नहीं कर सकता था। परन्तु अश्वघोष ने किसी विवशता के फलस्वरूप अपने ग्रन्थ की रचना की यह कहीं स्पष्ट नहीं होता। उनके बुद्धचरित और सौन्दरनन्द निश्चय ही उत्तम ग्रन्थ हैं। अत यह अच्छा कवि भी था।

चट्टोपाध्याय जी का यह मत कि उसके काव्य में असंख्य पुनरुक्तियाँ हैं, अत वह निपुण कवि नहीं था भी निर्मूल है। स्वयं कवि कालिदास के रघुवंश में सातवें सर्ग के ५ से १२ तक श्लोक बिल्कुल ज्यों-के-त्यों कुमारसम्भव के सातवें सर्ग में ५७ से ६२ तक प्रयुक्त हुए हैं। महाशय चट्टोपाध्याय मानते हैं कि कालिदास के एक श्लोक (कुमार ७।६२ रघु ७।११) को अश्वघोष ने दो बार पुनरुक्ति की है। परन्तु एक सीधी बात यह है कि यदि अश्वघोष ने कालिदास की चोरी की होती तो क्या वे पुनरुक्ति कर बार-बार अपनी चोरी प्रदर्शित करते ? फिर यह श्लोक स्वयं कवि ने भी दो बार प्रयुक्त किया है, एक रघुवंश में दूसरा कुमारसम्भव में।

प्रोफेसर साहब का यह भी कहना है कि काव्यों और नाटक के जन्म तथा वंश के पूर्व-परिचय की आवश्यकता नहीं थी। यह उन्होंने रघुवंश के अनुकरण में किया है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या साहित्य में वंशावली का इतिहास देने की प्रथा प्रामाण्य नहीं है ? क्या बाण ने हर्षचरित में इस प्रथा का अनुसरण नहीं किया है ?

उनका यह भी तर्क है कि अश्वघोष का मारविजय-वर्णन कुमारसम्भव के 'मदनदहन' से अपहृत किया गया है। परन्तु यह बात ध्यान देने की है कि बुद्ध के चरित में यह घटना स्थान पा चुकी है अतः यह भी सम्भव है कि प्रोफेसर साहब के तर्क का ठीक उल्टा हुआ हो। वे यह भी दलील पेश करते हैं कि पुष्यमित्र के राज्य में खारवेल ने बड़ा उत्पात मचाया था। परन्तु पुष्यमित्र के नाम वाली मुद्राएँ प्राप्त हो चुकी हैं। इस नृपति का खारवेल के हथिगुम्फ शिलालेख के बहसतिमित्र के साथ समीकरण उचित नहीं है। कम-से-कम इस सामग्री के आधार पर दोनों समसामयिक नहीं कहे जा सकते। चन्द्रगुप्त उज्जयिनी का राजा नहीं कहा जा सकता। इनके इस सिद्धान्त का निराकरण इस तरह किया जा सकता है कि अवन्ती और सौराष्ट्र के विजेता होने के अधिकार से वह उज्जयिनी का राजा था। कुमारगुप्त और बन्धुवर्मा का मन्दसौर शिलालेख और स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ चट्टानलेख इस बात का साक्षी है कि कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त दोनों का इन दोनों प्रान्तों पर बहुत दिनों से अधिकार था।

अतः वे ई. पू. प्रथम शताब्दी में नहीं थे। उपर्युक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त कुछ और प्रमाण भी इसी की पुष्टि में दिए जा सकते हैं।

कवि ने अपनी सातों रचनाओं में कहीं शकों का उल्लेख नहीं किया। यदि वे ई. पू. प्रथम शताब्दी ई. पू. ५७ के निकट होते तो वे गार्गी संहिता के युग पुराण (दीवान बहादुर प्रो. के. एच. ध्रुव का संस्करण जे. बी. ओ. आर. एस. भाग १६ पृ. १ २१ १९३ पृ. ४१) में उल्लिखित शक-आक्रमण को अवश्य जानते जो ई. पू. ३५ के आसपास हुआ था।

कवि के सभी ग्रन्थों में शान्तिमय और विलास-प्रियता है। अतः प्रथम शताब्दी ई. पू. में जब राजनैतिक अवस्था बड़ी आलोड़ित-विलोड़ित थी इतने विलासप्रिय शान्तिमय ग्रन्थ नहीं रचे जा सकते। पौराणिक परम्पराएँ और विवरण जो कवि ने प्रचुरता के साथ प्रयुक्त किए हैं, अधिक संख्या में गुप्त काल में ही संगृहीत हुए थे।

हिन्दू देवताओं की अर्चनीय प्रतिमाएँ और मन्दिर जिनका कवि के ग्रन्थों में बार-बार उल्लेख मिलता है ई. पू. प्रथम शताब्दी को प्रमाणित नहीं करते। प्रतिमा-पूजा यद्यपि भारत में बहुत पहले प्रचलित हो चुकी थी किन्तु कुषाण काल के पश्चात् इन प्रतिमाओं की विविध सज्जा प्रारम्भ हुई। ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी के महायान नामक बौद्ध पन्थ ने इसको प्रश्रय दी थी। इससे पूर्व यक्षों की मूर्तियों की ही पूजा होती थी।

१

इन सब तर्कों के आधार पर यह निश्चय ही कहा जा सकता है कि कवि प्रथम शताब्दी ई० पू० का नहीं था।

पाँचवीं शताब्दी ईसवी—रघुवंश के चौथे सर्ग में रघु की दिग्विजय के प्रसंग में (तत: प्रतस्थे कौबेरीं ... ...बभूव रघुचेष्टितम् ४।६६-६८) सिन्धु[1] नदी के किनारे हूणों को पराजित करने का उल्लेख है। प्रोफेसर पाठक का मत है कि यह आक्रमण कुमारगुप्त के अन्तिम समय में हुआ था। युवराज स्कन्दगुप्त ने हूणों का सामना किया था। यह जूनागढ़ के समीप गिरनार के शिलालेख (४५५-४५६ ई०) से भी सिद्ध हो चुका है। रघुवंश में हूण वाक्सस नदी पर थे अत: यह परिस्थिति कालिदास के समय की होगी। इसी से वे उनका समय पाँचवीं शताब्दी मानते हैं।

परन्तु ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक भारतीयों का हूणों से बिल्कुल परिचय भी नहीं था—ऐसा कभी संभव नहीं हो सकता। पारसियों के अवेस्ता ग्रन्थ में और महाभारत में भी हूणों का उल्लेख है। ईसवी तीसरी शताब्दी में लिखित 'ललित विस्तर' ग्रन्थ में बुद्ध ने बाल्यकाल में हूणों की लिपि सीखी थी ऐसा प्रसंग आया है। कई शताब्दी ई० पू० में ही हूणों ने यूएची—जिसका आगे चलकर कुषाण नाम हुआ—लोगों को वाक्सस नदी के दक्षिण किनारे पर मार कर भगा दिया था (१४० ई० पू० के लगभग)। तब से हो वे वहाँ रहने लगे थे। पाँचवीं शताब्दी से हूणों ने वहाँ राज्य स्थापित किया। अत: यह कैसे संभव हो सकता है कि कवि को तब तक हूणों का पता न लगा हो।

छठी शताब्दी ईसवी—मैक्समूलर, हरप्रसाद शास्त्री, हॉर्नले आदि विद्वान् कवि को छठी शताब्दी ईसवी का मानते हैं। इन सबने कवि को यशोधर्मन का समकालीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, जिनके मतों का विरोध डाक्टर ए० बी० कीथ और बी० सी० मजूमदार ने योग्यतापूर्वक कर इस सिद्धान्त का परित्याग करना आवश्यक सिद्ध कर दिया है।

हुएनसांग जो भारतवर्ष में ६२९ से ६४५ ईसवी तक रहा एक स्थान पर लिखता है कि मालव देश में (Molapo) शिलादित्य नामक राजा ने ५१ से ५८ ई० तक राज्य किया। कल्हण की राजतरंगिणी के अनुसार उज्जयिनी के विक्रमादित्य ने काश्मीर के सिंहासन पर अपने विद्वान् मित्र कवि मातृगुप्त को बिठाया। विक्रमादित्य की मृत्यु के उपरान्त मातृगुप्त ने सिंहासन त्याग दिया और प्रवरसेन राजा हुआ। इसने प्रवरपुर नगर बसाया। हुएनसांग ने भी इस

१ प्रोफेसर पाठक सिंधु का वंक्षु पाठ मानते हैं।

नगर का वर्णन किया है। अतः यह छठी शताब्दी का होना चाहिए। विक्रमा-
दित्य का समय भी यही ठहरता है। हुएनसांग का शिलादित्य और यह विक्रमा-
दित्य एक ही व्यक्ति होंगे। राजतरंगिणी के अनुसार विक्रमादित्य ने शकों को
पराजित किया था। इसी शताब्दी में मालवा में यशोधर्मदेव एक पराक्रमशाली
राजा हुए थे। इनके मंदसोर के लेख से मालूम होता है कि इन्होंने मिहिरकुल
नामक महाबली हूण राजा को हराया था और राजाधिराज परमेश्वर की उपाधि
अपने नाम के साथ जोड़ी। अतः यही कल्हण के विक्रमादित्य और हुएनसांग
के शिलादित्य हैं। पराजित हूणों को कल्हण और अलबरूनी ने शक नाम दिया
होगा। मातृगुप्त ही अतः कालिदास हुए।

इस सिद्धान्त पर आक्षेप यह है कि हुएनसांग का मोलापो देश कौन सा है?
हुएनसांग ने उज्जयिनी का पृथक वर्णन किया है। अतः मोलापो की राजधानी
उज्जयिनी नहीं थी। प्रोफेसर सिल्वनलेवी का कहना है कि हुएनसांग ने जिसकी
बहुत प्रशंसा की है वही यशोवर्मन नहीं अपितु वलभी का पहला शिलादित्य
होगा। राजतरंगिणी का प्राचीन इतिहास अतिशयोक्ति है, यद्यपि तत्कालीन
नहीं—यह सिद्ध हो चुका है। एक और भी बात है—यदि यशोवर्मन ही विक्रमा-
दित्य होता तो राजाधिराज परमेश्वर की तरह विक्रमादित्य की उपाधि का भी
तो कहीं वर्णन आता। उसको शकारि बिलकुल नहीं कहा जा सकता क्योंकि
ईसा की छठी शताब्दी में शकों का नाम कहीं नहीं मिलता। यदि मातृगुप्त ही
कालिदास होता तो कल्हण ने जो २ श्लोक मातृगुप्त के वचन में लिखे उनमें
कहीं तो कालिदास होने का प्रसंग देते। मातृगुप्त ने प्रवरसेन के लिए सेतुबंध
नहीं रचा क्योंकि राजतरंगिणी में इसका उल्लेख नहीं है। कल्हण ने यह भी कहा
है कि प्रवरसेन और विक्रमादित्य में दुश्मनी थी और प्रवरसेन के सिंहासन पर
बैठे ही उनके आग्रह करने पर भी मातृगुप्त वहां नहीं रहा।

कवि ने मेघदूत में दिङ्नाग शब्द प्रयुक्त किया है। टीकाकार इस शब्द
से एक प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक का जो छठी शताब्दी में हुआ ग्रहण मानते हैं।
इसी से वे कवि का समय छठी शताब्दी निर्धारित करते हैं।

कवि ने कभी-कभी श्लेष का उपयोग अवश्य किया है, पर बाण और श्रीहर्ष
की तरह प्रचुर मात्रा में कभी नहीं। दूसरी बात यह कि 'दिङ्नागानाम्' पद
से यदि कवि का आशय होता तो वह बहुवचन क्या प्रयोग करता। यदि दिङ्-
नाग को व्यक्ति विशेष मान भी लिया जाय तब भी इससे कवि के समय पर
प्रभाव नहीं पड़ता। डाक्टर कीथ प्रोफेसर मेक्डानल्ड दिङ्नाग को ई० सन्
४ के लगभग मानते हैं। वामन ने काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में उल्लेख किया है कि

दिङ्नाग का गुरु वसुबन्धु महाराज चन्द्रगुप्त का मंत्री था। अतः वसुबंधु चौथी शताब्दी ईसवी के बीच में तथा दिङ्नाग ४ शताब्दी के अन्तिम भाग में हुए।

अतः कालिदास का समय न पाँचवीं शताब्दी है, न छठी और न पहली शताब्दी ईसा पूर्व। जैसा पिछले अध्यायों में दिखाया जा चुका है कि कालिदास पर वात्स्यायन के कामशास्त्र का काफी प्रभाव था। वात्स्यायन का सर्वसम्मत काल तीसरी शताब्दी ईसवी है। (कर्तर्या कुन्तलः शातकर्णिः शातवाहनो महादेवीं मलयवतीं (जघान) कामसूत्र २।७)—इस सूत्र के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि कामसूत्र की रचना तीसरी शताब्दी ईसवी से पूर्व नहीं हो सकती। कालिदास के ग्रन्थों में कामसूत्र के अनेक सूत्रों की व्याख्या मिलती है।

कवि ने वात्स्यायन का उल्लेख किया है। कुमारसंभव के अष्टम सर्ग के श्लोक विशेषकर ८-९ १४-१९, २२ २१ २५ ८१ ८५, ८८ कामसूत्र के विशेष स्थलों की व्याख्या-जैसे हैं। अतः जब तीसरी शताब्दी में वात्स्यायन हुए तब इनके सूत्रों का प्रचार होते-होते एक शताब्दी बीत गई होगी। अतः कवि चौथी शताब्दी का होगा। दूसरे शब्दों में कवि का गुप्तकाल में होना अधिक सम्भव है। इस सिद्धान्त को आवश्यक प्रमाण देते हुए अब देखना है कि कहाँ तक उसका गुप्तकालीन होना ठीक बैठता है।

भास्कर्य आधार

(१) प्रभामण्डल—कालिदास ने प्रभामण्डल छायामण्डल तथा स्फुरत्प्रभामण्डल[3] का उल्लेख किया है। उत्तरी-भारत में प्रभामण्डल का वास्तविक प्रदर्शन मूर्तिकला में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यदि देखा जाय तो कुषाणकाल से प्रारम्भ होता है। गुप्तकाल के प्रारम्भ में यह सर्वसम्मत रूप धारण कर सामान्य वस्तु हो जाता है। पहले मूर्तियों के पीछे चक्र दिखाया जाता था वही गुप्तकालीन बौद्ध प्रतिमा का प्रभामण्डल बन गया। मथुरा और सारनाथ दोनों के संग्रहालयों में ऐसे अनेक उदाहरण हैं। गुप्तकाल की एक और भी विशेषता थी। प्रभामण्डल (Halo) को सजाने के लिए कमल का प्रयोग किया जाता था। कवि ने इस विशेष प्रकार तक का 'पद्मातपत्र

---

१ रघु १३।८२ १७।२१ कुमार ६।४ ७।३८
२ कुमार ४।५ ३ रघु ३।६ ५।५१ १४।१४
नोट उपरोक्त १ २ ३ के उद्धरण 'ललितकला' अध्याय में दिए जा चुके हैं।

मण्डललक्ष्येण'[1] पदावली से संकेत किया है। कुषाण काल में यह विशेष प्रकार सुविकसित हुआ था। सारनाथ के संग्रहालय में इसका नमूना पाया जाता है। श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपनी पुस्तक (Gupta Art) में इस पर यथेष्ट प्रकाश डाला है।

(२) शंख और पद्म—कालिदास ने घर के द्वार पर शंख तथा पद्मों के चित्रों का उल्लेख किया है। यक्ष ने मेघ को अपने घर की पहचान ही यही बताई है। गुप्त कला की यह विशेष वस्तु है, जो देवगढ़ के मन्दिर में प्रदर्शित की गई है। बाहर की तीन दीवारों के द्वार पर (रथिका बिम्ब) जहाँ गजेन्द्र मोक्ष शेषशायी विष्णु और नर-नारायण दिखाए गए हैं वहीं शंख और पद्म का भी उत्कीर्ण रूप में सम्यक् प्रदर्शन है[2]। तत्कालीन मथुरा के अनेक स्तम्भों में पत्रलता-युक्त पद्म और शंख देखने को मिलते हैं। कुषाणकाल की कला में यह सामान्य रूप से प्रचारित नहीं था। यद्यपि कहीं-कहीं शंख और पद्म देखे जाते हैं पर वे द्वारोपान्त पर नहीं हैं तथा पत्रलता (rising scroll) का भी कहीं चिह्न प्राप्त नहीं होता। अवश्य ही कवि ने तत्कालीन अति प्रचलित चित्रों को ही देख कर इन्हें अपने काव्य में स्थान दिया होगा।

(३) गंगा तथा यमुना की आकृति—कालिदास ने चामर हाथ में लिए गंगा और यमुना को[3] दिखाया है। चामरग्राहिणी यह दोनों नदी-देवियाँ कुषाणकाल के पश्चात् गुप्तकाल में मूर्त की गई थीं। मथुरा और लखनऊ के संग्रहालयों में इस प्रकार की मूर्तियाँ सुरक्षित हैं। गुप्तकाल के मन्दिरों के द्वार मांगल्य विहग कलश पत्रलता पुष्पावली आदि से अलंकृत मिलते हैं। देवगढ़ के मन्दिर में इन सब के विविध उदाहरण देखे जा सकते हैं। श्री वासुदेवशरण का कहना है कि हमारे पास इस बात का निश्चित प्रमाण है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५–४१३ ई०) के शासनकाल में गंगा और यमुना की मूर्तियों की अभिव्यक्ति प्रारम्भ हुई। उदयगिरि गुफा में जहाँ महावाराह पृथ्वी का उद्धार करते दिखाए गए हैं, वहाँ दिव्य संगीत एवं आनन्दोत्सव के साथ-साथ

---

१ छायामण्डललक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम्।
पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम्॥
—रघु ४।५

२ V. S. Agrawala Gupta Art (1947) Pl. XII & XIII.

३ कुमार ७।४२

गंगा-यमुना[1] का अवतरण भी प्रदर्शित किया गया है, जो गुप्त वंश की उन्नति का प्रतीक है[2]।

(४) विष्णु का वामन रूप—रघुवंश में कालिदास ने रानियों के स्वप्न का इस प्रकार वर्णन किया है—

गुप्तं ददृशुरात्मानं सर्वाः स्वप्नेषु वामनैः ।
जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रलाञ्छितमूर्तिभिः ॥ —रघु १ ।६

इस श्लोक ने गुप्त काल की कला को साक्षात् रूप से अभिव्यक्त किया है। इसमें तीन बातें ध्यान देने की हैं—(१) आयुध आयुध रूप में न होकर आयुध पुरुष के रूप में चित्रित हैं। (२) इनका आकार 'वामन' (छोटा बौना) है। (३) सब मूर्तिमान् हैं और किसी चिह्न से लांछित। ये तीनों गुण जो उपरोक्त श्लोक की प्रमुख विशेषता हैं, सबसे पहले गुप्त काल की विष्णु की मूर्ति में पाए जाते हैं। मथुरा संग्रहालय में इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति है। इस संग्रहालय में संग्रहित विष्णु की मूर्तियों में कुषाण काल एवं गुप्त काल का भेद भली भाँति देखा जा सकता है। कुषाण काल की विष्णु की मूर्ति में आयुध अर्थात् शंख चक्र, गदा आदि अपनी स्वाभाविक अवस्था में हैं, परन्तु गुप्त काल की मूर्तियों में येही आयुध विशेषकर गदा और चक्र मानव आकार से विष्णु के दोनों ओर, वामन रूप में प्रदर्शित किए गए हैं, परन्तु ये दोनों आकार ऊपरी रेखाओं में गदा और चक्र ही प्रतिभासित होते हैं।

---

१ V S. Agarwal Gupta Art (1947) figs. 6 & 7

२ We have definite proof that the figures of Ganga and Yamuna had begun to be carved in the reign of Chandra Gupta I (375—413 A. D) as in the Udaigiri cave depicting a colossal figure of Mahavaraha in the act of lifting the earth, we find two flanking scenes showing the descent of Ganga and Yamuna on earth to the accompaniment of celestial music and universal rejoicing. The rivers Ganga and Yamuna seem to have become the Symbols par excellence of the homeland of the rising powers of the Guptas.

Art Evidence in Kalidas by V S. Agrawala
Taken from Journal of the U. P Historic Society Volume XXII
—Part I & II Year 1949

कालिदास ने केवल कल्पना का आधार लेकर इस श्लोक को नहीं रचा किन्तु उन्होंने विष्णु की मूर्तियों को अच्छी तरह ध्यान से देखा है।

(५) शेषशायी विष्णु, विष्णु के ही अवतार—राम कृष्ण मयूरासीन कार्त्तिकेय आदि सर्वप्रथम गुप्तकला में ही चित्रित मिलते हैं। कवि ने विष्णु को 'भोगिभोगासनासीनम्' दिखाया है और लक्ष्मी को पैर सहलाते हुए[1]। बिलकुल ऐसी ही मुद्रा कवि ने अवश्य किसी मूर्ति में देखी होगी।

देवगढ़ के मन्दिर में विष्णु को शेषासीन दिखाया गया है और सर्प का एक फन पीछे प्रभामंडल के रूप में भी है, जो सहसा कवि के 'तत्फणामण्डलो-दर्चिर्मणिद्योतितविग्रहम्'[2] की ओर ध्यान केन्द्रित करता है, इसका एक चरण बैठी हुई लक्ष्मी के करों में है। अतः यह कला में चित्रित ही कवि द्वारा हुआ। इसी मन्दिर के एक द्वारोपान्त भाग में विष्णु के पैरों को पलोटती लक्ष्मी भी दिखाई गई है।

रघुवंश में कवि की पंक्ति 'मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन'[3] फिर गुप्त-कला की ओर ध्यान आकर्षित कर देती है। मथुरा के संग्रहालय में मयूरारूढ कार्त्तिकेय का नमूना देखा जा सकता है। कुषाणकाल की मूर्तियों में मयूर नहीं मिलता पर गुप्त काल की मूर्तियों में वे मयूरारूढ देखे जाते हैं[4]।

कपालाभरणा काली[5] का उल्लेख गुप्त युग की सामान्य आकृति है। इसी प्रकार सप्तमातृका[6] कैलाश को उठाए रावण[7] सब गुप्तकला के उदाहरण हैं। एलोरा में रावण की विशेष आकर्षक आकृति देखी जा सकती है और मथुरा-संग्रहालय में कैलाश को उठाए रावण का सुन्दर नमूना है[8]।

---

१. रघु १०।७, ८ २. रघु १०।७
३. रघु ६।४
४. V. S. Agarwala, A Handbook of the sculptures in the Museum of Archeology Mathura (1939) Fig. 40. A prominent example of this Bharat Kala Bhawan Benares.
५. पूर्वोल्लेख देखिए, अध्याय 'ललितकला'। —कुमार ७।३९ रघु ११।१५
६. पूर्वोल्लेख देखिए, अध्याय 'ललितकला'। —कुमार ७।३८
७. पूर्वोल्लेख देखिए, अध्याय 'ललितकला'। —पूर्वमेघ ६२
८. Mathura Art Museum No. 2577 V. S. Agarwala, Brahmanical Images in Mathura J. I. S. O. A. (1937) p. 127 Pl. XV (Fig. 1)

इसी प्रकार खिले कमल पर खड़ी[1] या कमलनाल हाथ में धारण किए हुए[2] या कमलनाल के साथ क्रीड़ा करती[3] लक्ष्मी जो कवि के ग्रंथों में वर्णित है। मथुरा और अन्य संग्रहालयों में देखी जा सकती है। ललितकला अध्याय के मूर्तिकला विभाग में इस विषय पर यथेष्ट प्रकाश डाला जा चुका है। मथुरा-संग्रहालय में कामदेव और यक्ष की भी अगणित मूर्तियाँ हैं।

कवि ने कुमारसंभव में शिव की समाधि का जो वर्णन किया है, वह बोधिसत्व की प्रतिमाओं से बहुत समानता रखता है। ये मूर्तियाँ कुषाण काल से ही प्रारंभ हुई हैं[4]।

(६) मध्य में नीलमणि पिरोई हुई मोतियों की माला—गुप्तकाल के आभूषणों में मोतियों की एकावली मुख्य है जिसके बीच में नीलमणि पिरोई हुई रहती थी। अजन्ता पेंटिंग में स्त्री और पुरुष दोनों के कंठ में ऐसी मालाएँ देखी जाती हैं। कवि ने रघुवंश में चित्रकूट से बहती हुई गंगा को नायिका के गले में पड़ी मुक्तावली की संज्ञा दी है[5]। पूर्वमेघ में मुक्तावली के बीच में पिरोई हुई इन्द्रनीलमणि का स्पष्ट उल्लेख है[6]। चर्मण्वती का जल पीता मेघ ऐसा प्रतीत होगा मानों पृथ्वी के गले में पड़ी मुक्तावली के बीच बड़ी-सी इन्द्रनील मणि पोह दी गई हो। इसी प्रकार मोती की माला के बीच नीलमणि का प्रसंग रघुवंश में एक स्थान पर और भी प्राप्त होता है[7]। अजन्ता में अवलोकितेश्वर की मूर्ति में मुक्तावली के बीच में नीलमणि पिरोई मिलती है। कवि ने भी अनेक स्थानों पर इन मालाओं का प्रसंग दिया है। गंगा और यमुना का संगम तक कवि को इन्द्रनीलमणियों से गुंथी माला के समान लगता है[8]। अतः गुप्त काल की यह विशेषता कवि का सामान्य गुण है।

(७) मृण्मूर्तियाँ—अभिज्ञानशाकुन्तल में वर्णचित्रिता मृत्तिकामयूर का प्रसंग है। उसके लावण्य की प्रशंसा भी की गई है। मथुरा-संग्रहालय में एक

---

१ रघु ४।१८ ६।८ २ माल ४।६ ३ कुमार ६।८४

४ पूर्वोल्लेख— देखिए, अध्याय 'ललितकला'।

५. मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः। —रघु १३।४८

६ प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टी-
रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम्। —पूर्वमेघ ५

७ प्रागेव मुक्ता नयनाभिरामा प्राप्येन्द्रनीलं किमुतोन्मयूखम्।
—रघु १६।६९

८ क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा। —रघु १३।५४

मृण्मय मकर प्रदर्शित किया गया है। यद्यपि शुंग काल से मिट्टी के खिलौने आदि देखे जाते हैं, परन्तु गुप्त काल से ही इन पर तूलिका से रँगना प्रारंभ हुआ है।

राजघाट में कुछ मिट्टी की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिन पर वर्ण और तूलिका प्रयोग का चिह्न मिलता है। एक स्त्री को साड़ी लाल और श्वेत रंग की धारियों में दिखाई गई है और कुच-पट्टक काला। एक बच्चे की मूर्ति मिली है जिसका जाँघिया कई रंगों की खड़ी धारियों से युक्त दिखाया गया है। कुछ स्त्रियों की मूर्तियों पर उनके शरीर के आभूषण वर्ण-रेखाओं के द्वारा दिखाए गए हैं। अन्य मूर्तियों में भ्रू और पलक काली दिखाई गई हैं[1]। गुप्त काल से ही रँगाई प्रारंभ हुई है यह अजन्ता की गुफाओं से भी सिद्ध होता है। कवि ने भी स्त्रियों की मूर्तियों का प्रसंग दिया है जिनका रंग फीका पड़ गया है[2]।

(९) चतुस्स्तम्भ—चार स्तंभों पर आश्रित छोटा-सा मंडप जिस पर छत भी बना रहे, गुप्त कला की विशेष वस्तु है। कवि ने इसको 'चतुस्स्तंभ प्रतिष्ठित वितान'[3] कहा है। इसी वस्तु को बाण ने और स्पष्ट कर दिया है। 'नालिमण्डप' कहकर इसका परिमाण स्पष्ट किया और मणिवर्तिका चतुरस्र' वाक्यावलि से आकार की अभिव्यक्ति कर 'छत पर मोतियों की लड़ियाँ लटक रही थीं' कहकर उसके सौन्दर्य का भी परिचय दे दिया[4]। अजन्ता की गुफाओं में इसकी प्रतिकृति देखी जा सकती है[5]।

(१० नारी अंग-सौष्ठव—कालिदास द्वारा वर्णित नारी-सौन्दर्य में पयोधरों का पीवर एवं पीन होना मुख्य विशेषता है। पार्वती के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि उसके स्तन पीन होकर इतने सट गए थे कि उनके बीच में कमलनाल का एक सूत भी नहीं समा सकता था[6]। कुषाण काल की मूर्तियों में यह विशेषता नहीं मिलती है। गुप्तकाल की मूर्तियों में यह विशेषता मिलती है।

---

१ V S Agrawala, Rajghat Terracottas, J U. P H. S. XIV Pt. I (July 1941) P 9

२ स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम् —॥ रघु १६।१७

३ रघु १७।९ ४ देखिए, पूर्व उल्लेख अध्याय 'वस्तिकला'

५ V S. Agrawala Art (1947) p. 24 Fig. 26

६ अन्योन्यमुत्पीडयदुत्पलाक्ष्याः स्तनद्वयं पाण्डु तथा प्रवृद्धम्।
मध्ये यथा श्याममुखस्य तस्य मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम् ॥—कुमार १।४

(११) केशविन्यास प्रणालियाँ— 'वेशभूषा' नामक अध्याय में विभिन्न प्रकार की केश-रचनाओं पर विस्तृत प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ संक्षेप में उनको दुहरा कर कवि के समय पर कि वह निश्चय ही गुप्त काल था प्रकाश डाला जावेगा।

अमरकोश में अलक का अर्थ चूर्ण कुन्तल माना है। कवि ने इन्दुमती के बालों का 'घनीभूत'[1] विशेषण कह अलक की व्याख्या घुँघराले स्पष्ट कर दी है। कुंकुम कपूर आदि के चूर्ण से अर्थात् इनके मोटे अवलेप से बाल मरोड़-मरोड़ कर छल्लेदार बनाए जाते थे। रघुवंश में केरल देश की स्त्रियों के अलकों के सम्बन्ध में कवि ने चूर्ण का उल्लेख किया है[2]। लटों को अलकों के रूप में लाने से उनकी लम्बाई कम हो जाती होगी। कवि ने विरहिणी यक्षिणी के केशों को 'लम्बालक'[3] कहा है। अर्थात् पति के विरह में शृंगारादि परित्यक्त कर देने से चूर्ण त्याग करने से और तैलादि का प्रयोग न करने के कारण उनके केश लम्बे होकर बार-बार कपोलों पर आ जाते थे[4]। यह अलक विशेष प्रकार का केशविन्यास गुप्त काल की मृण्मयी नारी-मूर्तियों में देखा जा सकता है[5]।

इसी प्रकार एक और प्रकार की केश-विन्यास प्रणाली 'बर्हभार केश' था[6]। दंडी और कालिदास दोनों ने इसी विशेष प्रकार की केशरचना कहा है। श्री वासुदेवशरण का कहना है कि इसमें माँग के दोनों ओर कनपटी तक लहराती हुई चूर्ण पटियाँ मिलती हैं। वे ही छोर पर ऊपर को मुड़कर घूम जाती हैं। देखने में यह मोर की फहराती पूँछ-सी मालूम होती है। कालिदास का 'बर्हभार' से इसी प्रकार की केशविन्यास प्रणाली से आशय है। यह प्रणाली भी कुछ मूर्तियों में देखी जा सकती है[7]। कुषाण कला में यह प्रणाली नहीं मिलती।

कवि ने अलकों को 'मुक्ताजाल ग्रथित' भी दिखाया है, यह भी गुप्त कला में ही देखने को मिलता है। कुषाण काल में इसका कहीं पता नहीं है।

(१२) हंसदुकूल—गुप्तकाल में हंस सामान्य रूप से देखा जाता है। अजन्ता पेन्टिंग में कपड़ों पर हंस के चित्र मिलते हैं। कालिदास ने अपने शब्दों

---

१ रघु ८।५१   २ रघु ४।५४
३ उत्तरमेघ २४   ४ उत्तरमेघ ३१
५ मथुरा म्यूजियम १ १२४   ६ उत्तरमेघ ४६
७ V. S. Agarwala Rajghat Terracottas J U P R S, XIV Pt. I (July 1941) Figs. 1 4
८ शिखण्डाभरणाबद्धमौलिभिः ।—पूर्वमेघ ६७ रघु ६।४४

(३) पाटनादृति—रघुवंश का श्लोक है—

तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम् ।
कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम् ॥ —रघु ४।६८

रघुवंश की प्रायः सभी प्रतियों में यह पाठ 'पाटलादेशि' मिलता है। वस्तुतः 'कपोलपाटनादेशि' पाठ शुद्ध है। कई हस्तलिखित प्राचीन प्रतियों में पाटनादेशि ही पाठ है। प्रोफेसर रामसुरेश त्रिपाठी (सनातन धर्म कालेज कानपुर) के पास रघुवंश की एक जीर्ण हस्तलिखित प्रति है उसमें पाटनादेशि पाठ है। बात यह है कि हूण वीर जब मर जाते थे उनके कपोलों के दोनों ओर छिद्र कर दिए जाते थे जिससे खून की धारा बह पड़ती थी। हूणों की इसी सामाजिक रीति का संकेत कवि ने यहाँ किया। इस दृष्टि से कपोल-पाटनादेशि' पाठ ही शुद्ध है। मल्लिनाथ आदि ने पाटल पाठ मानकर पाटलिम्ना अर्थ किया है जो एक तरह से बलात् अर्थ है। इस उद्धरण के आधार पर डाक्टर वासुदेवशरण जैसे विद्वान् कालिदास को निश्चित रूप से चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में मानने को तैयार रहे हैं। यह अन्वेषण अभी अगस्त १९६६ में हुआ है।

साहित्यिक प्रमाण

अभी हाल में ही श्री चन्द्रबली पाण्डे की एक पुस्तक कालिदास' प्रकाशित हुई है, जिसके अनुसार भी कालिदास का समय चन्द्रगुप्त द्वितीय का समय ठहरता है।

राजशेखर का एक सूत्र है—

महानगरेषु च काव्यशास्त्रपरीक्षार्थं ब्रह्मसभा कारयेत् ।
तत्रपरीक्षितोत्तीर्णानां ब्रह्मरथयानं पट्टबन्धश्च । श्रूयते
चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा-
इह कालिदासमेंठावत्रामररूपसूरभारवयः ।
हरिश्चन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम् ॥

—काव्य मीमांसा अध्याय १ पृ ५५

इसमें परीक्षितो' शब्द से यह स्पष्ट करना आसान कहा जा सकता है कि कालिदास की मेंठ अमर की रूप सूर की भारवि तथा हरिश्चन्द्र की चन्द्रगुप्त के साथ काव्यकार के रूप में परीक्षा हुई। अतः कालिदास और मेंठ समकालीन थे और चन्द्रगुप्त थे काव्यकार।

कालिदास की ख्याति में किसी प्रकारि राजा का हाथ था यह इससे सिद्ध होता है—

दि की हस्तलिखित प्रति है, उसका निम्नलिखित लेख भी श्री चन्द्रबली पाण्डे के अनुसार चन्द्रगुप्त के पक्ष में अधिक है।

"आर्ये रसभावविशेषदीक्षागुरो श्रीविक्रमादित्यस्य साहसाङ्कस्याभिरूपभूयिष्ठेयं परिषत्। अस्यां च कालिदासप्रयुक्तेनाभिज्ञानशाकुन्तलनाम्ना नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः"।

इससे साहसांक और विक्रमादित्य की एकता सिद्ध होती है। यह साहसांक गुप्तवंशी है यह निम्नलिखित श्लोक से सिद्ध हो जाता है—

हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद्देवीं च दीनस्तथा।
लक्षं कोटिमलेखयत्किल कलौ दाता स गुप्तान्वयः॥

—एपिग्राफिया इण्डिका भाग १८ पृ० २४८, सञ्जान ताम्रपत्र

गुप्तान्वय साहसांक का साहस नाम के कथन से भी स्पष्ट है। 'अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेषगुप्तश्च चन्द्रगुप्तः शकपतिमशातयदिति। (हर्षचरित, षष्ट उच्छ्वास)।

इसी को टीकाकार शंकर कवि और स्पष्ट कर देते हैं—

शकानामाचार्यः शकाधिपतिः चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमानश्चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेषधारिणा स्त्रीवेषजनपरिवृतेन रहसि व्यापादितः।

अतः चन्द्रगुप्त ही साहसांक विक्रमादित्य और शकारादि हुआ।

एक समस्या और भी है—राजशेखर का कथन है—श्रूयते चोज्जयिन्यां साहसांको नाम राजा (काव्यमीमांसा अध्याय १ पृ० ५)। इसके अनुसार चन्द्रगुप्त जो मगध-का सम्राट् था उज्जयिनी का राजा कैसे हो सकता है? डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है—

मालवा और सुराष्ट्र विजय के उपलक्ष्य में चन्द्रगुप्त ने उन प्रान्तों के लिए चाँदी के सिक्के भी ढलवाए थे। उन पर परलेख इस प्रकार लेख है—

परमभागवत—महाराजाधिराज—श्री चन्द्रगुप्त—विक्रमादित्यस्य।

इसी लेख में विक्रमांक विरुद का प्रयोग भी किया गया है—

श्री गुप्तकुलस्य महाराजाधिराज—श्रीचन्द्रगुप्तस्य—विक्रमांकस्य। अतः सिद्ध हो जाता है कि इस विजय से चन्द्रगुप्त विक्रमांक बने और विक्रमादित्य की प्रतिष्ठित उपाधि से विभूषित हुए।

रघुवंश का आधार

रघुवंश के आधार पर भी कालिदास का गुप्तकालीन होना ठहरता है। 'रघुवंश में गुप्तवंश' शीर्षक निबन्ध में (आजकल) इस पर कुछ विचार हुआ है। इतिहास के जानकारों ने भी रघु की दिग्विजय को समुद्रगुप्त की

विक्रिम माना है। श्री चन्द्रबली पाण्डे का कथन है कि कालिदास गुप्तवंश के कवि हैं और इसी को भाव अपने काव्य में दिखाते हैं[1]। अब इस सम्बन्ध में हम उनके प्रमाण देंगे।

(रघु ४।४९-५२) इन श्लोकों को इसी सर्ग के ६०वें श्लोक के साथ मिलाइए—

पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना ।
इन्द्रियाख्यानिव रिपूंस्तत्त्वज्ञानेन संयमी ॥

६० वें श्लोक में वे संयमी हैं, परन्तु ४९ से ५२ तक पाण्ड्य और अपरान्त भाग में उनका असंयम है। श्री चन्द्रबली पाण्डे का तर्क है कि असंयम का कारण इस पक्ष का समुद्रगुप्त विवाह होना था। समुद्रगुप्त की दिग्विजय भी रघु की दिग्विजय है और समुद्रगुप्त की ससुराल भी 'कदम्बकुल' में ही है। कदम्बकुल के शीतिविगुण राजा काकुस्थ वर्मा की प्रशंसा में कहा गया है कि उसने दुहिता द्वारा गुप्तकुल को सजाया किया[2]। अतः इतना अवश्य प्रकट है कि गुप्तकुल के किसी व्यक्ति के साथ कोई कदम्बकुल की कन्या ब्याही गई थी। चन्द्रबली जी इसको समुद्रगुप्त ही मानते हैं, इसका आधार वे एरण का अभिलेख मानते हैं।

दत्तास्य पौरुषपराक्रमदत्तशुल्का हस्त्यश्वरत्नधनधान्यसमृद्धियुक्ता ।
नित्यं गृहेषु मुदिता बहुपुत्रपौत्रसंक्रामणी कुलवधूः व्रतिनी निविष्टा ॥[3]

—फ्लीट इंसक्रिप्शंस पृ २११

इसके अनुसार दत्ता या दत्तदेवी को 'शुल्क' में पतिदेव को ओर से 'पौरुष पराक्रम' की ही प्राप्ति हुई थी। इनका पीता यम नहीं है कि अभी समुद्रगुप्त इस योग्य नहीं हुए थे कि उसको धनधान्य से परिपूर्ण कर देते।

इसी प्रकार पारसीक (रघु ४।६) भी इस विषय पर अच्छा प्रकाश डालता है। पारसीक कूटनीति के भक्त थे अतः उनपर अचानक आक्रमण हुआ और वे पराजित हुए। कालिदास ने इनकी दाढ़ी (रघु ४।६३) का मधुमक्खी के छत्ते के समान वर्णन किया है यह सासानी काल का सूचक है कुछ 'पह्लव' काल का नहीं। आज भी सासानी राजाओं की मधुमक्खी के छत्ते के समान दाढ़ी सिक्कों में देखी जा सकती है। पारसीक नाम भी इसी

---

१ कालिदास चन्द्रबली पाण्डे पृ १९

२ कालिदास चन्द्रबली पाण्डे पृ १८ विशेषकर श्लोक देखिए—
तालगुन्द का अभिलेख एपीग्राफिया कर्णाटिका भाग ७ शिकारपुर १७६

३ कालिदास चन्द्रबली पाण्डे पृ १९

काल में सार्थक होगा। चन्द्रबली जी का कहना है कि संवती विक्रमादित्य के समय में 'पारसीक' नहीं पह्लव प्रमुख में थे और पारस पर उनका ही शासन था। हूण भी इस समय थे। अतः रघुवंश के आधार पर यही गुप्त काल कवि का ठीक बैठता है।

अभिज्ञानशाकुन्तल का आधार

समुद्रव्यवहारी सार्थवाह का सन्दर्भ इस प्रकार मिलता है—

समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः। अनपत्यश्च किल तपस्वी। राजगामी तस्यार्थसंचय इत्येतदमात्येन लिखितम्। कष्टं खल्वनपत्यता। वेत्रवति। बहुधनत्वाद्बहुपत्नीकेन तत्रभवता भवितव्यम्। विचार्यताम् यदि काचिदापन्नसत्त्वा तस्य भार्यासु स्यात्।

प्रतिहारी उत्तर देता है—देव इदानीमेव साकेतकस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निर्वृत्त-पुंसवना जायाऽस्य श्रूयते।

राजा निर्णय देता है—ननु गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हति। गच्छ एवममात्यं ब्रूहि।

—अभि. अंक ६

रघुवंश के सर्ग १९ में भी 'गर्भ' का ही राज्याभिषेक होता है (रघु. १९।५५,५७) और यहाँ भी गर्भस्थ बालक ही अधिकारी होता है।

इतिहास इसकी साक्षी देता है कि पारसीक शापुर भी समुद्रगुप्त का समकालीन प्रतापी सम्राट् था, गर्भ में ही अभिषिक्त हुआ था और यहाँ भी प्रभावती गुप्ता का शासन अपने बाल तनयों के लिए हुआ था। अतएव इन आधारों पर फिर यह कहा जा सकता है कि वस्तुतः कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राजकवि थे और अपने समय के इतिहास से खूब परिचित थे[1]। समुद्रव्यवहारी धनमित्र की भार्या साकेत के श्रेष्ठी की कन्या है। श्री चन्द्रबली जी का कहना है कि साकेत का नाम भी साभिप्राय लिया गया है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि चन्द्रगुप्त के अन्तिम दिन साकेत में बीते थे। जो भी हो सार्थवाह धनमित्र राजधानी हस्तिनापुर का प्रतीत होता है, क्योंकि प्रतिहारी उसी समय सूचना देता है कि इसकी भार्या साकेत दुहिता अभी पुंसवन से निवृत्त हुई है। अतः इन बातों से जान पड़ता है कि इस समय मध्यदेश के व्यापारी भी समुद्रव्यवहार में प्रमुख बन गए थे। यह प्रमुखता गुप्त शासन की देन है, ऐसा कहा जा सकता है[2]।

---

१ कालिदास चन्द्रबली पाण्डे पृ. २१

२ कालिदास चन्द्रबली पाण्डे पृ. २१

मालविकाग्निमित्र का आधार

इस नाटक में महादेवी का नाम धारिणी मिलता है। महाराज चन्द्रगुप्त की दुहिता श्री प्रभावती गुप्ता के पूना ताम्रपत्र से पता चलता है कि उसका जन्म 'धारण' गोत्र में हुआ था। इधर नाटक में महादेवी धारिणी का एक सवर्ण भ्राता वीरसेन का प्रसंग आया है[1]। अतः धारिणी का एक ओर गुप्त वंश से सम्बन्ध था दूसरी ओर वह धर्मवीर कुल की थी।

चन्द्रबली जी का कथन है कि मालविकाग्निमित्र में अग्निमित्र का रूपक चन्द्रगुप्त को समाज की दृष्टि में ऊपर लाने के लिए ही किया गया है[2]। जैसे विशाखदेव ने मुद्राराक्षस में चन्द्रगुप्त मौर्य को खिलवाड़ बना दिया है वैसे ही अग्निमित्र को कालिदास ने। वृद्ध पिता पुष्यमित्र और प्रौढ़ पुत्र को राजसूय के स्वप्न दिखाकर इस अधेड़ शासक को प्रमदवन में मग्न दिखाना और धारिणी से फटकार दिलवाना कि यदि आप इतना चित्त राज्यकाज में दें तो अच्छा हो सब उसके अपकर्ष ही लिए है।

इसी प्रकार श्री पाण्डे जी विक्रमोर्वशीय में विक्रम को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और उर्वशी को ध्रुवदेवी मानते हैं। ज्येष्ठ माता को वे प्रभावती गुप्ता की माता कुबेरनागा मानते हैं। ज्येष्ठ रानी के लिए काशिराजपुत्री शब्द आया है। नागकुल के शासक अपने को काशिराज कहते थे और काशी विश्वविद्यालय के पर्याय नक्शा का इससे कुछ सम्बन्ध है। स्वर्गीय काशीप्रसाद जायसवाल ने भी नागकुल का यह सिद्धान्त स्वीकार किया था[3]।

अतः कथा भाषा साहित्य तीनों ही आधार पर कालिदास का समय गुप्त काल अर्थात् चौथी शताब्दी ईसवी ठहरता है।

---

१ अस्ति देव्या वर्णावरो भ्राता वीरसेनो नाम।—माल० अंक १
२ कालिदास चन्द्रबली पाण्डे पृ ३१
३ कालिदास चन्द्रबली पाण्डे पृ १५

परिशिष्ट [२]

कालिदास के समय में काम-भावना

कालिदास ने अपने युग के जीवन को विविध रूपों में देखा था। जहाँ उन्होंने कथा के व्याज से तत्कालीन राजाओं के त्याग और औदार्य का चित्रण किया है, वहाँ जीवन के विलासमय पक्ष का भरपूर वर्णन किया। युवावस्था में विषय-सुख की अनुभूति के गीत गाने वाला कवि जीवन के इस पहलू से निरपेक्ष नहीं रह सकता था। अतः कालिदास की कृतियों में वैवाहिक-जीवन का सरस रूप एक ओर मानव की शाश्वत प्रवृत्तियों की एकरसता का द्योतक है, दूसरी ओर उस युग के विषय सुख भोग के प्रकार पर भी प्रकाश डालते हैं। भारतीय-सभ्यता में काम पुरुषार्थ के रूप में गृहीत है और जीवन में धर्म और अर्थ के समकक्ष ही इसका महत्त्व है। कालिदास के समय की भारतीय-सभ्यता इस तथ्य का प्रत्यक्ष प्रमाण है। विदिशा के सम्भ्रान्त नागरिकों के उद्दाम यौवन की अभिव्यक्ति वहाँ के शिलागृहों से निकली रतिपरिमल गंध से भरपूर होती थी और उज्जयिनी जैसे सांस्कृतिक केन्द्रों की नगर वीथियाँ अभिसारिकाओं की नूपुर-ध्वनि से मुखरित रहा करती थीं। महाकाल के मन्दिर वेश्याओं के चामर नृत्य से अलंकृत रहते और नगर के बाहर के उपवन प्रणय के क्रीड़ा-स्थल थे।

कवि ने यक्षेश्वरों से लेकर शिव और पार्वती तक को काम के नैसर्गिक भाव से आक्रान्त दिखाया और इसके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म व्यावहारिक रूप का उचित मनोयोग के साथ चित्रण किया। उनके मत में बिना काम-क्रीड़ा के प्रणय की अभिव्यक्ति रसहीन है। उनके मत में काम स्नेह का अभिन्न मार्ग है ('स्नेहस्य ललितो मार्गः काम इत्यभिधीयते'[1])। अतः कवि ने वैवाहिक आधार पर प्रणय का और इसके परिपाक के लिए कामक्रीड़ा को अपनी कृतियों में स्थान दिया है। ऐसा लगता है कि कालिदास के युग में सुख का अर्थ विलासमय जीवन

---

१ यह श्लोक धनिक द्वारा दशरूपक ४।१२ में उद्धृत है और उसने इसे विक्रमोर्वशीय का माना है। पर विक्रमोर्वशीय के कई संस्करणों में यह श्लोक नहीं मिला।

था। उन्होंने सदा अपने काव्यों में अपनी प्रेयसी से संयुक्त को सुखी माना है। शरीरधारियों का सुख काम के अधीन है (त्वदधीनं खलु देहिनां सुखम् — कुमार० ४।१)।

मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥ —पूर्वमेघ ३
रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्,
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ॥—अभि ५।२

आदि श्लोकों में सुखी व्यक्ति से अभिप्राय उन व्यक्तियों से है जिनके पास उनकी प्रणयिनी हो। प्रियाहीन जीवन को—

धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता विरतं गेयमृतुर्निरुत्सवः ।
गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे ॥ —रघु ८।६६

के रूप में नीरस व्यक्त किया है। काम का जीवन में इतना व्यापक स्थान होने के कारण और प्रेम का काम से सम्बन्ध होने के कारण कालिदास के प्रेम निरूपण में काम गति देता हुआ जान पड़ता है। फलतः प्रेम को ऊँची-से ऊँची स्थिति दाम्पत्य के घेरे में आकर विश्रान्ति पाती है। कवि ने काम को क्रियात्मक का व्यावहारिक स्नेह की अनिवार्य परिणति माना है (काष्ठागतस्नेहरसानुविद्धं द्वन्द्वानि भावं क्रियया विवव्रुः —कुमार ३।३५)। स्नेह की चरमावस्था परिस्थिति में कालिदास ने प्रतीकों के व्याज से निम्नलिखित व्यापार व्यक्त किए हैं जो तत्कालीन भारतीय जीवन में व्यापक रूप से देखे जाते थे—

(१) प्रेयसी के पिए हुए मधु को—शेष मधु को उसी पात्र में पीना[1]।

(२) प्रेयसी के विशेष अंगों में कण्डूति का होना और प्रिय द्वारा प्रणयी के विशेष अंगों का स्पर्श[2]।

(३) गण्डूष की प्रक्रिया—प्रणयी का अपने मुख में पराग भरकर प्रिय के मुख में डालना[3]।

(४) प्रिय द्वारा प्रणयी को स्वादयुक्त पदार्थ का दान[4]।

---

१ मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः ।
शृंगेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥ —कुमार ३।३६

२. देखिए, पादटिप्पणी नं० १

३ ददौ रसात्पंकजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः ।
अर्धोपभुक्तेन बिसेन जायां सम्भावयामास रथाङ्गनामा ॥ —कुमार ३।३७

४ देखिए, पादटिप्पणी नं० ३

(८) प्रेयसी द्वारा गीत गाना और गीतों के बीच-बीच में प्रेयसी का प्रिय द्वारा चुम्बन किया जाना[1]।

(९) आलिङ्गन[2]।

जैसा कि देखा जाता है कालिदास ने प्रेम और काम दोनों की अभिव्यक्ति यौवन के आरम्भ में कराई है[3]। उनके मत में नारी का यौवन उसकी अंगयष्टि का स्वाभाविक मंडन है, मधु न होते हुए भी मदिरा की तरह मदमत्त करने वाला है, जो कामदेव का बिना फूलों का बाण है[4]। इसी प्रकार पुरुष का यौवन वनिताओं के नेत्रों से पिए जाने योग्य मधु है, मनसिज तरु का फूल है, रागबन्ध का प्रवाल है, सर्वांग को सुशोभित कर देने वाला अकृत्रिम आभरण है और विलास का प्रथम चरण है[5]। किसी अत्यन्त मनोहर सुन्दरी के श्रवण से कामतरु अंकुरित होता है। उसको देखते ही उसमें अनुराग के पल्लव फूट पड़ते हैं, उसके हाथ के स्पर्श से वह मुकुलित हो उठता है प्रेमियों का सर्वरमणा मिलन उसका पुष्प है और आस्वाद उसका रस है[6]। नारी के अन्दर उद्बुद्ध होती हुई कामभावना को कवि ने अनेक प्रतीकों द्वारा व्यक्त किया है। नारी के प्रथम प्रणय-वचन को नदी के प्रतीक से आप इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

> वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः
> संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः ।
> निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य
> स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥ —पूर्वमेघ १

---

१ गीतान्तरेषु श्रमवारिलेशैः किंचित्समुच्छ्वासितपत्रलेखम् ।
पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं किंपुरुषश्चुचुम्ब ॥—कुमार ३।३८

२ पर्याप्तपुष्पस्तबकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालोष्ठमनोहराभ्यः ।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि ॥ —कुमार ३।३९

३ कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम् । —अभि १।२

४ असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साथ वयः प्रपेदे । —कुमार १।३१

५ अथ मधु वनितानां नेत्रनिर्वेशनीयं मनसिजतरुपुष्पं रागबन्धप्रवालम् ।
अकृतकविधि सर्वाङ्गीणमाकल्पजातं विलसितपदमाद्यं यौवनं स प्रपेदे ॥
—रघु १८।५२

६ तामाभिख्य श्रुतिपथगतामाशया बद्धमूलः
संप्राप्तायाः नयनविषयं रूढरागप्रवालः ।
हस्तस्पर्शैर्मुकुलित इव व्यक्तरोमोद्गमत्वा
त्कुर्यात्कामं मनसिजतरुमां रसज्ञं फलस्य ॥—माल ४।१

इन दिनों स्त्रियाँ जो काँची पहनती थीं उनमें किंकिणी लगी रहती थी। उसे बजा कर किसी को आकर्षित करने का यह सरल तरीका था। स्त्रियाँ फूल की विशेषकर मौलश्री के फूल की भी काँची पहनती थीं। वह पर्याप्त नीचे लटकती रहती थी और उसे बार-बार ऊपर की ओर सरकाते हुए भी प्रेमी जनों को आकृष्ट किया जाता था। पार्वती ने शिव को इसी प्रकार आकृष्ट किया था। कभी

> स्रस्तां नितम्बादवलम्बमाना पुनः पुनः केसरदामकाञ्चीम्।
> न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण मौर्वीं द्वितीयामिव कार्मुकस्य॥
> —कुमार ३।५५

कभी कुमारियाँ नृत्य और गीत के द्वारा भी अपने प्रेम को व्यक्त करती थीं। मालविका की अभिव्यक्ति इसी प्रकार की थी—

> दुर्लभः प्रियो मे तस्मिन्भव हृदय निराशमहो
> अपाङ्गो मे परिस्फुरति किमपि वामः।
> एष स चिरदृष्टः कथं पुनर्द्रष्टव्यो
> नाथ मां पराधीनां त्वयि परिगणय सतृष्णाम्॥—माल २।४

प्रिय के सम्मुख होने पर आँख फेर लेना, किसी बहाने से हँसना, दो-चार पग चल कर किसी बहाने रुक जाना, किसी झाड़ी में न उलझी साड़ी को भी उलझे हुए के रूप में देर तक सुलझाते रहना आदि स्त्री के मदनाभिभूत होने के संकेत माने जाते थे। दुष्यन्त ने इन्हीं लक्षणों से शकुन्तला के मनोगत भाव समझे थे[1]।

संकेत-स्थल

प्रेमियों के मिलने के स्थान संकेत-स्थल कहलाते थे। यह देशभेद तथा ऋतुभेद के अनुसार बदलते रहते थे। कालिदास ने मुख्य रूप से निम्नलिखित स्थानों को प्रणयकेलि-भूमि माना है।

पर्वत-प्रदेश—कवि के युग में पर्वतीय प्रदेशों में जाकर आनन्द मनाने की प्रथा-सी थी फिर यक्षों पर रमणेच्छा के लिए तो वे प्रदेश उपयुक्त थे। विशेषकर दरीगृह उनके क्रीड़ा-स्थान थे। दिन में यदि दरीगृह के द्वार पर बादल अटक

---

१ अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितं हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम्।
विनयवारितवृत्तिरतस्तया न विवृतो मदनो न च संवृतः॥—अभि २।११
—दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्॥
—अभि २।१२

जाते थे तो वे तिरस्करिणी (परदे) का काम करते थे। इस तरह विवस्त्र होती किन्नरियों की लज्जा बहुत-कुछ बची रह जाती थी[1]। हिमालय के दरी-गृहों में वनिताओं के साथ विश्राम करने वाले वनेचरों के लिए हिमालय की चमकती ओषधियाँ रात्रि में बिना तेल वाले सुरत-दीप का काम करती थीं[2]। विदिशा के नागरिक यहाँ की वेश्याओं के साथ उन शिलागृहों में इतनी काम-क्रीड़ा करते थे कि रति-सम्भव की गन्ध से वे भरे जाते थे और बहुत बाद तक उनमें से रति-परिमल चारों ओर विकीर्ण होता रहता था[3]। हिमालय के ओषधि-प्रस्थ नगर के समीप गन्धमादन गिरि था। यक्षों और विद्याधरों का यह विहार स्थल था। सन्ध्या समय में और चाँदनी रात में उसकी शोभा अत्यन्त लुभावनी हो जाती थी जो प्रणयक्रीड़ा के लिए अति उपयुक्त थी। विवाह के बाद शिव पार्वती को लेकर इस पर्वत पर भी विहार करने गए थे। विक्रमोर्वशीय में चित्रलेखा यह सूचना देती है कि उर्वशी राजर्षि को साथ लेकर गन्धमादन पर विहार करने गई है। यह सुन कर सहजन्या कहती है— सम्भोग वास्तव में वह है, जो ऐसे प्रदेशों में किया जाय'[4]।

क्रीडाशैल—नाम से ही स्पष्ट है कि यह विहारस्थल था। यह कृत्रिम होता था। कवि ने इसका एक रेखाचित्र मेघदूत में दिया है। यक्ष मेघ से कह रहा है, 'उस बावड़ी के किनारे एक क्रीड़ा-पर्वत है। उसकी चोटी सुन्दर इन्द्रनील मणियों के जड़ाव से बनी है। उसके चारों ओर सुनहले कदली वृक्षों का कटहरा देखने योग्य है, उस क्रीड़ा-शैल में कुरबक की बाड़ से घिरा हुआ माधवी-मण्डप है, जिसके पास एक ओर चञ्चल पत्तों और लाल फूलों वाला अशोक है और दूसरी ओर सुन्दर मौलसिरी है। इन दो वृक्षों के बीच सोने की बनी हुई बसेरा लेने की छतरी है, जिसके सिरे पर बिल्लौर का फलक लगा है और मूल

---

१ यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छया किम्पुरुषाङ्गनानाम्।
दरीगृहद्वारविलम्बिबिम्बास्तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति॥ —कुमार १।१४

२ वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः॥ —कुमार १।१०

३ नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतो-
स्त्वत्सम्पर्कात्पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः।
यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि॥ —पूर्वमेघ २७

४ स नाम संभोगो यस्तादृशेषु प्रदेशेषु। —विक्रम अंक ४ पृ २११

में लगे बाँस के समान हरे चोखे रंग की मरकत मणियाँ जड़ी हैं। मेरी प्रियतमा हाथों में बजते कंगन पहने हुए सुन्दर ताल दे-देकर जिसे नचाती है वह तुम्हारा प्रियसखा नीले कण्ठ वाला मोर सन्ध्या के समय उस छतरी पर बैठता है[1]।

अंगठी-कुञ्ज—चंचली व्यक्तियों के प्रणय व्यापार प्रायः कुञ्जों में होते थे[2]।

उपवन, उद्यान और क्रीड़ा-गृह—उपवनों में नागरिकों के घूमने टहलने तथा विहार करने जाने की परम्परा बहुत पुरानी है। वाल्मीकि रामायण में हेमभूषिता कुमारियों का नगर के बाहर के उद्यान में जाकर क्रीड़ा करने का उल्लेख है (अयोध्या काण्ड ६७।१७)। शालभञ्जिका उद्दालक पुष्पभञ्जिका चारकपुष्प प्रचायिका आदि क्रीड़ाएँ उपवनों और उद्यानों में होती थीं। ये स्त्रियों के खेल थे। क्रमशः ऐसे उद्यानों की ओर रसिक लोग भी आँख लगाए रहते थे। दुष्यन्त जब शकुन्तला के प्रति अपने आकर्षण के विषय में विदूषक से कहता है और शकुन्तला के कामविकार को भी व्यक्त करता है तब विदूषक कह देता है कि तुमने तो तपोवन को उपवन बना डाला (कृतं त्वयोपवनं तपोवनमिति पश्यामि)[3]। स्त्रियों और वारवनिताओं के साथ कामीजन नगर के बाहर उपवनों में विहार करते थे। अलका में वैभ्राज नाम का उपवन था। वह ऐसे कृत्यों के लिए प्रसिद्ध था[4]। चैत्ररथ उपवन के समकक्ष वृन्दावन में यौवनश्री का रस लेना उत्तम समझा जाता था[5]। कोयल की कूक से मुखरित और वसन्त के वैभव से सुशोभित विदिशा के उद्यान में विहार करना मानो स्वयं कामदेव बनना था[6]।

क्रीड़ागृह प्रायः प्रणय-व्यापार के लिए ही बनाए गए होते थे। अन्तःपुर की कामिनियों और राजाओं के संकेतस्थल प्रायः क्रीड़ागृह ही होते थे। उनमें मृदुपल्लव अथवा पुष्पों की शय्या बिछी रहती थी और दूतियाँ इन स्थानों से खूब परिचित रहती थीं[7]। कभी-कभी आश्रमों के लता-कुरमुट भी प्रेमक्रीड़ा

---

१ वासुदेवशरण अग्रवालकृत हिन्दी अनुवाद उत्तरमेघ १८ १९

२ "स्थित्वा तस्मिन्वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्तं" —पूर्वमेघ २

३ अभि० अंक २ प० १८

४ वैभ्राजाख्यं विबुधवनितावारमुख्यासहाया
बद्धालापा बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति। —उत्तरमेघ १

५ वृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुन्दरि यौवनश्रीः। —रघु ६।५

६ परभृतकलव्याहारेषु त्वमात्तरतिर्मधु नयसि विदिशातीरोद्यानेष्वनङ्ग इवाङ्गवान्।
—माल० ५।१

७ मधुस्तुषुपनयनाल्लतागृहागतेन दूतिकाभावरत्न। —रघु १९।११

के केन्द्र हो जाते थे। दुष्यन्त और शकुन्तला का संसर्ग लताकुञ्ज में ही हुआ था। गौतमी के डर से अलग होती हुई शकुन्तला लतावलय को सम्बोधित करती हुई परन्तु वस्तुतः दुष्यन्त को पुनः योग के लिए आमन्त्रित करती हुई कहती है, 'लतावलय संतापहारक आमन्त्रये त्वां भूयोऽपि परिभोगाय'[1]।

नदीतट—नदीतट प्रेमियों के मिलन-स्थान के रूप में सदा से प्रसिद्ध हैं। नदी के किनारे शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध सभी विषयों का एक साथ समन्वय देखा जाता है। शीतल पवन श्रान्ति को दूर करता है और एकान्त रमणीयता कम उत्तेजक नहीं होती। कवि ने सबका एकत्र समावेश व्यञ्जित किया है—

दीर्घीकुर्वन्पटु मदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः॥ —पूर्वमेघ ३१

नदीतट अभिसार के उपक्रम थे। नदीतट के वानीरगृह रति-स्थल के लिए परम उपयुक्त माने जाते थे। यों भी ये विश्राम के सुन्दर स्थल थे। बिना बेतसगृहों के नदीतट सूने लगते थे और प्रेमियों से रहित बेतसगृह और खटकते थे। गोदावरी के तीर पर स्थित वानीर गृहों को लक्ष्य करते हुए राम सीता से एकान्त में व्यतीत किए हुए सुखमय दिनों की स्मृति कराते हैं[3]।

दीर्घिकातट के मोहनगृह—कमलों से भरी हुई बड़ी-बड़ी वापियों के तट पर मोहनगृह (सुरतगृह) बने होते थे। ये प्रायः गुप्त रखे जाते थे। जलकेलि के अवसर पर विलासीजन विलासिनियों के साथ इन गृहों का उपयोग किया करते थे[4]।

हर्म्य—नागरिक जीवन में यौवन की परम अनुभूति हर्म्य में अभिव्यक्ति लक्षित होती थी। कालिदास ने प्रणय और काम-क्रीड़ा के सन्दर्भ से हर्म्यों के जो चित्र खींचे हैं वे एक ओर तत्कालीन भारत के विलास वैभव के द्योतक हैं और दूसरी ओर भारतीय-संस्कृति की कला-प्रियता के व्यञ्जक हैं। ऐश्वर्य और

---

१ अभि० अंक ३ पृ० ५९

२ उपान्तवानीरगृहाणि दृष्ट्वा शून्यानि दूये सरयूजलानि। —रघु १६।२१

३ वनान्तमार्गं मृगयानिवृत्तस्तरंगवातेन विनीतखेदः।
रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः॥ —रघु १३।३५

४ धूम्योपगूढ़ा —रघु १६।९

भवन का शृंगार और सुरुचि का यह संयोग पुरुष और नारी के भावप्रवण-मिलन की तरह रमणीय और स्पृहणीय है[1]।

रमणि-सुख का उपभोग जिन हर्म्यों में किया जाता था उनमें चित्र बने रहते थे[2]। वे भक्ति शोभा (आकृति रचना विधान) से युक्त रहते थे[3]। उनके गवाक्षों से स्त्रियों के केश-संस्कार वाले धूम उड़ा करते थे उनमें फूलों की सुगन्धि फैली रहती थी[4]। बीच-बीच में कान्तिमान् फूलों के गुच्छों से वे अलंकृत रहते थे। उनमें मदन का सांकेतिक उत्तेजक संगीत होता रहता था[5]। मृदंग-घोष भी होता रहता था[6]। सोने के कलश रखे रहते थे[7]। मुंडेर पर पालतू मोर नाचते थे। वलभियों पर कबूतर विश्राम किया करते थे[8]। ऐसे घरों में उत्सुक रमणियाँ अपने प्रेमी के हाथ-में-हाथ डाले (कान्तसंलग्नमध्यमा—ऋतु १।२१) प्रवेश करती थीं। वहाँ पृथ्वी पर शय्या सजाई हुई रहती थी[9]। उस पर हंस की तरह धवल चादर बिछी रहती थी[11]। ग्रीष्म की रात्रि में

---

१ देखिए, पूर्व उल्लेख अध्याय '[illegible]'

२ तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषोः सद्मसु चित्रवत्सु।
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु संचिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन्॥
— रघु १४।२५

३ कनककलशयुक्तं भक्तिशोभासनाथं क्षितिविरचितशय्यं कौतुकागारमागात्।
—कुमार ७।९४

४ जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपै
र्बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः।
हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखेदं नयेथा
लक्ष्मीं पश्यँल्ललितवनितापादरागाङ्कितेषु॥ —पूर्वमेघ ३१

५ सुवासितं हर्म्यतलं मनोहरं प्रियामुखोच्छ्वासविकम्पितं मधु।
सुतन्त्रिगीतं मदनस्य दीपनं शुचौ निशीथेऽनुभवन्ति कामिनः॥—ऋतु १।३

६ तस्यावमम्लाहितसौधजाल प्रसक्तसंगीतमृदंगघोष। —रघु १९।५

७ देखिए, पादटिप्पणी नं ३

८ देखिए, पादटिप्पणी नं ४

९ तां कस्यांचिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायाम्। —पूर्वमेघ ४२

१ देखिए, पादटिप्पणी नं ३

११ तत्र हंसधवलोत्तरच्छदं जाह्नवीपुलिनचारुदर्शनम्।
अध्यशेत शयनं प्रियासख ———— —कुमार ८।८२

यह सब छत पर होता था जो सुवासित होती थी[1]। वहाँ व्यक्ति सोते पाए जाते थे[2]। कुछ विशिष्ट रसिक कार्तिक की रात्रियों में भी छत के ऊपर वितान तान कर छत पर ही ललितांगनाओं के साथ शरद् की चाँदनी का आनन्द लेते थे[3]। अति समृद्ध व्यक्तियों के महलों में रत्नदीप जला करते थे जिन्हें बुझाने के लिए रात्रि में लज्जा से अवनत स्त्रियाँ उन पर मुट्ठी में भर-भर कर कुंकुम फेंका करती थीं पर अपने प्रयत्न में असफल रहती थीं[4]। उन महलों में चन्द्रकान्त मणि की झालरें लटकती रहती थीं जिनपर चन्द्रमा की किरणों के पड़ने से जलबिन्दुओं की फुहार चूने लगती थी जिससे कामिनियों की रतिश्रान्ति मिट जाती थी[5]।

प्रथम मिलन

अपने देश में कभी ऐसा भी समय था जब नव-परिणीता का अपने पति से प्रथम मिलन एक समस्या हो जाती थी। स्वाभाविक लज्जा स्त्रियों में आज तक ज्यों-की-त्यों है। स्वयं कालिदास ने भी इस लज्जा का पर्याप्त उल्लेख किया है। नव-परिणीता लज्जा में इतनी डूबी रहती थी कि अपने प्रिय की ओर आरम्भ में आँख उठाकर भी नहीं देखती थी। प्रिय द्वारा देखे जाने पर अपनी आँखें मींच लेती थी। सखियाँ उसे किसी-किसी प्रकार शयनकक्ष की ओर ले जाती थीं। उसकी लज्जा को दूर करने के लिए किसी-न-किसी बहाने उसे हँसाने का प्रयास

---

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ५

२ व्रजतु तव निदाघः कामिनीभिः समेतो निशि सुललितगीते हर्म्यपृष्ठे सुखेन।
—ऋतु० १।२८

३ कार्तिकीषु सवितानहर्म्यभाग्यामिनीषु ललिताङ्गनासखः।
अन्वभुङ्क्त सुरतश्रमापहां मेघमुक्तविशदां स चन्द्रिकाम्॥—रघु० १९।३९

४ नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु।
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान्
ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः॥ —उत्तरमेघ ७

५ यत्र स्त्रीणां प्रियतमभुजालिङ्गनोच्छ्वासिताङ्गा-
मङ्गग्लानिं सुरतजनितां तन्तुजालावलम्बाः।
त्वत्संरोधापगमविशदैश्चन्द्रपादैर्निशीथे
व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यन्दिनश्चन्द्रकान्ताः॥ —उत्तरमेघ ९

किया जाता था[1]। शयनगृह में पहुँचा दिए जाने पर भी नवोढ़ा प्रिय के प्रश्नों का उत्तर नहीं देती थी। उत्तर में प्रायः सिर हिला दिया करती थी। पति द्वारा आँचल पकड़ने पर वहाँ से हटने जैसी-सी चेष्टा करती और सोते समय भी दूसरी ओर मुँह फेर कर सोती थी[2]। जब पति अंशुक की ओर हाथ बढ़ाते तो वे काँपती हुई उनके चंचल हाथों को रोकने लगती थीं[3]। परन्तु नववधू का इनकार मिश्रित असहयोग भी पति को कम आनन्द देने वाला न होता था[4]। वे बाधाओं के साथ अधूरे रस को भी जी भरकर पीते थे।

धीरे-धीरे नवोढ़ा की झिझक मिटने लगती थी और जैसे-जैसे उसे भी रस मिलने लगता था वह रति की दुःखशीलता अनुभव नहीं करती थी (ज्ञात मन्मथ-रसा शनैः-शनैः सा मुमोच रतिदुःखशीलताम्)[5]।

उस समय के प्रेमीजनों का अपने प्रणय की अभिव्यक्ति का एक सुसंस्कृत रूप था—अपनी प्रेयसी को फूलों से सजाना[6]। अलकों में फूल गूँथकर अथवा कानों में कुसुमों के आभूषण पहनाकर वे सौन्दर्य और आनन्द दोनों की अनुभूति करते थे[7]।

मधुपान के बिना आनन्द अधूरा रह जाता था। रति-प्रसंग में कवि ने इसके विविध प्रभावों का खुलकर वर्णन किया है। कालिदास की सम्पूर्ण कृति में मधु का प्रसंग अत्यधिक है। उन्होंने इसको 'अनंगदीपनम्' (कुमार ८।७७) 'मदनीयमुत्तमम्' 'कामरतिप्रबोधकम्' (ऋतु ५।१) स्मरसखम् (रघु

---

१ नवपरिणयलज्जाभूषणां तत्र गौरीं वदनमपहरन्तीं तत्कृताक्षेपमीशः।
अपि शयनसखीभ्यो दत्तवाचं कथंचित् प्रमथमुखविकारैर्हासयामास गूढम्॥
—कुमार ७।९५

२. व्याहृता प्रतिवचो न संदधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः॥ —कुमार ८।२

३ नाभिदेशनिहितः सकम्पया शंकरस्य रुरुधे तया करः।
तद्दुकूलमथ चाभवत्स्वयं दूरमुच्छ्वसितनीविबन्धनम्॥ —कुमार ८।४

४ देखिए, पादटिप्पणी नं २

५ कुमार ८।१३

६ तां पुलोमतनयालकोचितैः पारिजातकुसुमैः प्रसाधयन्। —कुमार ८।२७
—रचितं रतिपण्डित त्वया स्वयमंगेषु ममेदमार्तवम्।
ध्रियते कुसुमप्रसाधनं तव तच्चारुवपुर्न दृश्यते॥ —कुमार ४।१८

७ देखिए, पादटिप्पणी नं ६

६।३६) आदि माना है। वे इसको 'मदनमण्डनम्'[1] भी मानते हैं। मधु स्त्रियों के नयनों को विभ्रम की शिक्षा देने में दक्ष है[2]। मद के कारण उनकी आँखें घूमने लगती थीं। वाणी की गति स्खलित होने लगती थी। मधुप्रभावजन्य स्वेद सौन्दर्य से विभूषित युवतियों के मुख को कामीजन नेत्रों से देर तक पिया करते थे[3]। मधु-जन्य विक्रिया केवल रसिकों को ही सुखद नहीं होती थी सज्जनों को भी मनोहर लगती थी (सतां मनोहराम्)[4]। कालिदास ने मधुपान से बढ़ी हुई रमणीयता को आम्रता का सहकारता में परिणत हो जाना माना है[5]। स्त्रियाँ अपने मुख को सुवासित करने के लिए भी मधुपान करती थीं[6]। अपने एक श्लोक में उन्होंने मधु की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कर दिया है—

स्खलितविभ्रममासवविह्वलं सुरभिगन्ध-पराजितकेसरम्।
पतिषु निर्विविशुर्मधुमंगनाः स्मरसखं रसवंचनवर्जितम्॥ —रघु ९।३६

पुरुष भी वार्धक्य में वैथिल्य आ जाने पर मधु पीते थे। यह विशेष प्रकार से तैयार किया गया रहता था। उसके पीते ही यौवन पुनः लौट आता था—

यत्स कृष्णसहकारमासवं रक्तपाटलसमागमं पपौ।
तेन तस्य मधुनिर्गमात्कृशश्चित्तयोनिरभवत्पुनर्नवः॥[7] —रघु १९।४६

निम्नलिखित श्लोक में कालिदास ने पत्तों के व्याज से मधुपान के सम्पूर्ण वातावरण स्थान समय आदि का संकेत कर दिया है—

---

१ शृणोमि बहुशो मदः किल स्त्रीजनस्य विशेषमण्डनम् इति।
—माल अंक ३ पृ ११

२ मधु नयनयोर्विभ्रमादेशदक्षम्। —उत्तरमेघ १२

३ घूर्णमाननयनं स्खलत्कथं स्वेदबिन्दुमदकारणस्मितम्।
आननेन न तु तावदीश्वरश्चक्षुषा चिरमुमामुखं पपौ॥ —कुमार ८।८

४ ५. पार्वती तदुपयोगसंभवां विक्रियामपि सतां मनोहराम्।
अप्रतर्क्यविधियोगनिर्मितामाम्रतेव सहकारतां ययौ॥ —कुमार ८।७८

६ पुष्पासवामोदितवक्त्रपंकजा। —ऋतु ५।५

७ इसमें 'मधुनिर्गमात्' से केवल वसन्त के चले जाने का भाव नहीं है बीज के स्वच्छन्द होने की भी ध्वनि है। रति शोधक मधु के बनाने की विधि मल्लिनाथ ने इस प्रकार व्यक्त की है—ताम्बूलीपल्लवामृतामलकुसुमोन्मत्ता-स्निग्धाम्राङ्कुरपाटलिकुसुम इत्थं येऽम्बुपुष्पसंमूर्छितं पुष्पहुताशनं स्नातेन स्मरदीपनं रतिकरं पुंसामु वीर्यं मधु। —उत्तरमेघ ३ की टीका में

> यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि
> ज्योतिश्छायाकुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीसहायाः ।
> आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं
> त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु ॥ — उत्तरमेघ ५

रति-प्रसंग में ग्रीष्म ऋतु में प्रायः पुरानी शराब (पुराणसीधुम्) काम में लाते थे जो सहकार की मंजरी के टुकड़े और ताजे पाटल के फूल से सुवासित होती थी[1] । बाढ़ों में पुष्पासव का पान किया करते थे[2] ।

समृद्ध व्यक्ति रक्तवर्ण के सूर्यकान्त मणि के प्याले में मधु पीते थे[3]। मधुपान करते समय प्रेमसी अपने प्रिय से इतनी सट कर बैठती थी कि उसके श्वास से हाथ में लिए मधुपूर्ण प्याले में लहर उठ जाती थी[4] और उसको आँखें उसमें झिलमिला उठती थीं[5] । उन दिनों गंडूष की प्रथा प्रचलित थी । प्रिय अपने मुख में शराब भरकर प्रेमसी के मुख में उड़ेल देता था और प्रेमसी भी अपने मुख की शराब प्रिय के मुख में डाल देती थी । स्त्रियाँ बकुल वास से ऐसा मधु चाहती थीं और पुरुष भी बकुल दोहद की तरह स्त्रीमुख-मधु के लिए लालायित रहते ।

रतिक्रीड़ा—नई ब्याही बहू डरते-डरते पति के समीप जाती थी[7] और नई ब्याही बहू के साथ संभोग भी धीरे-धीरे किया जाता था जिससे बहू घबरा न जाय । कालिदास ने इस सूत्र बात से लेकर काम के काम-शास्त्र-

---

१ पूर्व उल्लेख देखिए अध्याय 'खानपान

२ पूर्व उल्लेख देखिए अध्याय 'खानपान

३ लोहिताकमणिभाजनार्पितं कल्पवृक्षमधु बिभ्रति स्वयम् ।
त्वामियं स्थितिमतीमुपस्थिता गन्धमादनवनाधिदेवता ॥ —कुमार ८।७५

४ सुगन्धिनिःश्वासविकम्पितोत्पलं मनोहरं कामरतिप्रबोधकम् । —ऋतु ५।१

५. हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां
बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली याः सिषेवे । —पूर्वमेघ ५३

६ सातिरेकमदकारणं रहस्तेन दत्तमभिलेषुरङ्गनाः ।
ताभिरप्युपहृतं मुखासवं सोऽपिबद् बकुलतुल्यदोहदः ॥ —रघु १९।१२
—प्रमदामुखार्पितं मधु पीत्वा —रघु ८।६८

७ साध्वसादुपगतप्रकम्पया कन्ययेव नवदीक्षया वरः । कुमार ८।७१

८. स्वयं कुसुमे महाभुजः सहधीरेवमियं प्रजेश्वरि ।
अचिरोपनता स मेदिनीं नवपाणिग्रहणां वधूमिव ॥—रघु ८।७

प्रसिद्ध अनेक अनुभावों, आसनों और प्रकारों तक का अपनी कृति में संकेत किया है जो कहीं स्पष्ट, कहीं प्रतीक के रूप में और कहीं सांकेतिक रूप में है। कालिदास ने पर्यंकित रति का पूरा चित्र दिया है[1]। विपरीत रति का संकेत किया है[2]। विभ्रमरति का उल्लेख किया है[3]। 'कंठसूत्र' आसन का भी वे नाम ही नहीं लेते स्पष्ट अभिव्यक्ति भी कर देते हैं[4]। कहीं-कहीं विशेष आसनों की व्यंजना बड़ी मार्मिक है जो तत्कालीन संस्कृति के रम्य स्वरूप का द्योतक है, जैसे उनका निम्नलिखित श्लोक—

पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम्।
सा रंजयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान॥ —कुमार ७।१९

कवि ने अपने समय में प्रचलित प्रकार (मैथुन) को भी किसी-न-किसी व्याज से अपनी कृतियों में निस्संकोच स्थान दिया है। एक प्रसिद्ध प्रकार यह है—

तस्याः किंचित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
हृत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम्।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि
ज्ञातास्वादो विवृतजघना को विहातुं समर्थः॥ —पूर्वमेघ ४५

नववधू के साथ तो संयम-रति थी, पर वैसे निर्दय-रति को ही अधिक प्रश्रय दिया जाता था। कंचुक गुण छिन्न-भिन्न हो जाते थे, नखक्षत इधर-उधर हो जाते थे, केश बिखर जाते थे[5]। अधर का पान, दंशन स्वाभाविक बात थी[6]। तरुणियों के केश आकुल-व्याकुल हो जाते थे[7] और उनमें गुंथी पुष्पमाला गिर

---

१ चुम्बनेष्वधरदानवर्जितं सन्नहस्तमदयोपगूहनम्।
क्लिष्टमन्मथमपि प्रियं प्रभोर्दुर्लभप्रतिकृतं वधूरतम्॥ —कुमार ८।८

२ चुम्बनादलकचूर्णदूषितं शंकरोऽपि नयनं ललाटजम्।
उच्छ्वसत्कमलगन्धये ददौ पार्वतीवदनगन्धवाहिने॥ —कुमार ८।१९

३ चूर्णबभ्रु लुलितस्रगाकुलं छिन्नमेखलमलक्तकाङ्कितम्।
उत्थितस्य शयनं विलासिनस्तस्य विभ्रमरतान्यपावृणोत्॥ —रघु १९।२५

४ तस्य निर्दयरतिश्रमालसाः कंठसूत्रमपदिश्य योषितः।
अध्यशेरत बृहद्भुजान्तरं पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम्॥ —रघु १९।३२

५ शिष्टकेशमवलुप्तचन्दनं व्यत्ययार्पितनखं समत्सरम्।
तस्य तच्छिदुरमेखलागुणं पार्वतीरतमभून्न तृप्तये॥ —कुमार ८।८३

६ स प्रजागरकषायलोचनं गाढदन्तपरिताडिताधरम्।
आकुलालकमरंस्त रागवान्प्रेक्ष्य भिन्नतिलकं प्रियामुखम्॥ —कुमार ८।८८

७ देखिए, पादटिप्पणी नं ३

जाती थी[1]। रंग-बिरंगे फूलों से बना केशविन्यास उनके केशों के साथ पीठ पर बिखर जाता था और उसको देखकर मयूरपंख की रंगीली शोभा मात हो जाती थी[2]।

कामक्रीड़ा के अन्य व्यापार जैसे चुम्बन[3] वक्षसंवाहन[4] नखक्षत[5] दंतक्षत[6] सब का ही उल्लेख कवि के शब्दों में है। दन्तक्षत से पत्नी अथवा प्रेमियों के ओठ इतने दुखते थे कि बंसी बजाना भी कठिन हो जाता था[7]। नखक्षत से स्तनप्रदेश जघन[8] और नितम्ब[9] भर जाते थे।

परन्तु रति का सबसे अधर[1] माना जाता था। कालिदास अधरपान के

---

१ केशपाशे नवकुसुममालां कुंचिताग्रं वहन्ती। —ऋतु ६।१२

२ अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं न स रुचिरकलापं बाणलक्ष्यीचकार।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः॥
—रघु ९।६७

३ किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवातान्संचारयामि नलिनीदलतालवृन्तैः।
अङ्के निधाय करभोरु यथासुखं ते संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ॥
—अभि ३।११

४ देखिए, पादटिप्पणी नं १

५ ६ नखपदचितभागान्वीक्षमाणाः स्तनान्तानधरकिसलयाग्रं दन्तभिन्नं स्पृशन्त्यः।
—ऋतु ५।१२

—दन्तच्छदैः सव्रणदन्तचिह्नैः स्तनैश्च पाण्यग्रकृताभिलेखैः।
संसूच्यते निर्दयमङ्गनानां रतोपभोगो नवयौवनानाम्॥ —ऋतु ४।१३
—वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नखपदाङ्कितोरवः। —रघु १९।३५

७ देखिए, पादटिप्पणी नं ५ ६ —रघु १९।३५

८ स्तन-प्रदेश में नखक्षत के लिए देखिए, पादटिप्पणी नं ५ ६ में ऋतु ५।१२ ऋतु ४।१३

९ जघन प्रदेश के लिए देखिए, पादटिप्पणी नं ५ ६
—ऊरुमूलनखमार्गराजिभिस्तत्क्षणं हृतविलोचनो हरः।
वाससः प्रशिथिलस्य संयमं कुर्वती प्रियतमामवारयत्॥ —कुमार ८।८७

१० नितम्ब के लिए—प्रियानितम्बोचितसन्निवेशैर्विपाटयामास युवा नखाग्रैः।
—रघु ६।१७

११ करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं।
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती॥ —अभि १।२२

पीते जाने में विभोर से पान करते हैं[1]। कवि ने अधर-पान का अत्यन्त सुसंस्कृत प्रकार भी व्यक्त कर दिया है—

> अपरिक्षतकोमलस्य यावत्कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन।
> अधरस्य पिपासता मया ते सदयं सुन्दरि गृह्यते रसोऽस्य॥—अभि १।२१

रति की परिसमाप्ति भी चुम्बन से ही होती थी[2]।

---

१ मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरंगाधरदानदक्षः।
अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धूः॥—रघु १९।९

२. कण्ठसक्तमृदुबाहुबन्धनं न्यस्तपादतलमग्रपादयोः।
प्रार्थयन्त शयनोत्थितं प्रियास्तं निशात्ययविसर्गचुम्बनम्॥—रघु १९।२९

आधार ग्रन्थों की तालिका

१ ऋग्वेद तथा अन्य वेद
२ शतपथ ब्राह्मण
३ ऐतरेय ब्राह्मण
४ शांखायन ब्राह्मण शांखायन गृह्यसूत्र
५ तैत्तिरीय संहिता तैत्तिरीय ब्राह्मण
६ कठोपनिषद्
७ छान्दोग्य उपनिषद्
८ बृहदारण्यक (उपनिषद्)
९ आपस्तम्ब धर्मसूत्र
१० बौधायन धर्मसूत्र बौधायन गृह्यसूत्र
११ गौतम धर्मसूत्र गृह्यसूत्र
१२ वसिष्ठ धर्मसूत्र
१३ शौनक कारिका
१४ पारस्कर गृह्यसूत्र
१५ आश्वलायन गृह्यसूत्र
१६ ब्रह्मसूत्र (वेदान्त) जैमिनि के सूत्र
१७ कामसूत्र
१८ मनुस्मृति
१९ याज्ञवल्क्य स्मृति
२० पाणिनि कृत अष्टाध्यायी
२१ शबर तथा कैयट के महाभाष्य
२२ रामायण भगवद्गीता
२३ कादम्बरी—बाण
२४ हर्षचरित—बाण
२५ उत्तररामचरित
२६ राजतरंगिणी
२७ नाट्यशास्त्र
२८ स्वप्नवासवदत्ता
२९ शिशुपालवध
३० नागानन्द
३१ संगीत रत्नाकर
३२ संगीतदामोदर
३३ कौटिल्य का अर्थशास्त्र
३४ अमर कोष
३५ काव्य मीमांसा राजशेखर
३६ अभिज्ञानशाकुन्तल
३७ विक्रमोर्वशीय
३८ मालविकाग्निमित्र
३९ रघुवंश
४० कुमारसम्भव (प्रथम सर्ग ८)
४१ मेघदूत
४२ ऋतुसंहार (कालिदास ग्रन्थावली द्वितीय संस्करण सीताराम चतुर्वेदी)
४३ मल्लिनाथ की टीका —रघुवंश कुमारसम्भव और मेघदूत
४४ कालिदास वी वी मिराशी
४५ कालिदास हिलेब्रान्ट
४६ कालिदास दे

४७ कालिदास अरविन्द
४८ कालिदास माला
४९. कालिदास रामस्वामी शास्त्री (दोनों भाग)
५० कालिदास एस एम भावे
५१ कालिदास चन्द्रबली पाण्डे
५२ दि बर्थ प्लेस आफ कालिदास लक्ष्मीधर कल्ला
५३ दि डेट आफ कालिदास के सी चट्टोपाध्याय
५४ इण्डिया इन कालिदास बी एस उपाध्याय
५५. मेघदूत एक अध्ययन वासुदेवशरण अग्रवाल
५६. कला और संस्कृति वासुदेवशरण अग्रवाल
५७ हर्षचरित —एक सांस्कृतिक अध्ययन वासुदेवशरण अग्रवाल
५८. प्राचीन वेशभूषा डा मोतीचन्द्र
५९ प्रकृति और काव्य डा रघुवंश
६० हिन्दू संस्कार राजबली पाण्डेय
६१ आर्य संस्कृति के मूलाधार आचार्य बलदेव उपाध्याय
६२ कल्याण (संस्कृति अंक)
६३. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी डा सुनीतिकुमार चटर्जी
६४ प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास डा रांगेय राघव
६५. A History of Sanskrit Literature A. B. Keith
६६. A History of Indian Literature M. Winternitz
६७ A History of Classical Literature M. Krishnamachari
६८ History of Dharm Shastra P V Kane
६९. Cambridge History of India Vol. I Ancient India
७० Hindu Civilization R. K. Mukerjee
७१ Social Life in Ancient India H. C. Chakladar
७२ Corporate Life in Ancient India R. C. Majumdar
७३ Education in Ancient India Dr A. S. Altekar
७४ Imperial Age of Unity of India
७५ *India as known to Panini* V S Agarwal
७६ Gupta Art : V S. Agarwal (1947)
७७ Notes Towards the Definition of Culture T S. Eliot
७८. Culture and Society G S. Ghurye, Ph. D (Cantab)

७६. Culture and Society Merril & Eldredge
८. India's Culture through the Ages Mohan Lal Vidyarthi
८१ Glories of India on Indian Culture and Civilization Mahamahopadhyaya Dr Prasanna Kumar Acharya
८२ Kulpati's Letter LXIII
८३ Annals of Bhandarkar Research Institute Vol. VII; XXV
८४ Indian Antiquary Vol. XXXIX
८५ Mythic Society Vol. IX
८६ U P Historical Society Vol. XXII Part I & II (1949) Vol. XIV (1941)
८७ Journal of the Royal Asiatic Society 1903 1904 1909
८८ Annals Oriental Research University Madras, Vol. V (1940-1941)